श्रीः

काश्मीर-शैव-दर्शन

सम्पादकः डॉ० जी० गङ्गन्ना

सह सम्पादकः डॉ० यशःपाल खजूरिया

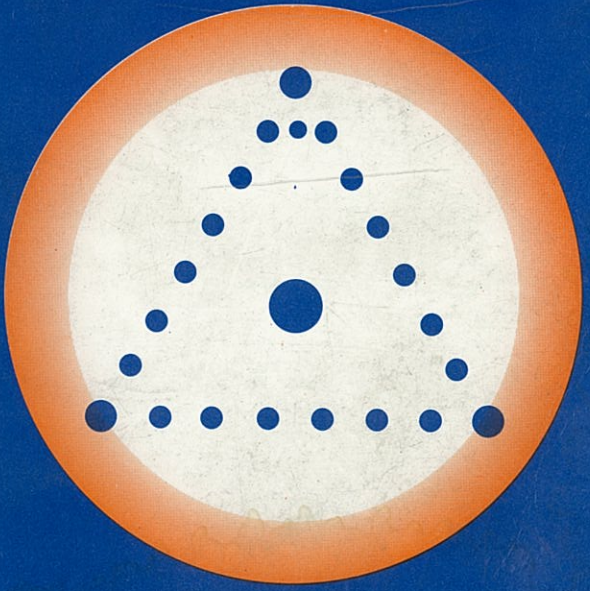

बलजिन्नाथ पण्डित, शास्त्री;

श्रीः

काश्मीर-शैव-दर्शन

बलजिन्नाथ पण्डित, शास्त्री,

एम.ए., एम.ओ.एल., पी-एच.डी.

प्रकाशक

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)

श्री रणवीर परिसर, ३०४-ए, शास्त्री नगर,

जम्मू-१८०००४

Śrī
KĀŚMĪRA ŚAIVA DARŚANA

B.N.PANDIT, SHASTRI
M.A., M.O.L., Ph.D

Published by
Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University)
Shri Ranbir Campus, 304-A,
Shastri Nagar, Jammu

©राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय)
श्री रणवीर परिसर, ३०४-ए, शास्त्री नगर,
जम्मू-१८०००४

द्वितीय संस्करण : २००५
मूल्य रु० 130.00

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
श्री रणवीर परिसर, द्वारा प्रकाशित तथा ठाकुर प्रकाशक
474-ए, गान्धि नगर जम्मू द्वारा मुद्रित।

विषय सूची

क्रम०		विषय	पृष्ठ
	परिचय		११–१६
१.	१.	भारत के दर्शन	११
	२.	आगमिक शैव दर्शन	१३
	३.	पराद्वैत दर्शन	१४
	४.	शैव दर्शन की अति प्राचीनता	१६
	५.	अभिनव–विकास	१७
	६.	कश्मीर से सम्बन्ध	१७
	७.	त्रिक–शास्त्र	१८
२.	मूलस्रोत		२०–३१
	१.	प्रागैतिहासिक शैव धर्म	२०
	२.	वेदों में शैव धर्म	२२
	३.	इतिहास पुराणों में	२२
	४.	शैव धर्म का व्यापक प्रभाव	२३
	५.	अभिनव आविर्भाव	२४
	६.	वेदान्त और शैव अद्वैत	२७
३.	विकास		३२–४२
	१.	आगम शास्त्र	३३
	२.	शिव सूत्र	३४
	३.	स्पन्दकारिका	३५
	४.	सोमानन्द	३६
	५.	उत्पलदेव	३७
	६.	अभिनवगुप्त	३६
	७.	अन्य लेखक	४०
४.	अन्य दर्शन		४३–६२
	१.	दर्शन–भेद	४३
	२.	स्वर्गवाद	४६
	३.	आरम्भवाद	४७

४.	परिणामवाद	४८
५.	आभासवाद	५१
६.	विवर्त्तवाद	५७
७.	वैकुण्ठवाद	६०
५. स्वातन्त्र्य सिद्धान्त		६३–८१
१.	प्रकाश और विमर्श	६३
२.	परिपूर्णता	६६
३.	सत्कार्यवाद	६८
४.	शिव और शक्ति	६९
५.	स्वातन्त्र्य	७२
६.	स्पन्द	७७
७.	परमेश्वरता	७९
६. स्पन्द सिद्धान्त		८२–९२
१.	क्रियाशक्ति की महिमा	८२
२.	तीन भूमिकाओं का आविर्भाव	८४
३.	सङ्कोच और विकास	८६
४.	उपयोगितावाद	८७
५.	पराद्वैत सिद्धान्त	९१
७. विशुद्ध सृष्टि		९३–१०२
१.	शिव और शक्ति	९३
२.	सदाशिव और ईश्वर	९३
३.	शुद्धविद्या	९७
४.	शुद्ध–अध्वा	१००
८. अशुद्ध सृष्टि		१०३–१२३
१.	माया	१०३
२.	कञ्चुक तत्त्व	१०६
३.	काल निरूपण	१०९
४.	पुरुष और प्रकृति	११२
५.	तीन गुण	११३
६.	श्रीकण्ठनाथ	११६

७. उमापतिनाथ ११७
८. अनन्तनाथ ११७
९. वेदान्त में तीन गुण ११८
१०. तीन गुण और तीन अवस्थाएँ ११९
९. गुणमयी सृष्टि १२४—१३५
१. अन्तःकरण १२४
२. बाह्यकरण १२८
३. प्रमेय तत्त्व १३०
४. लोक सृष्टि १३१
५. कला पञ्चक १३३
६. अण्ड चतुष्टय १३३
१०. प्रमातृ वर्ग १३६—१५०
१. मल स्वरूप १३६
२. मल त्रय १३८
३. अकल प्रमाता १४०
४. मन्त्र महेश्वर १४१
५. मन्त्रेश्वर १४१
६. मन्त्र/विद्येश्वर १४४
७. विज्ञानाकल १४६
८. प्रलयाकल १४८
९. सकल १५०
११. बन्धन और मुक्ति १५१—१७१
१. लीला–विलास १५२
२. अज्ञान १५५
३. ज्ञान १५७
४. जीवन्मुक्ति १५८
५. मुक्तशिव १६०
६. देहस्थ शिव १६१
७. विदेह मुक्ति १६२
८. शक्तिपात १६२

९.	सौषुप्त मुक्ति	१६५
१०.	मुक्ति का आभास	१६७
१२. शैव धर्म		१७२—१८५
१.	बाह्य पूजा	१७३
२.	साधना	१७४
३.	भक्ति,समावेश	१७७
४.	चर्या	१७९
५.	आचारभेद	१८१
१३. शैवी साधना		१८६—२१२
१.	समावेश	१८६
२.	अनुपाय	१८७
३.	शाम्भव—उपाय / इच्छायोग	१८८
४.	मातृका	१९०
५.	मालिनी	१९२
६.	शाक्त—उपाय / ज्ञानयोग	१९५
७.	आणव—उपाय / क्रिया योग	१९६
८.	ध्यान—योग	२००
९.	उच्चार—योग	२०२
१०.	करण योग	२०५
११.	ध्वनि योग	२०५
१२.	स्थानकल्पना	२०६
१३.	षडध्व—धारणा	२०७
१४.	नया मार्ग	२१०
१५.	दीक्षा	२१०
१६.	योग	२११
१४. शाक्त दृष्टि		२१३—२२६
१.	शैव और शाक्त	२१३
२.	शाक्त दृष्टि	२१५
३.	पांच शक्तियाँ	२१६
४.	विद्या	२१९

५. माया २२०
६. महामाया आदि २२१
७. द्वादशकाली २२२
८. अघोर,घोर और घोरतर शक्तियाँ २२३
९. करणेश्वरी–चक्र २२५
१५. उपसंहार २२७–२३८
१. दर्शन भेद २२७
२. दर्शन समन्वय २२७
३. रहस्यों का स्पष्टीकरण २२९
४. सनातन सिद्धान्त २३०
५. सदुपयोग २३१
६. वर्तमान स्थिति २३३
आधार ग्रन्थ सूची २३९–२४२
पारिभाषिक शब्दकोश २४३–२६६

प्रास्ताविक

इस संसार में भारतवर्ष भगवत्कृपा से सदा से ही दैवी सम्पदा का पात्र बना रहा है। भारत की वर्तमान दुर्दशा एक शीघ्र ही बदल जाने वाली अस्थायी अवस्था है। इस दुर्दशा की अवस्था में भी इसी देश में परमहंस रामकृष्ण और महर्षि रमण जैसे आध्यात्मिक क्षेत्र में सिद्धिसम्पन्न महापुरुष प्रकट होते रहे। प्राचीन काल में तो यह देश अध्यात्म विद्या का एक महान् केन्द्र ही बना रहा। अति प्राचीन युग में भारत के ऋषियों की अध्यात्म विद्या के रहस्य सिद्धान्त और उनके प्रयोग गुरुओं ओर शिष्यों की परम्पराओं में अविच्छिन्न गति से चलते रहे। उन सिद्धान्तों को प्रायः लिखा नहीं जाता था। उपदेशों के ही द्वारा कहा जाता था। जन–साधारण के द्वारा अभ्यास करने के योग्य धर्मों को ही लिखा जाता था। अतः वेद आदि शास्त्रों में अध्यात्म विद्या विशेषतया स्फुट नहीं होने पायी। उपनिषदों में भी इसे स्फुट शब्दों में न कहकर रहस्यमयी भाषा में ही प्रकट किया गया। वह युग श्रद्धा का युग था। शिष्य श्रद्धापूर्वक गुरुओं के उपदेशों को ग्रहण करके और तदनुसार स्वयं अभ्यास करके दर्शनविद्या के तत्त्वों का साक्षात् अनुभव करते थे। अतः इस विद्या को पुस्तकों में स्पष्टतया लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

बौद्ध युग में श्रद्धा का स्थान बुद्धि ने ग्रहण किया। अतः तर्क–वितर्क की और युक्तियों की प्रधानता ने श्रद्धा को पीछे धकेल दिया। इसलिए बौद्ध गुरुओं ने अपनी अध्यात्म विद्या को तर्क की युक्तियों के आधार पर स्पष्ट करने के यत्न किए। तदनुसार तर्क–प्रधान दर्शन–ग्रन्थों का निर्माण होने लगा। बौद्ध गुरु अनीश्वरवादी थे। उनके अनीश्वरवाद की युक्तियों को तोड़ने के लिए निगमों और आगमों पर विश्वास रखने वाले हमारे पूर्वजों ने भी उन निगमों और आगमों के सिद्धान्तों के अनुसार ही तर्क की युक्तियों के द्वारा अपनी ईश्वरवादी अध्यात्म विद्या का प्रचार करने के लिए उसे ग्रन्थबद्ध करना आरम्भ किया। उसके फलस्वरूप वैदिक षड्दर्शनों का और आगमिक वैष्णव और

शैव दर्शनों का विकास होता गया। तर्क का आश्रय पहले–पहल बौद्धों ने ही लिया ओर वेदवादियों ने इस विषय में उनका अनुकरण ही किया। अतः तार्किक वाद–विवादों के विकास की इस होड़ में प्रथमतः बौद्ध ही प्रायः अग्रसर रहे। आगे आ० शङ्कर जैसे महापुरुषों ने बौद्धों के तर्कों का युक्तियुक्त उत्तर देने का यत्न किया। परन्तु बौद्धों की विचारधाराओं का आंशिक प्रभाव उनकी युक्तियों में भी समाया रहा। इसी कारण उन्हें वैष्णवों ने प्रच्छन्न बौद्ध कहा। इस होड़ में ही आगे काश्मीर शैव दर्शन के आचार्य श्री सोमानन्द, उत्पलदेव ओर अभिनवगुप्त ने भाग लेकर बौद्धवाद को सदा के लिए परास्त करके रख दिया।

काश्मीर शैव दर्शन के ये तीनों ही आचार्य एक ओर से सर्वशास्त्रज्ञ विद्वान् थे, दूसरी ओर से ये आध्यात्मिक क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में अनुभूति से सम्पन्न थे और तीसरी ओर से ये दीर्घजीवी थे । अतः सुपरिपक्व अवस्था में पहुंचकर इन्होंने परम योग्यता से दार्शनिक पहेलियों पर विचार किया और उसी योग्यता से अपने उन विचारों को ठीक से अभिव्यक्त किया। ये तीनों आचार्य एक दूसरे के अनन्तर ही प्रकट हुए और इनके बीच में किसी अर्द्ध–शिक्षिता या अनुभवहीन या अल्पश्रुत लेखक का हाथ इस कार्य में नहीं पड़ा। इन आचार्यों के सामने समस्त ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी तर्कों की परम्पराएँ विद्यमान थीं। अतः ये आचार्य उन सभी तर्कों की युक्तियों के औचित्य और अनौचित्य पर अच्छी तरह से विचार करके ही इस तरह से आस्तिक दर्शन–विद्या को प्रकट कर सके कि उसमें किसी भी प्रकार का तर्क–दोष नहीं आने पाया। बहुश्रुत होने के कारण और सुविशाल दृष्टिकोण का आश्रय लेने के कारण ये आचार्य भारत की समस्त दर्शन–विद्याओं पर समन्वयात्मक विचार भी कर सके और जीवन के व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का भी परस्पर समन्वय कर सके।

एकमात्र भगवद्गीता को छोड़कर भारत के प्राचीन दर्शन–शास्त्रों में से कोई भी शास्त्र जीवन के व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों के व्यापारों में परस्पर समन्वय नहीं कर सका। हमारे पूर्वज बहुत ऊँचे अध्यात्म सिद्धान्तों पर विचार करते रहे। परन्तु प्रायः उन्हें प्रयोग में नहीं ला सके। उन्हें प्रयोग में लाना किसी विरले ही महापुरुष का काम होता है। जन–साधारण का यह काम नहीं होता। तो जन–साधारण में जगत् के मिथ्यात्व के प्रचार ने भारतवासियों को न तो इधर का ही रखा और न उधर का ही।

भगवद्गीता की अनेक टीकाओं ने भी जन–साधारण की दृष्टि से उसके समन्वय–सिद्धान्त को प्रयोग में लाने के ढंग को ओझल ही करके रखा। वह समन्वय–सिद्धान्त अन्ततोगत्वा काश्मीर शैव दर्शन में ही स्पष्टतया प्रकट हो गया और उसको प्रयोग में लाने के ढंग पर भी उसी शास्त्र में काफी स्पष्टीकरण हो गया । शैव दर्शन ने भुक्ति और मुक्ति इन दोनों ही प्रयोजनों को साथ–साथ प्राप्त करने के ढंग को सिखा दिया। वेदान्त आदि दर्शनों के वाङ्मय में उन दर्शनों के प्रयोगात्मक पक्ष पर विशेष स्पष्टीकरण नहीं होने पाया । परन्तु काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्त–पक्ष और प्रयोग–पक्ष दोनों ही सुस्पष्ट ढंग से अभिव्यक्त हुए। फिर व्यवहार और परमार्थ के समन्वय की जो दृष्टि इस शास्त्र में अभिव्यक्त हुई, असका आश्रय लेने से यह शास्त्र हमारे राजनैतिक सिद्धान्तों और प्रयोगों का भी आधार बन सकता है । इस तरह से इसका आश्रय लेकर हम लौकिक सुख, पारलौकिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस इन तीनों प्रयोजनों को प्राप्त करने में अग्रसर हो सकते हैं।

काश्मीर शैव दर्शन एक सुविकसित दर्शन–विद्या तो है, परन्तु इसका वह विकास संस्कृत भाषा के ही माध्यम से हुआ है। वर्तमान युग में भारत में साधारण संस्कृतज्ञों की संख्या बहुत थोड़ी है, और शैव दर्शन के उन ग्रन्थों को समझ सकने वाले विद्वानों को तो अंगुलियों पर ही गिना जा सकता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस दर्शन के सिद्धान्तों को हिन्दी और अंग्रेज़ी में अभिव्यक्त किया जाए। हिन्दी में इस शास्त्र पर अभी तक कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा नहीं गया है। अंग्रेज़ी में दो–तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे तो गए हैं, परन्तु उन ग्रन्थों के द्वारा इस दर्शन के सिद्धान्तों का पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं होने पाया है । फिर उनमें शैव दर्शन के पराद्वैत सिद्धान्त को आ० शङ्कर के अद्वैत वेदान्त के साथ उलझा कर ही प्रकट किया गया है। अंग्रेज़ी में कुछ–एक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। परन्तु उनसे भी उक्त प्रयोजन की पर्याप्त पूर्ति नहीं हो रही है । प्रायः वे अनुवाद शैव–शास्त्र की छोटी–छोटी और अप्रधान पुस्तकों के ही हुए हैं। उन पुस्तकों के द्वारा इस शास्त्र के सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का जो अंग्रेज़ी अनुवाद डा. पाण्डेय ने लिखा है, उसे ठीक तरह से समझना कोई सुगम कार्य नहीं। अतः इससे भी पाठक को विशेष लाभ नहीं हो सकता।

हिन्दी अनुवाद 'शिवस्तोत्रावली' का और 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' का हो चुका है। ये दोनों ग्रन्थ इस शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों में गिने नहीं जाते।

इधर से श्री जयशङ्कर प्रसाद की कविता ने हिन्दी जगत् में काश्मीर शैव दर्शन के प्रति पर्याप्त जिज्ञासा को उत्पन्न कर दिया है। इस कारण हिन्दी भाषा में इस शास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने की परम आवश्यकता है। उसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए वर्तमान ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है। शैव शास्त्र के सिद्धान्तों को स्पष्ट कर देने के कार्य में ग्रन्थ लेखक ने अपने विचारों का आश्रय नहीं लिया है। यत्न इसी बात का किया जा रहा है कि उन सिद्धान्तों को उसी रूप में प्रकट किया जाए, जिस रूप में उन्हें इस शास्त्र के आचार्यों ने समझा है और अभिव्यक्त किया है। इसीलिए स्थान–स्थान पर उन आचार्यों के ग्रन्थों से उद्धरण लेकर पृष्ठों के नीचे दिए जा रहे हैं। ऐसा करते हुए काश्मीर शैव दर्शन के आगम ग्रन्थों का और प्रधान आचार्यों के ग्रन्थों का ही आश्रय अधिकांश में लिया जा रहा है। छोटे–मोटे आचार्यों के ग्रन्थों के उद्धरण प्रायः नही दिए जा रहे हैं। कारण यह है कि छोटे–मोटे आचार्य प्रायः अर्थ का अनर्थ भी कर देते हैं। वे बहुत बार यथार्थ बात को समझने का यत्न नहीं करते हैं। जहाँ शब्द का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आता, वहाँ या तो पाठ को ही बदल देते हैं, या मनमाना अर्थ करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख आचार्य तो तीन ही हैं–– (१) आ० सोमानन्द, (२) आ० उत्पलदेव और (३) आ० अभिनवगुप्त। इनके अतिरिक्त (४) आ० वसुगुप्त और (५) आ० भट्ट कल्लट भी सर्वथा प्रामाणिक ही हैं। आगम शास्त्रों में ––(१) मालिनीविजय तन्त्र, (२) स्वच्छन्द तन्त्र, (३) विज्ञान–भैरव आगम, (४) परात्रीशिका–आगम और (५) शिवसूत्र आगम, ये ही प्रधान आगम हैं। अतः प्रमाण के रूप में इन्हीं आगमों में से और उपरोक्त प्रमुख आचार्यों के विविध ग्रन्थों से ही अधिकांश उद्धरण दिए जा रहे हैं। कहीं–कहीं उन आचार्यों के ग्रन्थों के टीकाकारों के विचारों का भी आश्रय लिया जा रहा है। यही नीति वेदान्त, सांख्य, योग आदि अन्य शास्त्रों के विषय में भी बरती जा रही है। इन उद्धृत शास्त्र वाक्यों को समझकर पढ़ने से एक तो इस ग्रन्थ में प्रकट किए हुए विचारों की यथार्थता और प्रामाणिकता सिद्ध होगी और दूसरे पाठकों को भी मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने के प्रति प्रेरणा मिलेगी। इन वाक्यों के उद्धरणों से यह ग्रन्थ शोध कार्य में लगे हुए छात्रों के लिए विशेष उपयोगी बनेगा।

कहीं–कहीं इस पुस्तक में किसी–किसी बात के विषय में पुनरुक्तियाँ आती हैं, उन पुनरुक्तियों का यह प्रयोजन है कि वे बातें पाठकों के मस्तिष्क पर ठीक तरह से अङ्कित हो जाएं। शैव शास्त्र के प्रयोगात्मक पक्ष पर उतना ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है जितना उचित है आ० अभिनवगुप्त ने कहा है कि उन्हें अपने गुरुओं ने यह आदेश दिया है "प्रयोग पक्ष की अतिरहस्यमयी बातों को सर्वथा छिपाकर भी नहीं रखना चाहिए और एक ही स्थान पर उनका अधिक स्पष्टीकरण भी नहीं करना चाहिए ।" साधना की रहस्यमयी प्रक्रियाएँ गुरुओं के साक्षात् उपदेशों से ही जानी जाएं, तो तभी लाभप्रद हो सकती हैं। पुस्तकों से पढ़ने से उनका उचित स्पष्टीकरण नहीं हो सकता है। फिर भी शब्दों के द्वारा जितना स्पष्टीकरण सम्भव है और उचित है, उतना इस ग्रन्थ में किया जा रहा है। तदनुसार इस प्रयोगात्मक पक्ष का अभ्यास किया जा सकता है। जिन प्रक्रियाओं के इस तरह से अभ्यास करने में कोई हानि नहीं होगी, उनका स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ में तथा इसमें उद्धृत वाक्यों में पर्याप्त मात्रा में हो सकता है।

काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों को ठीक तरह से समझने के लिए भारतीय दर्शन विद्या की अन्य शाखाओं के सिद्धान्तों को भी समझना आवश्यक होता है, क्योंकि इस शास्त्र में दार्शनिक पहेलियों पर समन्वयात्मकतया विचार किया गया है। अतः वर्तमान ग्रन्थ में स्थान–स्थान पर अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण किया जा रहा है और वह उन दर्शनों के प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर ही किया जा रहा है। इसीलिए उन ग्रन्थों से भी वाक्य उद्धृत करके पृष्ठों के नीचे दिए जा रहे हैं।

वर्तमान युग में विशालकाय ग्रन्थों को प्रकाशित करना एक बड़ी समस्या बनती है। फिर पाठकों के पास इतना समय भी नहीं होता है कि विशालकाय ग्रन्थ को पढ़ें। अतः इस ग्रन्थ को संक्षेप मे ही लिखा जा रहा है। वैसा करने से और संस्कृतबहुल भाषा के प्रयोग से ग्रन्थ जरा भर दुरूह बन रहा है। परन्तु दो–तीन बार पढ़ने से समझ में आ सकता है। दर्शन तो विषय ही ऐसा होता है कि दो– तीन बार पढ़े बिना बुद्धि में बैठता ही नहीं। अतः पाठक महानुभव इसे सावधानी से दो–तीन बार अवश्य पढ़ लेवें। ग्रन्थकार को पूरी आशा है कि वैसा करने पर पाठक महानुभाव अवश्य ही संतुष्ट हो जाएंगे। पाठकों को अधिक आयास से बचाने के लिए पुस्तक के अन्त में एक पारिभाषिक शब्दों का शब्दकोश भी दिया जा रहा है।

काश्मीर शैव दर्शन भारतवर्ष की एक अमूल्य निधि है। कश्मीर के ब्राह्मणों ने अपने प्राणों की तरह इस निधि की रक्षा उस युग में भी की,जिस युग में उन्हें कश्मीर देश को छोड़कर और शरणार्थी बनकर जगह–जगह भटकना पड़ा था। इस निधि की सुरक्षा के लिए, हिन्दी वाङ्मय की सेवा के लिए और हिन्दी जगत् के उपकार के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है। आशा है इस ग्रन्थ से ये तीनों प्रयोजन पर्याप्त मात्रा में सिद्ध होंगे।

प्रचलित अयथार्थ मान्यताएँ

वर्तमान युग के लेखकों के ग्रन्थों और लेखों के आधार पर काश्मीर शैव दर्शन के विषय में अनेकों अयथार्थ मान्यताएं चल पड़ी हैं। उनमें से कुछ–एक का उल्लेख नीचे किया जा रहा है:–

१. वर्तमान युग के लेखक काश्मीर शैव दर्शन को तीन सम्प्रदायों में अर्थात् तीन Schools में विभक्त करते हैं। तदनुसार (१) आगम शास्त्र को, (२) स्पन्द शास्त्र को और (३) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र को इस दर्शनविद्या के तीन भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के रूप में ठहराया जाता है। परन्तु शैव दर्शन के सिद्धान्तों का ठीक–ठीक विमर्श करने से यह सिद्ध होता है कि (१) आगम शास्त्र शैव दर्शन के वैसे ही स्त्रोत हैं जैसे वेदान्त दर्शन के स्त्रोत उपनिषद् हैं। (२) स्पन्द शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र दो भिन्न–भिन्न सम्प्रदाय (Schools) न होकर एक ही School के वाङ्मय के दो अङ्ग हैं। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में इस दर्शन के समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन नैयायिकों की दार्शनिक शैली के अनुसार किया गया है और साधना–पक्ष की ओर संक्षिप्त निर्देशमात्र ही किए गए हैं। स्पन्द शास्त्र में विशेषतया साधना के पक्ष का ही निरूपण किया गया है और सिद्धान्तों की ओर निर्देश मात्र किये गये हैं। अतः दोनों ही शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं और एक ही School के दो अङ्ग हैं। भिन्न–भिन्न School में सिद्धान्तो के विषय में परस्पर भेद का होना आवश्यक होता है। अब तो कुछ–एक लेखक महानुभाव क्रम नामक एक और School को भी ठहराने लगे हैं। परन्तु ऐसा करना न्यायसङ्गत नहीं है।

२. सारे के सारे काश्मीर शैव दर्शन को कुछ एक विद्वानों ने त्रिक दर्शन नाम दे रखा है। त्रिक शास्त्र काश्मीर शैव दर्शन के प्रयोग–पक्ष अर्थात् साधनापक्ष का एक मुख्य अङ्ग तो है, परन्तु उसे अङ्गी बनाकर प्रस्तुत करना अन्याय है। इस दर्शन के प्राचीन नाम दो ही हैं–(१) अद्वैत शैव दर्शन, और (२) त्र्यम्बक शैव दर्शन। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में इसे प्रत्यभिज्ञा–दर्शन नाम दिया है। इस दर्शन का आविर्भाव और विकास कश्मीर मण्डल में ही हुआ। अतः इसे काश्मीर शैव दर्शन कहा जा सकता है।

३. अनेक विद्वानों ने काश्मीर शैव दर्शन के मूल सिद्धान्त को 'आभासवाद' कहा है परन्तु जैसा कि ग्रन्थ के प्रकरणों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन

किया गया है, इस दर्शन का मुख्य सिद्धान्त 'स्वातन्त्र्य' है, ' आभास' नहीं है। इस दर्शन में समस्त आभासों का आश्रय परमेश्वर के स्वातन्त्र्य को ही माना गया है। फिर वह स्वातन्त्र्य कोई -वाद नहीं। वह तो वस्तुस्थिति कथन है। अतः उसे सिद्धान्त कहना अधिक उपयुक्त है। आभासवाद मायावाद को, विज्ञानवाद को और शून्यवाद को कहा जा सकता है। काश्मीर शैव दर्शन के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त को पारमैश्वर्य सिद्धान्त भी कहा जा सकता है।

४ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के अन्त में शैव साधना के मार्ग को अभिनव और सुघट मार्ग "सुघट एष मार्गो नवः" कहा गया है। वर्तमान युग के अनेक विद्वान् उस मार्ग को बुद्धि के स्तर पर होने वाले यथार्थ ज्ञान का मार्ग ठहराते हैं। परन्तु तन्त्रालोक के अनुसार बुद्धि में अभिव्यक्त हुए यथार्थ सिद्धान्त की साक्षात् अनुभूति के लिए साधना की भी आवश्यकता होती है। वहां शाम्भव आदि तीन प्रकार के उपायों के द्वारा होने वाले शिवता के समावेश के अभ्यास को सशैवी साधना का मुख्य अङ्ग माना गया है। समावेश का वह अभ्यास ही सुघट मार्ग है, क्योंकि कठोर तपस्याओं के तथा पातञ्जल योग के निरोधप्रधान साधना–मार्गों से वह मार्ग अतीव सुघट है। उन्हीं चिरप्रचलित मार्गों की उपेक्षा उसे अभिनव मार्ग कहा गया है। प्रत्यभिज्ञाकार के अपने शब्दों के अनुसार वह अभिनव मार्ग वही है, जिसका निरूपण आ० सोमानन्द ने अपनी शिवदृष्टि में किया है–" महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।" शिवदृष्टि के अन्तिम आह्निक में त्रिक प्रक्रिया के शाम्भव, शाक्त और आणव उपायो की साधना के अनेकों प्रकारों का ही निरूपण किया गया है, केवल बुद्धि के स्तर पर होने वाले ज्ञान का नहीं।

५. अनेक विद्वान शैवी साधना को भोग बहुल ठहराने का यत्न करते हैं। परन्तु तन्त्रालोक में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है चर्या नामक साधना विषयों के भोग से नहीं की जाती है। वह तो स्वचित्त–परीक्षण के अभ्यास के द्वारा की जाती है। उसमें इस बात का परीक्षण करना होता है कि क्या साधक का चित्त सचमुच स्थिर हो गया है या अभी नहीं। वह परीक्षा विषयों के संसर्ग से ही की जा सकती है, विषयों से सर्वथा दूर रहने से नहीं। आगम शास्त्रों के ये शब्द इस विषय में अतीव स्पष्ट हैं–

"न चर्या भोगतः प्रोक्ता या ख्याता भीम–रूपिणी।
स्वचित्त प्रत्यवेक्षातः चलं किं वा स्थिरं मनः।।"

(तं. आ. खं. ३ पृ०२६६)

६. वर्तमान युग के लेखक शिव की शक्तियों का विश्लेषण पहले तो (१) ज्ञातृत्वशक्ति (२) और कर्तृत्व शक्ति में कर रहे हैं और फिर इन दो में से पहली शक्ति का (१) ज्ञान, (२) स्मृति और (३) अपोहन इन तीन में और दूसरी का (१) क्रिया और (२) काल इन दो शक्तियों में कर रहे हैं। यह प्रक्रिया उनकी मनमानी प्रक्रिया है। शैव दर्शन के समस्त ग्रन्थों में शिव की पराशक्ति का विकास ही समस्त प्रपञ्च को माना गया है और उस विकास की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में उस पराशक्ति को भिन्न–भिनन नाम दिए गए हैं। उनमें से पांच भूमिकाओं को प्रधानता दी गई है। अतः शिव की पांच शक्तियां ही उसकी मुख्य शक्तियां मानी गई हैं वह पांच शक्तियां ये होती हैं–

(१) चित् शक्ति, (२) आनन्द शक्ति या निर्वृति शक्ति, (३) इच्छा शक्ति,(४) ज्ञान शक्ति और (५) क्रिया शक्ति। ज्ञान, स्मृति और अपोहन तो शिव की वह अवान्तर शक्तियाँ हैं जिनके आधार पर संसार का व्यवहार चलता रहता है।

७. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी नामक टीका के अनुसार अपोहननाम की शक्ति शिव की वह स्वभावभूति शक्ति होती है जिसके कारण वह अपने एकमात्र और अभिन्न तथा परिपूर्ण और असीम स्वरूप के भीतर ही अपनी ही इच्छा से सीमितता का, अपूर्णता का तथा भेद का और अनेकता का आभास करने के प्रति सदैव उन्मुख बना रहता है। अतः अपोहन शक्ति को आवरण शक्ति कहना न्याय नहीं। आवरण शक्ति तो माया शक्ति होती है।

८. अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत शैव शास्त्रों का प्रवर्तन कलियुग में तीन सिद्ध पुरूषों के द्वारा हुआ है, ऐसा शैव शास्त्रों में कहा गया है। उनमें से अद्वैत शास्त्र को त्र्यम्बकादित्य ने, द्वैत को अमर्दक ने और द्वैताद्वैत को श्रीनाथ ने चलाया। इनमें से त्र्यम्बकादित्य भगवान् दुर्वासा के शिष्य थे, ऐसा सोमानन्द ने शिवदृष्टि में कहा है। शेष दो आचार्यों को किसने दीक्षा दी थी, इस विषय में हमें अभी तक कोई भी प्रमाण नहीं मिला। परन्तु वतर्मान युग के लेखक और कश्मीर के शैव आश्रमों के सदस्य ऐसा

मानते और कहते हैं कि अमर्दक और श्रीनाथ भी भगवान् दुर्वासा ही के शिष्य थे। उनका यह मानना और कहना कहां तक सत्य है, यह शिव ही जानते हैं।

९. वर्तमान युग के लेखक शिवसूत्र को काश्मीर शैव दर्शन का प्रथम दर्शन ग्रन्थ और वसुगुप्त को इस दर्शन का पहला आचार्य मानते हैं। परन्तु यह बात संशयरहित है कि वसुगुप्त से पहले भी अनेकों मठिका गुरू कश्मीर में प्रकट हुए जिन्होंने मालिनीविजय, स्वच्छन्द आदि आगम शास्त्रों को प्रकट किया। वसुगुप्त तो उन आगमों के प्रकाशक गुरूओं में से अन्तिम गुरु हैं। शिवसूत्र एक आगम शास्त्र है। यह कोई दार्शनिक शैली का शास्त्र नहीं है। इस शैव शास्त्र के वाङ्मय में दार्शनिक शैली का सबसे पहला शास्त्र सोमानन्द की शिवदृष्टि ही है।

१०. सोमानन्द अपने पिता आनन्दाचार्य के शिष्य हैं। अतः उन्हें बिना प्रमाण के ही वसुगुप्त का शिष्य कहना यथार्थ नहीं।

११. कञ्चुक तत्त्व, तीन मल, तीन गुण, चार अवस्थाएँ, चार प्रकार की वाणी और "प्रकाश" इन विषयों का स्पष्टीकरण वर्तमान लेखकों के ग्रन्थों और लेखों में यथार्थ रीति से नहीं होने पाया है। उससे पढ़ने वालों के मस्तिष्क में भ्रान्त धारणाएँ और संशयग्रस्त धारणाएँ बनती रहती हैं।

ग्रन्थ संकेत सूची

सङ्केत	ग्रन्थ का नाम
अ.प्र.सि.	–अजड प्रमातृसिद्धि।
अनु.अ.	–अनुत्तराष्टिका।
अनु.नि	–अनुभव–निवेदन–स्तोत्र।
अ.अनु.	–अपरोक्षानुभूति।
ई.प्र.	–ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा।
ई.प्र.वि.	–ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी।
ई.प्र.वि.वि.	–ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विवृत्ति–विमर्शिनी।
ई.सि.	–ईश्वरसिद्धि।
उ.सा.	–उपदेश साहस्री।
ऋ.वे.	–ऋग्वेद।
क.उप.	–कठोपनिषद्।
कु.सं.	–कुमारसम्भव।
गौ.पा.का	–गौडपाद–कारिका।
छा.उप	–छान्दोग्योपनिषद्
त. आ.	–तन्त्रालोक।
तं.आ.वि.	–तन्त्रालोक–विवेक।
तं. सा.	–तन्त्र–सार।
दे.ना.वि.	–देवीनाम–विलास।
नि.	–निरुक्त।
न्या.भा.	–न्यायभाष्य।
न्या.मं.	–न्यायमञ्जरी।
न्या.सू.	–न्यायसूत्र।
पं. द.	–पञ्चदशी।

सङ्केत	ग्रन्थ का नाम
प.त्रिं.	–परमार्चन–त्रिंशिका।
प.च.	–परमार्थचर्चा
प.सा.	–परमार्थ सार।
प.सा.टी.	–परमार्थ सार–टीका।
प.त्रीं.	–परात्रींशिका।
प.त्रीं.वि.	–परात्रीशिंका विवरण।
प्र.ना.	–प्रतिमा नाटका।
प्र.हृ.	–प्रत्यभिज्ञाहृदय।
बो.पं.	–बोधपञ्चदशिका।
ब्र.सू.शां.भा.	–ब्रह्मसूत्र–शाङ्करभाष्य।
भ.गी.	–भगवद्गीता।
म.वि.प्र.	–मत्तविलास–प्रहसन्।
म.वि.सू.	–मध्यान्त विभाग–सूत्र।
म.वि.सू.टी.	–मध्यान्त–विभाग–सूत्र–टीका।
म.या.वि.	–महायानविंशकम्।
मा.च.वि.	–मातृका–चक्र–विवेक।
मा.वि.तं.	–मालिनीविजय तन्त्र।
मा.वि.वा.	–मालिनीविजय वार्तिक।
यो.सू.	–योग सूत्र।
रा.त.	–राजतरङ्गिणी।
विं.शा.	–विंशतिका शास्त्र।
विं.शा.टी.	–विंशतिका शास्त्र–टीका।
वि.भै.	–विज्ञान–भैरव।
वि.भै.उद्.	–विज्ञान भैरवोद्द्योत।
वै.द.उ.	–वैशेषिकदर्शनोपस्कार।
शि.दृ.	–शिवदृष्टि।

सङ्केत	ग्रन्थ का नाम
शि.दृ.वृ.	–शिवदृष्टिवृत्ति।
शि.सू.	–शिवसूत्र।
शि.सू.वा.	–शिवसूत्र वार्तिक।
शि.सू.वि.	–शिवसूत्र विमर्शनी।
शि.स्तो.	–शिवस्तोत्रावलि।
श्वे.उ.	–श्वेताश्वतरोपनिषद्।
सं.नि.	–सम्बन्ध–सिद्धि।
स.द.सं.	–सर्वदर्शन संग्रह।
सां.का.	–सांख्य–कारिका।
सां.त.कौ.	–सांख्य–तत्त्व–कौमुदी।
सौं.नं.	–सौन्दरानन्द।
सौं.ल.	–सौन्दर्य–लहरी।
स्त.चिं.	–स्तवचिन्तामणि।
स्पं.का.	–स्पन्दकारिका।
स्व. तं.	–स्वच्छन्द तन्त्र।
स्व.उद्.	स्वच्छन्दोद्द्योत।

श्रीः

१

परिचय

संसारविषदग्धेभ्यः शास्त्रामृतसुवर्षिणे।
नमः श्रीशिवनाथाय गुरुमूर्तिधराय ते।।

भारतवर्ष दर्शनविद्या के लीला–विलास का क्रीडास्थल सदा से बना आया है। यहां अनादिकाल से ही अनेकों आध्यात्मिक दर्शनविद्याओं का विकास होता रहा है। भारत के उन दर्शनों को मुख्यतया दो विभागों में बांटा जा सकता है। वे दो विभाग हैं–१ वैदिक और २ अवैदिक। यहाँ के प्रसिद्ध षट् दर्शन वैदिक दर्शन हैं। क्योंकि उन छहों दर्शनों के सिद्धान्त वेदों और वैदिक उपनिषदों के आधार पर ठहराए गए हैं। उन सभी दर्शनों मे वैदिक वाङ्मय को अनपह्नवनीय और उत्कृष्टतम प्रमाण माना गया है। इसके विपरीत बौद्ध, जैन, आदि दर्शन निर्विवाद ही अवैदिक दर्शन हैं। क्योंकि इनके सिद्धान्त वैदिक आधार पर नहीं ठहराए गए हैं। इतना ही नहीं, ये दर्शन वेदों की प्रमाणता को स्वीकार न करते हुए वेदोक्त धर्म का विरोध भी करते हैं। अतः इन दर्शनों को वेदविरोधी दर्शन कहा जा सकता है दक्षिण भारत के प्राचीन पाशुपत दर्शन, शैव सिद्धान्त और शिवाद्वैत दर्शन मूलतः तान्त्रिक दर्शन हैं, क्योंकि तान्त्रिक आगमशास्त्रों तथा आगमिक सन्तों के भजनों और उपदेशों से ही प्रेरणाएँ लेते रहे हैं। परन्तु उन दर्शनों के कई एक आचार्यों ने वेदों के प्रभाव से प्रभावित होकर वेदों और तान्त्रिक आगमों को तुल्य रूप से प्रमाण माना है शिवाद्वैत के आचार्यों ने तो उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र पर अपने मत के अनुसार भाष्य लिख–लिख कर यह प्रमाणित करने का यत्न किया है कि वास्तविक वेदान्त विवर्त्तवाद नहीं, अपितु शैवसम्मत स्वातन्त्र्य सिद्धान्त ही है। तदनुसार जगत् इन्द्रजाल नहीं है,

अपितु शिव की लीला का विलास है। इस तरह से इन शैवों ने अपने – अपने दर्शन को वेदोक्त ठहराने का यत्न किया है। अतः इन दर्शनों को वैदिक वेश में प्रच्छन्न अवैदिक दर्शन कहा जा सकता है। दक्षिण के वीरशैव दर्शन का अर्वाचीन काल में विकास को प्राप्त हुआ स्वरूप बहुत अंशों में अवैदिक ही है। उस दर्शन के अनुयायी शैव सन्तों की वाणी को पञ्चम वेद कहते हैं । वे लोग वैदिक धर्म को प्रमाण नहीं मानते। हां , उनमें से भी किसी–किसी सन्त ने वेद के प्रति आदर का भाव अवश्य प्रकट किया है। अतः वीरशैव बौद्धों और जैनों के जैसे वेद–विरोधी नहीं हैं। उनकी स्थिति लगभग वर्तमान अकाली सिक्खों की जैसी है। दाक्षिणात्य शैव धर्म की एक अवान्तर शाखा कापालिक शैव नाम की भी थी। इसी शाखा का एक विशेषरूप वर्तमान काल में आनन्द मार्ग नाम से प्रसिद्ध होकर वैदिक धर्म का स्पष्ट विरोध कर रहा है। इस तरह से दाक्षिणात्य शैव दर्शन वस्तुतः तान्त्रिक दर्शन ही हैं। अट्ठाईस तान्त्रिक शैव आगमों को प्रायः ये सभी दर्शन सर्वोत्कृष्ट प्रमाण मानते हैं।

वैष्णव दर्शन की मुख्य चार शाखाएँ हैः– (१) विशिष्टाद्वैत, (२) द्वैत, (३) द्वैताद्वैत और (४) शुद्धाद्वैत। ये चारों अपने को वेदान्त नाम देकर प्रस्थानत्रयी की अपने–अपने ढंग से व्याख्याएँ करके अपने को वैदिक वेश में ही प्रकट करके देश भर में फैल चुकी हैं। दक्षिण में और पूर्व में इनका विशेष प्रचार है। इन दर्शनों के अनुयायियों ने वैदिक धर्म को प्रर्याप्त मात्रा में अपनाया भी है अतः इन्हें प्रच्छन्न अवैदिक कहने की अपेक्षा अर्ध वैदिक कहना अधिक उपयुक्त होगा। इन दर्शनों के आचार्यों ने भी दार्शनिक प्रेरणा वेद की अपेक्षा सन्त साहित्य से अधिक मात्रा में ली है। फिर इनके वैष्णव आगमों में वर्णित योग की परिपाटी शैव आगमों की परिपाटी से अधिक मिलती–जुलती है। इस तरह से इन दर्शनों का बाह्य आकार–प्रकार वैदिक है, परन्तु आन्तरिक तत्त्व आगमिक ही हैं। इसी लिए इन्हें अर्धवैदिक दर्शन कहा जाना चाहिए।

काश्मीर शैव दर्शन एक ऐसा दर्शन है, जो वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए भी अपने शुद्ध आगमिक स्वभाव को स्पष्टतया अपनाये रखता है। काश्मीर शैव दर्शन का यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि साधक ने

गर्भाधान से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कारों को वैदिक विधान के अनुसार निभाना चाहिए।[१] इस दर्शन के अनुसार वेदोक्त वर्णआश्रम–धर्म और कर्म–कलाप–धर्म ही जन साधारण के लिए सर्वोत्तम धर्म है। अतः कश्मीर के शैव वैदिक धर्म से विरोध नहीं करते, प्रत्युत उसके परिपोषक हैं। परन्तु मोक्षप्राप्ति के उपायों में से कश्मीर के शैवों ने वैदिक मार्ग की अपेक्षा कौलमार्ग, त्रिकमार्ग, आदि आगमिक उपायों को ही स्पष्ट शब्दों में अधिक सराहा है[२]। दक्षिण भारत में प्रसिद्ध अट्ठाईस शैव आगमों की अपेक्षा काश्मीर शैव दर्शन में चौंसठ भैरव आगमों को उत्कृष्टतर प्रमाण माना गया है। कश्मीर के शैवों के मत में दक्षिण में प्रसिद्ध शैव आगमों में से दस आगम द्वैतप्रधान हैं और शेष अट्ठारह द्वैताद्वैतप्रधान हैं। चौंसठ भैरव आगम ही शैव शास्त्र के अद्वैत–प्रधान आगम हैं। दक्षिण के शैव ग्रन्थों में इन चौंसठ आगमों का नाम–उल्लेख मुझे अभी तक कहीं नहीं मिला। शङ्कराचार्य की सौन्दर्यलहरी में तो प्रसङ्गवशात् इनका उल्लेखमात्र आया है[३]। काश्मीर शैव दर्शन का विकास आगमिक प्रेरणाओं से ही परिस्पन्दित होता रहा है। इसके सभी सिद्धान्त प्रायः आगमों ही के आधार पर ठहराए गए हैं। इस शास्त्र का उपासनाक्रम तो सारे का सारा आगमों पर ही आधारित है। इन शैव आचार्यों के मत में आगम शास्त्र वेद आदि शास्त्रों की अपेक्षा उच्चतर प्रमाण हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि वेद आदि का आविर्भाव परमेश्वर ने सर्वसाधारण मूढ जनता के

---

१. गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैव ह्यनन्यभाक्।
(बं. आ. खं.३.४.२.७.८)

२. वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मत ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्।।
(वदेव खं. २.५.४.६)

३. चतुःषष्टया तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः।
पुनस्तन्निर्बन्धात् सकलपुरुषार्थैकघटना स्वतन्त्र
ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।।
(सौं. ल. ३ १)

हित के लिए किया है[४]; परन्तु कौल, त्रिक, आदि आगमों को अपने तीव्र अनुग्रह के पात्र बने हुए उत्कृष्ट साधकों के ही हित के लिए प्रकट किया है। उनके सिद्धान्तों के अनुसार वैदिक दर्शनों के अभ्यास से प्राप्त होने वाली मुक्ति वास्तविक मुक्ति नहीं। वह कुछ समय तक ही ठहरने वाली मुक्ति होती है। उस मुक्ति में ठहरे हुए जीव उस महाकल्प में पुनः जन्म मरण के चक्कर में आ जाने वाले हैं, जिसमें भावी अवान्तर प्रलय के काल के अनन्तर प्रकृतितत्त्व में पुनःक्षोभ आ जाएगा और महत् आदि तेईस तत्त्वों की पुनः नई सृष्टि होगी[५]। अतः उनकी दृष्टि में वैदिक मार्ग जनसाधरण के लिए उपयोगी एक अवर मार्ग है। और मुमुक्षु के लिए पराद्वैत–शैव--मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है[६]। इस तरह से यह काश्मीर शैव दर्शन एक ओर से शुद्ध आगमिक दर्शन है और दूसरी ओर वे वैदिक धर्म का परिपोषक भी है।

कश्मीर के शैव आचार्यों के मत में भगवान् शिव ने अपने अनुग्रह द्वारा पवित्र बनाए हुए साधकों के हित के लिए शैव धर्म को संसार में प्रकट किया। उन्होंने उन साधकों में से सर्वोत्तम अधिकारियों के लिए अभेद का आश्रय लेते हुए, मध्यम अधिकारियों के लिए भेदाभेदमयी दृष्टि से देखते हुए और अवर कोटि के अधिकारियों के लिए

---

४. यतो यद्यपि देवेन वेदाद्यपि निरूपितम्।
तथापि किल संकोचभावाभावविकल्पतः।।
सङ्कोचतारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितं।
विकासतारतम्येन पतिज्ञानं तु बाधकम्।।
(तं. आ. ४–२७२,७३)

५. सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ् मुक्तिरीदृशी।।

६. (क) नरर्षिदेवद्रुहिण–विष्णुरुद्राद्युदीरितम्।
उत्तरोत्तरवैशिष्टचात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम्।।
सर्वज्ञानोत्तरादौ च भाषते स्म महेश्वरः।।
(तदेव–४–२४८,४९)
(ख) शैवः सिद्धो भाति मूर्ध्नीतरेषां
मुक्तः सृष्टौ पुनरभ्येति नाधः।। (तदेव सं. १-१-७२)

भेदमय दृष्टिकोण को अपनाते हुए शैवी साधना का और शैवी सिद्धान्तों का उपदेश किया। कलियुग में इन तीन दृष्टियों को लेकर तीन सिद्ध पुरूष भूलोक में अवतार रूप में भगवान् शिव की ही आज्ञा से प्रकट हो गए[७]। उनमें से अमर्दक ने द्वैत–शैव का, श्रीनाथ ने द्वैताद्वैत शैव का और त्र्यमब्क ने अद्वैत–शैव का उपदेश किया। त्र्यम्बक का पूरा नाम है त्र्यम्बकादित्य। काश्मीर–शैव दर्शन के प्रवर्तक ये त्र्यम्बकादित्य ही हैं। इन्होंने शैव दर्शन की एक ओर अद्वैतप्रधान मठिका को अपनी पुत्री के द्वारा चालू किया था। उस शाखा को अर्धत्र्यम्बक मठिका कहा करते थे[८]। आ० अभिनव गुप्त ने शैव दर्शन की इन चारों शाखाओं के तत्कालीन गुरुओं की उपासना करके चारों की साधना के रहस्य का साक्षात् अनुभव किया था। साधना के मार्ग में उनके समस्त संशयों का उच्छेद करने वाले उनके उत्कृष्टतम ज्ञानदाता महागुरू जालन्धरपीठ (कांगड़ा) के निवासी महासिद्ध श्री शम्भू नाथ ने और वे अर्धत्र्यम्बक शोखा के तत्कालीन प्रधान गुरु थे[९]। इन चार शाखाओं को काश्मीर शैव दर्शन में "साढ़ी तीन मठिका" कहा जाता है[१०]। अर्धत्र्यम्बक शाखा को एक अधूरी मठिका माना गया है। ऐसा सम्भव है कि इस मठिका का विकास पर्याप्त मात्रा में न हो सका हो। परन्तु ये चारों शाखाएँ कम से कम आ० अभिनवगुप्त के समय (ग्यारहवीं शताब्दी) तक अवश्य ही प्रचलित रहीं। त्र्यम्बक शाखा तो अभी तक चल ही रही है । शेष ढाई शाखाओं का वर्तमान

---

७. श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन्।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये।।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने। (तदेव ३६–१३)

८. आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहित्क्रमात्।
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः।।
(३६–११–१३,)

९. तुर्याख्यसन्ततिमहोदधिपूर्णचन्द्रः।
श्रीसोमतः सकलवित् किल शम्भुनाथः।।(तदेव ३७–६१)

१०. श्रीसन्ततिस्त्र्यम्बकाख्या तदर्धामर्दसंज्ञिता।
इत्थमर्धचतस्त्रोऽत्रमठिकाः शाङ्करे क्रमे।।(तदेव–४–२६६)

काल में कुछ भी पता नहीं चलता। आ० सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त इस त्र्यम्बक मठिका ही के अपने–अपने समय के प्रधान गुरु थे।

आ० सोमानन्द की दृष्टि में अद्वैत शैव दर्शन एक अति प्राचीन दर्शन है। आगम शास्त्रों के अनुसार युग–युग में इस दर्शन की विद्या का आविर्भाव, तिरोभाव और पुनः आविर्भाव होता रहा है। यह विद्या प्राचीन काल में ऋषियों के पास थी। वे जनसाधरण में इसे न चलाते हुए केवल योग्य अधिकारियों को ही इसकी दीक्षा देते रहे। आगमों के अनुसार महर्षि अगस्त्य, महामुनि दत्तात्रोय, भगवान् दुर्वासा, भगवान् परशुराम आदि सिद्ध महापुरुष इस रहस्य–विद्या के प्रवर्तक और प्रचारक रह चुके हैं। ब्रह्मा जी, शुक्राचार्य बृहस्पति, इन्द्र आदि ने भी प्राचीन युग में इस विद्या की उपासना की है। महर्षि दुर्वासा द्वारा भगवान् कृष्ण को भी इस विद्या का रहस्य–उपदेश मिला था। तभी तो भगवद्गीता में इस शैवी विद्या के सिद्धान्तों तथा शाम्भवी उपासना के रहस्यों का वर्णन हो पाया है। इस तरह से अद्वैत शैव दर्शन के सिद्धान्त और साधना–रहस्य गुरु–शिष्य परम्पराओं में अनादि काल से ही चलते आये हैं। वर्तमान कलियुग में शिवजी की प्ररेणा से प्रेरित होकर भगवान् दुर्वासा ने इस रहस्य–विद्या को अपने शिष्य त्र्यम्बकादित्य के द्वारा पुनः चालू करवाया। इस समय भी भगवान् दुर्वासा शाम्भवी उपासना के रहस्यों का उपदेश योग्य पात्रों को करते रहते हैं। यह बात हमें दृढतर प्रमाण से सिद्ध हो चुकी है। अस्तु। त्र्यम्बकादित्य के द्वारा चलाई हुई अद्वैत शैव मठिका कुछ समय तक कैलास पर्वत के आस–पास काम करती रही। कुछ ही समय के पश्चात् इसकी स्थिर स्थापना कश्मीर मंडल में हो गई। यहां आकर यह मठिका खूब ही फली और फूली। इसी मठिका में आगे सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त जैसे आचार्य, ग्रन्थकार और भाष्यकार प्रकट हुए। इन्हीं आचार्यों के सफल प्रयत्नों से इस अद्वैत–शैव–शास्त्र का एक ऐसा अभिनव विकास हुआ, जो पर्याप्त परिपूर्णता को प्राप्त हो गया। कश्मीर मण्डल में इस दर्शन विद्या के विषय पर अनेकों ग्रन्थों का निर्माण हुआ, वे ग्रन्थ कश्मीरी जनता में इतने

लोकप्रिय बन गए कि इतिहास के अगले युग में जब आर्य संस्कृति कश्मीर मण्डल से कुछ समय के लिए पूरी तरह से उखड़ ही गई, जब संस्कृत वाङ्मय का इस देश में एक महाविनाश किया गया और जब आर्य संस्कृति के सच्चे प्रेमी बड़ी कठिनता से अपने प्राणों की रक्षा कर पाये, तब भी इन ग्रन्थों का सर्वनाश होने नहीं पाया। यही कारण है कि वर्तमान युग में भी इस दर्शनविद्या का रूप जितने विकसित रूप में उपलब्ध हो रहा है, उतने विकसित रूप में और कोई भी दर्शन–विद्या देखने में नहीं आती। संसार भर में अध्यात्म–विद्या का विकास उतनी मात्रा में किसी भी अन्य दर्शन शाखा में अभी तक होने नहीं पाया है जितनी मात्रा में इस काश्मीर शैव दर्शन का हुआ है। यह सारे का सारा विकास कश्मीर देश में ही हुआ। इसी कारण शैव दर्शन की इस अद्वैत शाखा को काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है। वैसे इसका प्राचीन नाम त्र्यम्बक शैव शास्त्र है। इसे अद्वैत शैव दर्शन भी कहा जाता है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा, वेदान्त के अद्वैत और इस शैव अद्वैत में परस्पर काफी भेद है। इस भेद को सूचित करने ही के लिए आ० अभिनवगुप्त ने दृढ युक्तियों के आधार पर इस अद्वैत को पराद्वैत या परमाद्वैत नाम दिया है। आ० साहिब कौल ने भी इसे महाद्वय नाम दिया है।

वर्तमान युग के कुछ एक प्रसिद्ध लेखकों ने काश्मीर शैव दर्शन को त्रिकदर्शन नाम दिया है। इस विषय में यहां ज़रा स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। दर्शन–विद्याओं के दो मुख्य अंश हुआ करते हैं–(१) सिद्धान्त, अर्थात्, ज्ञान का अंश और (२) प्रयोग या साधना, अर्थात्, विज्ञान का अंश। शैवदर्शन के आचार्यो ने इस विषय में यह कहा है कि दर्शन सिद्धान्तों के ज्ञान के अनन्तर साधना द्वारा उन सिद्धान्तों का साक्षात् अनुभव हो चुकने पर ही साधक को उन सिद्धान्तों का विज्ञान प्राप्त हो जाता है और तभी से उसका ज्ञान परिपूर्ण बनकर जीवन्मुक्ति का आनन्द दे सकता है। फिर उन्होंने यह भी कहा है कि साधना द्वारा तत्त्व के साक्षात्कार के हो जाने पर भी उस साक्षात्कृत तत्त्व को समझने के लिए बुद्धि द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान की परम आवश्यकता होती है। उसके

बिना साधक पुनः मोह से आवृत हो सकता है। अतः शास्त्र ज्ञान और साधना का अभ्यास दोनों ही साधक के लिए आवश्यक है। साधना के विषय में कश्मीर के शैव आचार्यों ने कई एक प्रकार के साधनाक्रम उपयोगी ठहराए हैं। उनमें से कुछ एक आगमिक साधना क्रम ये हैं—वामाचार, दक्षिणाचार, कौलाचार, मताचार और त्रिक—आचार। इन सभी में उन्होंने त्रिक—आचार को सर्वश्रेष्ठ माना है। इसी कारण कश्मीर के शैव प्रायः इसी आचार द्वारा साधना करते रहे। परन्तु इस विषय में उनकी दृष्टि संकुचित नहीं थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि साधक अपनी योग्यता के अनुसार जिस किसी भी आचार को अपनाकर तत्त्व साक्षात्कार प्राप्त करे[११]। स्वयं आ० अभिनवगुप्त को सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों और गूढातिगूढ रहस्यों की साक्षात् अनुभूति कौलाचार की उपासना द्वारा हुई थी और इस उपासना के गूढ़ रहस्य उन्हें अर्धत्र्यम्बक मठिका के गुरू श्रीशम्भुनाथ ने प्रकट किए थे[१२]। फिर भी इस बात में कोई भी सन्देह नहीं कि कश्मीर के शैवों ने साधना के सभी क्रमों में त्रिक आचार को सब से उत्तम माना है। इस त्र्यम्बक मठिका के गुरु प्रायः त्रिक आचार के ही उपासक हुआ करते थे। प्रसिद्ध तन्त्रालोक, तन्त्रसार, शिवसूत्र, स्पन्दकारिका आदि ग्रन्थ इसी त्रिक—आचार का प्रतिपादक करने वाले शास्त्र हैं इसी कारण से वर्तमान युग के लेखक इस काश्मीर शैव दर्शन को त्रिकदर्शन भी कहते हैं। परन्तु यह बात विचारणीय है कि शिवदृष्टि और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में जिन दर्शन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, वे दर्शन सिद्धान्त वाम, कौल, त्रिक आदि सभी आगमिक साधना की प्रक्रियाओं की सांझी सम्पत्ति हैं, क्योंकि ये सभी साधना क्रम उन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों की साक्षात् अनुभूति को अपना

---

११. किन्त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते।
तत्त्वे चेतः स्थिरं कार्यं तच्च यस्य यथास्त्विति।।
(तदेव ४—१०८)

१२. जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ भगवत्या सह शम्भुनाथ एकः।
यदुदीरितशासनांशुभिर्मे प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः।।
(तदेव १—)

लक्ष्य बनाए रखते हैं । अतः त्रिक शास्त्र काश्मीर शैव दर्शन के एक अति उत्कृष्ट साधनाक्रम का ही नाम हो सकता है, समस्त काश्मीर शैव दर्शन का नहीं। त्रिक इस शैव दर्शन का एक अंग है, अङ्गी नहीं। आ० शङ्कर समयाचार के उपासक थे। उनके प्रपञ्चसार तन्त्र को समयशास्त्र कहा जा सकता है, परन्तु उनके दर्शन को यह नाम दिया नहीं जा सकता। उसे तो अद्वैत वेदान्त ही कहा जा सकता है।

तो इस अद्वैतदृष्टि–प्रधान शैव दर्शन को त्रिक दर्शन कहने की अपेक्षा त्र्यम्बक दर्शन, या अद्वैत शैव दर्शन, या पराद्वैत दर्शन या काश्मीर शैव दर्शन कहना अधिक उचित सिद्ध होता है।

२
मूल स्रोत

अति प्राचीन शैव धर्म

सिन्धुघाटी के प्रागैतिहासिक युग के अवशेषों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि उत्तरी भारत में वैदिक आर्यों की सभ्यता के प्रवर्तन से पूर्व जो लोग निवास करते थे, वे शैव धर्म के अनुयायी थे। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में पाए गए उस अति प्राचीन सभ्यता के अवशेषों से यह बात निःसंशय सिद्ध हो जाती है कि लिङ्गपूजा, योनिपूजा, मातृदेवी (शक्ति) की पूजा और पशुपति (शिव) की पूजा जैसे शैव धर्म के प्रधान अंश उस युग के उन भारतवासियों में खूब प्रचलित थे। मोहंजोदड़ों में मिली हुई भगवान् पशुपति की मूर्ति के तीन–तीन नेत्रों वाले तीन मुखों से तो वर्तमान त्रिमूर्ति शिव की स्मृति सद्यः मन में आ जाती है। इतना ही नहीं, भगवान् पशुपति की उस मूर्ति से अभिव्यक्त होने वाली एक विशेष प्रकार की ज्ञानमुद्रा और एक विशेष प्रकार का योग–आसन इस बात को सिद्ध करते हैं कि आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के भारत में योग के अभ्यास का प्रचार था। और भी, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाए हुए अर्धनिमीलित–नेत्र योगी की प्रस्तरमूर्ति इस बात का एक दृढ प्रमाण है कि भारत के वे अति प्राचीन निवासी शाम्भवी–मुद्रा[1] नामक शैव दर्शन की अति उत्कृष्ट योगसाधना को भी अवश्य ही जानते थे और उसका अभ्यास भी करते थे। शैव दर्शन के उत्कृष्ट और सूक्ष्मतर सिद्धान्तों की साक्षात् अनुभूति शाम्भव योग के ही अभ्यास से हो सकती है। बिना योगज साक्षात्कार के उन सूक्ष्मतर सिद्धान्तों तक मानव मस्तिष्क पहुँच नहीं

---

१. अर्धोद्घाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण–
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपगतौ त्रिस्पन्दभावान्तरे।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितमेकं पुमांसं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु चरमं वाच्यं किमत्राधिकम्।।
(अनु. नि. २)

सकता। तो उन प्राचीन भारतीयों की शाम्भव योग में प्राप्त की हुई निपुणता से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि उस योग के फलस्वरूप शाम्भव दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान भी उन्हें अवश्य ही प्राप्त हुआ होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि न केवल शैवधर्म और शैवसाधना ही का, अपितु शैवदर्शन का भी घनिष्ठ सम्बन्ध भारत के उस अति प्राचीन इतिहास के साथ रहा होगा। योग तो वस्तुतः माहेश्वर दर्शन ही की देन है। इसी कारण महाकवि भास जैसे अति प्राचीन कलाकारों ने भी उस समय में प्रचलित परम्परा के अनुसार सर्वोत्तम योगशास्त्र को माहेश्वर शास्त्र ही कहा है[२]। तो इन प्रमाणों से शैव दर्शन की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध होती है।

ऋग्वेद के अति प्राचीन भागों में, अर्थात् द्वितीय मण्डल से अष्टम मण्डल तक के भागों में, अध्यात्मविद्या का अति स्फुट उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता हैं। आर्यों की अन्य ईरानी, यूनानी, अरमीनी, रोमन आदि शाखाओं के प्राचीन धर्म में भी किसी विकसित अध्यात्मविद्या की सत्ता का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। इन जातियों के सभी धर्म ऐहिक और पारलौकिक सुख के साधन हैं, मोक्ष के साधन नहीं हैं। ऋग्वेद में दार्शनिक जिज्ञासा का स्फुट उल्लेख तथा दर्शन सिद्धान्तों का थोड़ा–थोड़ा अस्पष्ट उल्लेख नासदीय सूक्त में मिलता है[३]। अद्वैत सिद्धान्त का थोड़ा सा उल्लेख अस्यवामीय सूक्त में[४] और स्फुट उल्लेख पुरुषसूक्त[५] में मिलता है। उसका स्फुटतर वर्णन तो

---

२. माहेश्वरं योगशासत्रम्.....(प्र. ना. अं. ७)

३. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।
(ऋ० वे. १०–१२९–१)

४. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।
(तदेव १–१६४–४६)

५. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। (तदेव१०–१०–२)

वागम्भृणीय सूक्त[६] में मिल रहा है। ये सभी सूक्त ऋग्वेद के उन भागों में विद्यमान हैं, जिनका निर्माण इतिहास तत्त्व को जानने वाले मर्मज्ञ विद्वानों के मत में आर्यों के भारत में आकर बस जाने के बहुत पश्चात् हुआ है। अतः यह अध्यात्मविद्या उन वैदिक आर्यों की एक प्राचीन विद्या न होती हुई एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन विद्या ही सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि इस विद्या का आविर्भाव वैदिक आर्यों के भारत में बस जाने के अनन्तर अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में ही हुआ होगा। अतः बहुत सम्भव है कि इस अध्यात्मविद्या को वैदिक आर्यों ने भारत के मूल निवासी शैवों से ही सीख लिया हो।

वेद में शैव धर्म

ऋग्वेद का प्रधान देवता इन्द्र है, परन्तु आगे यजुर्वेद के युग में वह प्रधानता रुद्र में आ जाती है। इतिहासज्ञों के मत में यजुर्वेद के ये रुद्र देवता तो, वैदिक शब्दों और वैदिक नामों के रंगों में रंगे हुए भारत के प्राचीनतर निवासी शैवों के पशुपति शिव ही हैं। आगे श्वेताश्वतर[७] आदि उपनिषदों में शैवदर्शन के सिद्धान्तों के और इस दर्शन की साधना के अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन उपनिषदों में से एकमात्र कठ–उपनिषद् में "योगविधि" के अस्पष्ट उल्लेख मात्र ही

---

६. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।
(तदेव १०–१२५–१)

७. (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।
(क. उ. १–२–१२)

(ख) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
(तदेव–२–६–११)

(ग) कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।(तदेव–२–१–१)

(ध) त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।
(श्वे. ३.२–८)

मिलते हैं। अन्य प्राचीन उपनिषदों में योग–अभ्यास का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। इतिहासवेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि श्वेताश्वतर एक शैव उपनिषद् है। इन वैदिक धर्मग्रन्थों में आए हुए शैव धर्म के इन उल्लेखों के प्रभाव से शैव धर्म के अनेकों अंश धीरे–धीरे महाभारत युग में और प्राचीन पुराणों के युग में आर्यों के धर्म में स्थिरता पूर्वक समा गए होंगे। उस युग में तो ऋग्वेदयुग के महा प्रतापी देवाधिदेव इन्द्र को एक सामान्य और तुच्छ सा देवता माना जाने लगा और प्रधानता शिव, विष्णु और दुर्गा ने ले ली। यह महान् परिवर्तन किस प्रकार से धीरे–धीरे क्रम पूर्वक आता गया, इस विषय पर डा० यदुवंशी झा के शोध प्रबन्ध "शैवमत" में विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है।

शैव धर्म का प्रभाव

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों के धर्म में समाए हुए और वैदिक रंगों में रंगे हुए इन कुछ एक शैव धर्म के अंशों के अतिरिक्त शैवी साधना की कोई स्वतंत्र परम्परा भी भारत में चलती ही रही होगी, चाहे सामान्य जनता में उसका अधिक प्रचार नहीं रहा हो। उसी परम्परा का प्रभाव कभी बौद्धों के योगाचार, वज्रयान, कालचक्रयान और लामाधर्म के रूप में, कभी पाशुपतों और सिद्धन्तशैवों की सन्तवाणी के रूप में, कभी नाथसम्प्रदाय के सन्तों की शाखा के रूप में, कभी गोरखपन्थी योग के रूप में, कभी शैवों और वैष्णवों की योग साधना के रूप में तथा कभी वेदान्त के समयाचार की साधना के रूप में प्रकट होता रहा होगा। यह भी सम्भव है कि महात्मा बुद्ध के योगगुरु अराड़ और उद्रक भी उसी शैव योग के साधक रहे हों। ऋषभदेव जैसे जैन सन्त भी यदि उसी परम्परा से सम्बन्ध ा रखते रहे हों, तो यह भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सन्त साहित्य के योगवसिष्ठ जैसे प्रधान ग्रन्थ में भी उस प्रभाव की स्पष्ट झलकें मिलती हैं। यह कोई असम्भव बात नहीं कि दक्षिण के आलवार और नायनार नामक सन्त–परम्पराओं का आविर्भाव अति प्राचीन शैव साधना के अभ्यास से ही परिस्पन्दित हुआ हो। विशिष्टाद्वैत–प्रधान वैष्णव मत के तामिल प्रबन्धों का भी पर्याप्त सम्बन्ध प्राचीन शैवों की योग साधना

की परम्परा से रहा होगा। यह भी बहुत सम्भव है कि अर्वाचीन काल के शैव आगम और तन्त्र उसी अति प्राचीन शैवी साधना की सन्त परम्परा की प्राप्ति का फल हो। अर्वाचीन काल के सन्त साहित्य का गहरा अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सन्त कवि भी अपनी–अपनी रहस्यमयी वाणी द्वारा वस्तुतः उन्हीं बातों को कहना चाहते हैं, जिन्हें कश्मीर के अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों ने स्पष्टतया सम्पूर्णतया और उचित क्रम से विस्तारपूर्वक कहा है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता एक सुविशाल भूभाग में फैली थी। पूर्व में हरयाणा और गुजरात से लेकर पश्चिम में प्राचीन बैबिलोनिया तक इसका विस्तार था। यदि लिंगपूजा तथा मूर्तिपूजा को प्रथम स्थान देने वाले प्राचीन यहूदीधर्म की उत्पत्ति और उसके विकास पर इसी सभ्यता का प्रभाव रहा हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। यदि इसी सभ्यता की सन्त–परम्पराओं के प्रभाव से ईरान देश में अर्वाचीन काल में सूफी सन्तों की धारा प्रवाहित हो गई हो, तो यह भी आश्चर्य की बात नहीं। आगे ईसा की चौदहवीं शती में जब सूफी सन्तों की यह यमुनाधारा कश्मीर में पहुँच गई, तो यहां के शैव सिद्धों की गङ्गाधारा में मिल जाने में उसे देर नहीं लगी। इस मेल से यहां एक मिली–जुली नवीन धारा का आविर्भाव हुआ, जिसमें लल्लेश्वरी, नुन्द ऋषि आदि सन्त प्रकट होते गए। वह धारा इस देश में अभी तक अर्धोन्मत्त से प्रतीत होते हुए सन्तों के रूप में अबाधित गति से चल रही है। यदि जगन्नाथपुरी के प्रसिद्ध मन्दिर की तथा दक्षिण भारत के अनेकों देवस्थानों की शृङ्गारमयी प्रस्तर कला भी शैव धर्म के चर्या–क्रम की अतिप्राचीन परम्परा ही के प्रभाव को सूचित करती हो, तो उसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं।

अभिनव आविर्भाव

आचार्य सोमानन्द ने अपनी शिवदृष्टि के अन्तिम प्रकरण में स्पष्ट शब्दों में शैव दर्शन के उद्गम और विकास पर प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है—

"शैव दर्शन अति प्राचीन काल में ऋषि महात्माओं के पास था। कलियुग के आ जाने पर जब वे ऋषि किन्हीं कलापि ग्राम आदि मानव दृष्टि से अदृश्य स्थानों को चले गए, तो शैवी विद्या का उच्छेद सा हो गया। जब कैलास पर्वत पर विचरण करते हुए भगवान् श्रीकण्ठनाथ की प्ररेणा से महामुनीश्वर श्री दुर्वासा जी ने अपने शिष्य त्र्यम्बकादित्य के द्वारा अद्वैत शैव दर्शन के शिक्षणक्रम को पुनः चालू करवा दिया"[८]। इस प्रथम त्र्यम्बकादित्य ने कैलास पर्वत पर रहते हुए कुछ समय तक इस विद्या का प्रचार किया। फिर अपने शिष्य त्र्यम्बकादित्य द्वितीय को यह काम सौंप कर वे सिद्ध–लोक के प्रति उत्क्रमण कर गए। इसी तरह सिद्धों की चौदह पीढ़ियां बीत गईं। पन्द्रहवीं पीढ़ी के त्र्यम्बकादित्य एक बार कहीं तीर्थयात्रा पर गए। वहां उन्हें थोड़ी देर के लिए जब बहिर्मुखता आ गई, तो उनकी दृष्टि एक शुभ लक्षणों वाली ब्राह्मण कन्या पर पड़ी। वे उसके पिता के पास गए और उनसे कन्या के लिए उन्होंने स्वयं प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना सफल हो गई और ब्राह्मणोचित विधान से उस कन्या के साथ उनका विवाह हो गया। उनसे जिस पुत्र की उत्पत्ति हुई, उसका नाम सङ्गमादित्य रखा गया। ये सङ्गमादित्य घूमते–घूमते कश्मीर आ गए और स्थायी रूप से यहीं बस गए। ये सङ्गमादित्य यहां आठवीं शताब्दी में आ बसे और इस तरह से त्र्यम्बक मठिका कैलास से उखड़ कर कश्मीर मण्डल में स्थापित हो गई। यहां इस की जड़ें गहरी होती चली गईं और यह मठिका यहां खूब फूली और फली।

---

८. शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम्।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया।।
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे।
कलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने।।
कैलासाद्रो भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले।।
मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम्।
नोच्छिद्येत यथाशस्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम्।। इत्यादि
(शि. दृ. ७–१०७ तः ११०)

सङ्मादित्य के कश्मीर में पदार्पण करने से पहले इस देश में कोई विशेष दर्शन विद्यमान नहीं था। यहां के स्मार्तहिन्दुधर्म में शैव धर्म के वे ही अंश विद्यमान थे जो महाभारत काल से लेकर पौराणिक युग तक शेष भारत के श्रौत स्मार्तधर्म में समा चुके थे। हां यहाँ वाराणसी की तरह और दक्षिण भारत की तरह शिव–पूजा अधिक लोकप्रिय पहले से ही बनी हुई थी और स्थान–स्थान पर शिव और शक्ति के मन्दिर विद्यमान थे। यहाँ शिव के अतिरक्ति भैरवों की उपासना का भी प्रचार था। हो सकता है कि अति प्राचीन नागों की संस्कृति का प्रभाव शिव–उपासना की इतनी लोकप्रियता का कारण बना हो। दक्षिण भारत में तो प्राचीन काल से ही तामिल देश में सिद्धान्तशैव दर्शन का और आन्ध्र प्रदेश, में पाशुपत शैव–धर्म का पर्याप्त प्रचार था। कर्णाटक के वीर शैव धर्म की मूल परम्परा भी वहां प्राचीन काल से ही चली आती थी, यद्यपि उसका विशेष विकास अर्वाचीन काल में ही हुआ। कश्मीर में तो विशेष शैव दर्शन का प्रसार सङ्गमादित्य के आगमन से ही हुआ। इस देश में स्थापित होकर इस त्र्यम्बकमठिका ने विशेष प्रगति की। मठिका के गुरुओं और शिष्यों की परम्परा में अनेकों सिद्ध महापुरुष प्रकट होते रहे। इन्हें काश्मीर शैव शास्त्र के आगमशास्त्रों का साक्षात्कार हुआ। इन सिद्धों को मठिका–गुरु कहा जाने लगा और शैव–आगमों के ऋषि ये गुरु ही बने। इन्होंने जिन आगम शास्त्रों का उपदेश किया, उन्हीं के आधार पर आगे सोमानन्द जैसे अनुभवशील विद्वानों ने काश्मीर शैव दर्शन का निर्माण किया।

इस तरह से काश्मीर शैव दर्शन के मूल स्त्रोत को अतिप्राचीन और प्रागैतिहासिक शैव धर्म में और शैव साधना की अविच्छिन्न परम्पराओं में माना जा सकता है, परन्तु इस दर्शन के अभिनव आविर्भाव और विकास के तात्कालिक स्त्रोत तो निश्चय पूर्वक अर्वाचीन काल में त्र्यम्बकमठिका के गुरुओं द्वारा कश्मीर देश में प्रकट किए गए अद्वैतसिद्धान्त प्रधान शैव आगम ही हैं। उन्हीं शैव आगमों के प्रमाण आचार्यों द्वारा दर्शन ग्रन्थों में जहां–तहां दिए गए हैं। उन्होंने वेद, उपनिषद्, गीता आदि सर्वमान्य शास्त्रों के प्रमाणों को कहीं–कहीं आंशिक एक वाक्यता

को प्रकट करने के प्रयोजन से दिया है। वैसे तो कहीं–कहीं बौद्धवाद, योगदर्शन, वैयाकरणदर्शन, न्यायदर्शन आदि के साथ भी एकवाक्यता जतलाई गई है। अन्य शास्त्रों में से प्रमाण वाक्यों के उद्धरण देते हुए शैव दर्शन के आचार्यों ने एक तो अपनी विशाल दृष्टि का परिचय दिया है और दूसरे इस बात को सूचित किया है कि पूर्वपक्ष के भी मानने के योग्य सिद्धान्तों को अवश्य ही माना जाना चाहिए और अपने–अपने स्थान पर सभी शास्त्रों की प्रमाणता को स्वीकार किया जाना चाहिए तथा किसी भी शास्त्र को सर्वथा अप्रमाण और निरर्थक नहीं ठहराया जाना चाहिए।

वेदान्त और शैव

काश्मीर शैव दर्शन एक अद्वैतवादी दर्शन है। उधर से शाङ्कर वेदान्तशास्त्र भी अद्वैतवादी शास्त्र है। अद्वैत वेदान्त का विकास ईसा की आठवीं और नवमीं शताब्दियों में हो चुका था। काश्मीर शैव दर्शन का विकास नवमीं शताब्दी के उत्तरार्ध से आरम्भ हुआ। भट्ट कल्लट, अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। अतः उनका समय ८५० के लगभग माना जा सकता है। शैव शास्त्र के सर्वप्रथम दर्शनग्रन्थ शिवदृष्टि के रचयिता, आ० सोमानन्द भट्ट कल्लट के अनन्तर ही प्रकट हुए। अतः उनका समय ८७५ के लगभग माना जा सकता है। अतः अद्वैतवेदान्त शैव अद्वैत से ज़रा सा पुराना है। वर्तमानयुग में तो अद्वैत वेदान्त का प्रभाव समस्त भारत क्या समस्त विश्व के संस्कृतज्ञ और दर्शन शास्त्रज्ञ विद्वानों के मस्तिष्कों पर छाया हुआ है। इस लिए बहुत सारे वर्तमान युग के विद्वानों का यह मत है कि कश्मीर का अद्वैत शास्त्र अद्वैत वेदान्त का ही एक रूपान्तर है। परन्तु शैव दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों पर सूक्ष्म विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि काश्मीर शैव दर्शन के आविर्भाव और विकास में वेदान्त के प्रभाव की हेतुता अंशमात्र में भी सम्भव नहीं। इस शास्त्र का आविर्भाव और विकास सर्वथा स्वतन्त्ररूप में शैव आगमों के और शैव योग के सफल अभ्यास के आधार पर ही हुआ। इस विषय में निम्नलिखित तथ्य, बातें विचार करने के योग्य हैं:–

(१) आ० वसुगुप्त और भट्ट कल्लट की रचनाओं में अद्वैत वेदान्त का कोई भी उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है।

(२) आ० सोमानन्द की शिव दृष्टि में वेदान्त के कई एक वादों की आलोचना की गई है, परन्तु उनमें से अधिकांश वेदान्तवाद उपनिषद्वाक्यों की ओर संकेत करते हुए औपनिषद वेदान्त[९] के ही भीतर गिने जा सकते हैं। शाङ्कर वेदान्त का नामोल्लेख वहां कहीं भी नहीं किया गया है। न ही उसका स्पष्ट वर्णन ही किया गया है। अविद्या[१०] के उल्लेख से उस वाद के प्रति संकेत मात्र ही मिलता है।

(३) शिवदृष्टि में वैयाकरणों के शब्द विवर्तवाद[११] की कड़ी आलोचना खूब विस्तार से की गई है, परन्तु अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म–विवर्तवाद का वहां नामोल्लेख भी नहीं किया गया है।

(४) आ० उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में शाङ्कर वेदान्त की अनुपपन्नता के प्रति केवल एक स्थान पर सङ्केतमात्र ही मिलता है।[१२] इनका समय ६२५ के लगभग का हो सकता है।

९– .....तथान्ये त्वात्मवादिनः ।
.....ये चान्ये नेति वादिनः ।
.....ये स्फुलिंगात्मवादिनः।
प्रतिबिम्बतया चान्ये ये वा सर्गमुखे स्वयम्।
ब्रह्मैव गृह्णात्यात्मानं ततो भेदोपपादनम्। इत्यादि।
(तदेव ६–८ तः १३)

१०. अविद्यां वेत्त्यविद्यैव बध्नात्यात्मानमेव वा।
सैवेति वादो येषां वा तेषां वेदान्तवादिनाम्।।
सर्वेषामप्यविद्यैव कल्प्या ब्रह्मणि संगता।।
(तदेव ६–१४,१५)

११. यस्मात्तैरुच्यते सद्भिरेवं वस्तु प्रवृत्तये।।
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।
.....
इत्यादिवाक्यरचनैस्तैरेव प्रतिपादितम्।।
तद्विचाराय राद्धान्तः सम्प्रत्येष विधीयते। (तदेव २–८ तः

१२. वास्तवेऽपि चिदेकत्वे न स्यादाभासभिन्नयोः।
चिकीर्षा–लक्षणैकत्वपरामर्शं विना क्रिया।। (ई.प्र२–४–२०)

(५) शाङ्कर वेदान्त के अविद्यावाद की स्पष्ट और कड़ी आलोचना आ० अभिनवगुप्त ने ई० १००० के लगभग कई एक स्थानों पर की है।[१३] परात्रीशिका के विवरण में उन्होंने अद्वैत ब्रह्मवाद को शून्यवाद के अतिसमीप ठहरा हुआ वाद[१४] बताया है।

(६) मालिनीविजय वार्तिक में उन्होंने साधना में मन और इन्द्रियों को बलात्कार से दबाना अनुचित और हानिकर[१५] बताया है । उधर से आ० गौडपाद ने मन के निग्रह को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का साधान माना है।[१६]

१३.(क) अतएव भेदाभेदयोर्विरोधं दुःसमर्थमभिमन्यमानैरेकै–
रविद्यात्वेनानिर्वाच्यत्वम्, अपरैश्चाभासलग्नतया
सांवृतत्वमभिदधद्भिरात्मा परश्च वञ्चितः। (ई.प्र.वि २–३–१४)

(ख) चिद्रूपस्यैकत्वं यदि वास्तवं, भेदः पुनरयमविद्योपप्ल–
वादित्युच्यतेतदा कस्यायमविद्योपप्लव इति न संगच्छते।
ब्रह्मणो हि विद्यैकरूपस्य कथमविद्यारूपता। न चान्यः
कश्चिदस्ति वस्तुतोजीवादिर्यस्याविद्या भवेत्।
(तदेव–२–४–२०)

१४(क) स एष परमेश्वरो विसृजति विश्वम्। तच्च धरादिश–
क्त्यन्तमूकादिशान्त– रूपम्। इत्येतावती विसर्गशक्तिः षोडशी
कलेति गीयते–'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्' इति।
एषा हि न सांख्येया नापि वैदान्तिकी दृक्, अपि तु शैव्येव।
(प.त्री.वि.पृ.१८१)

(ख) देखिए आगे अध्या. ४, अंक २१.

१५. अनादरविरक्त्यैव गलन्तीन्द्रिय–वृत्तयः।
यावतु' विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते।।
(मा.वि.वा २–११२)

१६. मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च।।
(गौ. पा. का. ३–४०)

(७) भगवद्गीता की अपनी टीका में आ० अभिनवगुप्त ने आ०शङ्कर का नाम न लेते हुए ही उनके द्वारा किए गए व्याख्यान को कई एक स्थानों पर अनुचित ठहराया है।

(८) काश्मीर शैव दर्शन के प्रधान निर्माता ये ही पांच सिद्धपुरुष हैं। उनके ग्रन्थों के मनन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से किसी–किसी ने अद्वैत वेदान्त को उल्लेखनीय ही नहीं माना और आ०अभिनवगुप्त ने इसे बाल–प्रलाप के तुल्य माना।

(९) शाङ्कर वेदान्त की संन्यास की परिपाटी कश्मीर देश में कभी भी लोकप्रिय नहीं बनी, न यहां किसी शाङ्कर मठ की ही स्थापना हुई।

(१०) प्रमुख शैव आचार्यों ने कहीं भी आ० गौडपाद या आ० शङ्कर का या उनके सिद्धान्तों का आदर पूर्वक उल्लेख नहीं किया।

(११) आ० उत्पलदेव के एक शिष्य आ० रामकण्ठ ने अपनी स्पन्दविवृति में एक स्थान पर गौडपादकारिका के एक श्लोक को देते हुए उनके नाम का उल्लेख केवल "ब्रह्मवित्" इस शब्द से और वह भी एकवचन में किया है।

(१२) पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कश्मीर के अधिकांश ब्राह्मण सिकन्दर बुतशिकन नामक सुलतान के आतङ्क से पीडित होकर कश्मीर से भाग गए और उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुलतान जैनुलावदीन के प्रोत्साहन से पुनः कश्मीर लौट आए। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के अन्य प्रान्तों से लौट आए हुए ये कश्मीरी ब्राह्मण ही शाङ्कर वेदान्त की लोकप्रियता को अपने साथ कश्मीर में ले आए।

(१३) भगवद्गीता के शङ्कराचार्य द्वारा सम्मत दाक्षिणात्य पाठ को भी ये ही ब्राह्मण कश्मीर ले आए होंगे। उस से पूर्व यहां भगवद्गीता का वही पाठ प्रचलित था, जो महाभारत की उत्तरीय शाखा में विद्यमान था, क्योंकि आ० रामकण्ठ और आ० अभिनवगुप्त ने उसी पाठ के अनुसार अपने गीताभाष्य लिखे हैं।

(१४) इसी कारण से आगे १६वीं शताब्दी के आ० साहिब कौल के कल्पवृक्षप्रबन्ध में और १८ वीं शताब्दी के आ० शिवोपाध्याय की श्रीविद्या में तथा उन्हीं के विज्ञानभैरव--उद्द्योत में वेदान्तवाद का तथा आ० शङ्कर का गुणगान मिलता है। परन्तु ये दोनों आचार्य काश्मीर शैव दर्शन के परिपूर्ण विकास के हो चुकने के अनन्तर प्रकट हुए। फिर इस दर्शन के ग्रन्थकारों में इन दोनों की गिनती अवर कोटि में ही आती है।

(१५) काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख ग्रन्थकारों ने तो शाङ्कर वेदान्त के पारिभाषिक शब्दों को भी कहीं नहीं अपनाया है, यद्यपि सांख्य, योग, न्याय आदि दर्शनों की तथा बौद्धों की कुछ एक परिभाषाओं का प्रयोग उन्होंने निःसङ्कोच भाव से अपने ग्रन्थों में जहां-तहां किया है।

(१६) जैसा कि अगले अध्यायों में स्पष्ट हो जाएगा, कश्मीर के अद्वैत शैव के और शाङ्कर वेदान्त के दार्शनिक दृष्टिकोण में, साधनापद्धतियों में तथा प्रतिपादन--शैली में परस्पर इतना पर्याप्त भेद है कि काश्मीर शैव दर्शन के उद्गम और विकास पर शाङ्कर अद्वैत वेदान्त के प्रभाव को किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

३

विकास

काश्मीर शैव दर्शन और अद्वैत शैव आगमों का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो अद्वैत वेदान्त और उपनिषदों के बीच है। ये शैव आगम अनेक थे। उनमें से कुछ एक ही अवशिष्ट रह गए हैं। कुछ एक के उद्धरण और नामोल्लेख दर्शन ग्रन्थों में मिलते हैं। जो आगम इस समय भी मिल रहे हैं, उनमें से प्रधान ये हैं–(१) मालिनी विजयोत्तर तन्त्र, (२) स्वच्छन्द तन्त्र, (३) रुद्रयामल तन्त्र, (४) नेत्र तन्त्र, (५) मृगेन्द्र तन्त्र (६) विज्ञान भैरव, (७) परात्रीशिका और (८) शिव सूत्र। इन में से नं ४ और ५ द्वैत शैव के साथ अधिक सम्बन्ध रखते हैं। और नं ६ और ७ रुद्रयामल मन्त्र के भाग माने जाते हैं। अद्वैतप्रधान और द्वैतप्रधान आगमों में बताये हुए साधना के क्रमों में बहुत अधिक अन्तर नहीं होता है। अतः आगमों का आश्रय लेने में साधकों और आचार्यों ने सीमित दृष्टिकोण को नहीं अपनाया और किसी प्रकार का सङ्कोच नही किया। जैसे उपनिषदों ही के आधार पर अद्वैत वेदान्त और विशिष्टाद्वैत आदि सभी वैष्णव दर्शन तथा श्रीकण्ठ शिवाचार्य का शिवाद्वैत दर्शन ठहराए गए हैं, उसी प्रकार से शैव आगम भी अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत तीनों प्रकार के शैव दर्शनों की सांझी सम्पत्ति हैं। परन्तु इनके विषय में गुण–प्रधान–भाव का आश्रय इन तीनों ने अवश्य ही लिया है । उस क्रम से काश्मीर शैव दर्शन के मूल आधार बने हुए आगम शास्त्रों में से इस समय मिलने वाले आगम मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्द, शिवसूत्र, विज्ञानभैरव और परात्रीशिका ही हैं।

आगम शास्त्र प्रायः शिव और पार्वती के संवाद होते हैं। संवादों में अनेकों बातें प्रसङ्ग से आती हैं। संवाद–संवाद ही होते हैं। वे क्रमबद्ध और नियत रूप से विषय का अनुसरण करने वाले शास्त्र नहीं होते।

शास्त्र सिद्धान्त उनमें इधर–उधर बिखरे पड़े रहते हैं। उन सिद्धान्तों को उनमें से खोज कर, इकट्ठा करके और उचित क्रम में लाकर दार्शनिक शैली के अनुसार प्रस्तुत करने की आवश्यकता होती है। तभी पढ़ने वालों के पल्ले कुछ पड़ सकता है और तभी वे दर्शन शास्त्र सुबोध और विद्वत्प्रिय बन सकते हैं। काश्मीर शैव दर्शन के विषय में यह कार्य तीन प्रमुख महापुरुषों ने किया। तीनों ने पहले शैवी साधना का पूरी तरह से सफल अभ्यास करके तत्त्व के साक्षात्कार के रस का खूब आस्वाद लिया। फिर उस तत्त्व साक्षात्कार को बुद्धि के स्तर में उतार कर उसे ठीक तरह से समझ लिया। तदनन्तर उस साक्षात्कार के दृष्टिकोण के अनुसार शास्त्र–रचना का काम किया। उनमें से आ० सोमानन्द ने आगम–समुद्रों का खूब मन्थन किया। उनमें से दर्शन–सिद्धान्तरूपी अमृत को प्राप्त करके बटोर लिया। तदनन्तर अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों से उन सिद्धान्तों की तुलना करते हुए उनको खूब परखा। फिर न्यायशास्त्र की परार्थानुमान नामक शैली के अनुसार उन सिद्धान्तों को खूब संवार कर शिवदृष्टि नामक शास्त्र में अभिव्यक्त किया। उनके प्रधान शिष्य आ० उत्पलदेव ने उन्हीं सिद्धान्तों को अधिक परिमार्जित और सुबोध रूप देकर ईश्वर प्रत्यभिज्ञा नामक शास्त्र का निर्माण किया। यही ग्रंथ आगे काश्मीर शैव दर्शन का सर्व प्रमुख ग्रंथ बना। आगे चल कर आ० अभिनव गुप्त ने उपरोक्त दोनों आचार्यों के ग्रंथों का स्पष्ट व्याख्यान करके काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों के यथार्थ रूप को पाठकों के लिए सुलभ और सुगम बना दिया। साथ ही उन्होंने काश्मीर शैव दर्शन के त्रिक–आचार की उपासनापद्धतियों का संग्रह करके और उन्हें उचित क्रम में संवार कर शैव दर्शन के प्रयोगात्मक भाग पर अतिदैदीप्यमान प्रकाश डालने वाले तन्त्रालोक नामक ग्रंथ का निर्माण करके इस शास्त्र को सर्वाङ्गसम्पूर्ण बना दिया।

आचार्य सोमानन्द (शिव-दृष्टि)
आचार्य उत्पलदेव (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा)
अभिनवगुप्त (तन्त्रालोक)

आगम शास्त्र

आगम शास्त्रों में से मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में शैव दर्शन के सिद्धान्तों और इसकी साधना के रहस्यों को संक्षेप से रहस्यमयी भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इस तन्त्र के मूल सिद्धान्तों के गूढातिगूढ रहस्यों को आ० अभिनवगुप्त ने मालिनीविजयवार्तिक में स्पष्ट कर दिया है। ऐसा

प्रतीत होता है कि यह तन्त्र सम्भवतः किसी सुविशाल मालिनीतन्त्र का उत्तर भाग हो। स्वच्छन्द तन्त्र में शैव शास्त्र के तत्त्वों का निरूपण ज़रा विस्तारपूर्वक किया गया है। विज्ञानभैरव में, परतत्त्व के स्वरूप का निरूपण करके उस तत्त्व के साक्षात्कार के लिए उपाय बनी हुई एक सौ बारह शैवी साधनाओं का वर्णन किया गया है और साथ ही शैव शास्त्र के ज्ञान–योग की कई एक साधनाओं पर प्रकाश डाला गया है। परात्रीशिका में विशेष करके शैव शास्त्र की शाम्भवी उपासना में उपयोगी बनने वाले मातृका क्रम और मालिनीक्रम का निरूपण विस्तारपूर्वक किया गया है। इस आगम पर आ० अभिनवगुप्त की विवरण नामक टीका में शैव दर्शन के सिद्धान्त और साधना की कई एक गूढ़ ग्रन्थियों को भी खोल दिया गया है। शेष आगमों में भी शैवी साधना के भिन्न–भिन्न अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है।

शिवसूत्र और वसुगुप्त

शिवसूत्र के निर्माता तो कैलासवासी भगवान् शिव ही माने जाते है। आ० वसुगुप्त को ईसा के नवम शतक में शिव के ही अनुग्रह से स्वप्न में दिए गए आदेश द्वारा इन सूत्रों की प्राप्ति हुई[1]। शिव सूत्र भी एक आगम ही है, नैयायिक शैली का दर्शन ग्रन्थ नहीं। शिव सूत्र में शैव दर्शन के शाम्भव उपाय का तथा उस उपाय पर स्थिति के प्राप्त हो जाने पर जिन–जिन फलों की अनायास ही प्राप्ति हो जाती है, उनका भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। शाम्भवी उपासना के फल ही के रूप में शाक्त समावेश और आणव समावेश के कई

---

१. (क) दृब्धं महादेवगिरौ
महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः
श्रीकल्लटस्तत् प्रकटीचकार।। (स्पं. वृ. अन्ते)

(ख) श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि।।
(शि. सू. वा. १–३)

एक प्रकारों का वर्णन शिवसूत्र में किया गया है। शैवी साधना के अनेकों व्यावहारिक और पारमार्थिक फलों का तथा उस साधना के द्वारा प्राप्त होने वाले साधक दृष्टिकोण का भी अतिसुन्दर निरूपण भी शिव सूत्र में किया गया है। वसुगुप्त त्र्यम्बकमठिका के एक प्रधान गुरू थे और शिवसूत्र त्रिकसाधना पर रचा हुआ एक संक्षिप्त और परिमार्जित शास्त्र है। इसमें दर्शन सिद्धान्तों की अपेक्षा साधना और उसके फलों पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है।

कल्लट

वसुगुप्त के प्रधान शिष्य भट्ट कल्लट ने नवम शतक ही के मध्य में शिवसूत्रों में कहे हुए उपासना रहस्यों को स्पन्दकारिका के रूप में पच्चास श्लोकों में सुगम शैली से स्पष्ट करने का यत्न किया[२]। उनकी कारिका के शब्द अतीव सुगम हैं, परन्तु भाव अतीव गूढ हैं। वसुगुप्त और भट्टकल्लट ने और भी कई एक ग्रन्थों की रचना की थी, परन्तु वे ग्रन्थ इस युग में कहीं भी अभी तक नहीं मिले। वसुगुप्त की शिष्यपरम्परा में सातवीं पीढ़ी के शिष्य भट्ट भास्कर ने शिव सूत्रों के रहस्यमय अर्थ को स्पष्ट करने के लिए "शिव–सूत्र–वार्तिक" का निर्माण किया। भट्ट कल्लट द्वारा निर्मित एक अतिसंक्षिप्त "शिवसूत्रवृत्ति" भी मिल रही है। कुछ उसी वृत्ति के आधार पर और कुछ अपने वैदुष्य के बल से आगे आ० अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य आ० क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी नामक टीका का निर्माण किया। पश्चात् उनके शिष्य, केरल देश वासी, वरदराज ने उस विमर्शिनी के आधार पर एक और शिवसूत्रवार्तिक को लिखा। एक ओर से इन दो आचार्यों के दृष्टिकोण में और दूसरी ओर से भट्ट भास्कर के दृष्टिकोण में परस्पर काफी भेद हैं। परन्तु भट्ट भास्कर का दृष्टिकोण ही अधिक ग्राह्य प्रतीत होता हैं, क्योंकि उसे वह अविच्छिन्न गुरुपरम्परा

---

२. सरहस्यान्तः सोऽपि प्रादाद्भट्टाय सूरये।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ।।
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्य–टीकया खण्डमनितमम्।।
(तदेव. १–४ तः ५)

से प्राप्त हुआ है[३]। भट्ट कल्लट ने अपनी स्पनदकारिका पर एक अति संक्षिप्त टीका भी लिखी थी, जिसे स्पन्दसर्वस्व कहते हैं। आगे स्पन्दकारिका पर तीन विस्तृत टीकाओं का निर्माण हुआ (१) आ० उत्पलदेव के शिष्य रामकण्ठ की स्पन्दविवृति, (२) क्षेमराज का स्पन्दनिर्णय और (३) उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका। भट्ट कल्लट के ही युग में भट्ट नारायण नामक गुरु ने स्तवचिन्तामणि का निर्माण किया। यह एक स्तोत्र ग्रन्थ है, जिसमें शास्त्र–रहस्यों का वर्णन काव्य की शैली के द्वारा किया गया है।

सोमानन्द की शिवदृष्टि

आ० सोमानन्द की शिवदृष्टि ही काश्मीर शैवदर्शन का सर्वप्रथम दार्शनिक ग्रन्थ है। वे सिद्ध सङ्गमादित्य के वंश में उनसे पांचवीं पीढ़ी के मठिकागुरु थे और श्री त्र्यम्बकादित्य प्रथम से बीसवीं पीढ़ी के। इन्होंने शिवदृष्टि में शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों का, तत्त्वों की सृष्टि का तथा शैव दर्शन के उस विचित्र अद्वैत सिद्धान्त का, जिसे आगे आ० अभिनवगुप्त ने पराद्वैत या परमाद्वैत नाम दिया, सुन्दर और स्पष्ट वर्णन किया है। वैयाकरणों के शब्द ब्रह्मवाद का और कुछ एक शैवों की शाक्त दृष्टि का भी इसमें भली–भाँति परीक्षण किया गया है। विवर्तवाद की भी खूब आलोचना की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० सोमानन्द के समय में अर्थात् ईसा की नववीं शताब्दी में, कश्मीर देश में वैयाकरणों के शब्द विवर्त्तवाद का पर्याप्त प्रचार था, परन्तु आ० शङ्कर के ब्रह्म विवर्त्तवाद का इतना प्रचार नहीं था। तभी तो शिवदृष्टि में वैयाकरणों के विवर्त्तवाद का खूब विश्लेषण करके उस की आलोचना की गई है, परन्तु अद्वैत वेदान्त के विवर्त्त–

---

३. एवं रहस्यमप्येष मातुलेयाय चावदत्।
श्रीमत्–प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च।।
श्रीमत्–प्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात् सोऽप्येवमावदत्।
श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ पुनः।।
श्रीमच्छ्रीकण्ठभट्टाय प्रददौ स्वसुताय च।
तस्मात् प्राप्य करोम्येष सूत्रवार्तिकमादरात् ।
दैवाकरिभरस्किरोऽहमन्तेवासिगणेरितः । (तदेव १–६ तः ६)

वाद का विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यह निष्कर्ष तो निकाला ही नहीं जा सकता कि आ० सोमानन्द अद्वैत वेदान्त के विवर्त्तवाद से सहमत थे; क्योंकि एक तो उन्होंने विवर्त्त को ही आड़े हाथों लिया है और दूसरे औपनिषद वेदान्त की भी उन्होंने आगे खूब आलोचना की है। साथ ही उन्होंने अविद्या–वाद को ही अयुक्त और अप्रमाण[४] ठहराया है। अद्वैतसिद्धान्त पर जो–जो शङ्काएँ उठ सकती हैं, उन सब को उठा–उठाकर उनका निराकरण भी एक–एक करके इस ग्रन्थ में उन्होंने किया है। आगे सभी वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव, आदि अनेकों दर्शनों के सिद्धान्तों की उन्होंने आलोचना भी की है। उन्होंने औपनिषद वेदान्त के दस मतों का और सब मिलाकर बाईस दार्शनिक मतों का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है। शिवदृष्टि के अन्तिम प्रकरण में उन्होंने मानव–जीवन के पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रयोजनों की प्राप्ति के उपाय बनी हुई अनेकों शैवी साधनाओं का निरूपण किया है । ऐसा करके इस पराद्वैत शैव दर्शन के इस अभिनव आविर्भाव का और साथ ही अपनी वंशपरम्परा का इतिहास भी उन्होंने क्रमपूर्वक लिखा है। आ० सोमानन्द ने जिन और ग्रन्थों का निर्माण किया था, वे इस समय कहीं भी नहीं मिलते । शिवदृष्टि पर आ० उत्पलदेव द्वारा रची गई वृत्ति अधूरी ही मिल रही है और आ० अभिनवगुप्त की आलोचना नामक टीका तो मिलती ही नहीं । शिवदृष्टि के मूल श्लोकों की पूरी हस्तलिखित प्रति तो एक ही अभी तक मिली है और वह भी मद्रास में । इन टीकाओं के अभाव के कारण यद्यपि शिवदृष्टि अतीव दुरूह प्रतीत होती है , फिर भी यह शास्त्र अद्वैत शैव शास्त्र के सूक्ष्मतर विषयों के ज्ञान की एक अमूल्य निधि है ।

उत्पलदेव

आ० सोमानन्द के प्रधान शिष्य आ० उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्य– भिज्ञा और सिद्धत्रयी का निर्माण करके शैवदर्शन के आकाश पर चार चाँद चढ़ा दिए । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में आरम्भ में शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराके बौद्धों के विज्ञानवाद का

४– देखिए पीछे अध्याय २, अंक – १० ।

स्पष्ट विश्लेषण किया गया है। तदनन्तर उसका निराकरण करके आत्मा की वास्तविक सत्ता को सिद्ध किया गया है । तत्पश्चात् आत्मदेव की स्मृति, ज्ञान और अपोहन नामक तीन व्यावहारिक शक्तियों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। फिर जगत् के एकमात्र आधार के रूप में भगवान् परम शिव कीं सत्ता को ठहराकर उसकी परिपूर्ण परमेश्वरता को सिद्ध किया गया है। तदनन्तर इस परमेश्वर की क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति का, उसके द्वारा किया, सम्बन्ध, सामान्य, दिव्य काल आदि पदार्थो के आभास का तथा प्रमातृ–प्रमेयभाव और कार्य–कारण–भाव का भी निरूपण करके छत्तीस तत्त्वों और सात प्रकार के प्रमातृ वर्गो की सृष्टि का संक्षिप्त निरूपण इस शास्त्र में किया गया है। साथ–साथ सांख्य, न्याय, बौद्ध आदि दर्शनों के सिद्धान्तों की आलोचना भी की गई है। सत्त्व, रजस् और तमस् नाम के तीन गुणों के स्वभाव के रहस्यों को और जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में जो कोई त्रुटि रह गई, उसे आ0उत्पलदेव ने सिद्धित्रयी में पूरा किया है। इस ग्रन्थ में अन्तःकरणों के अतिरिक्त तत्त्व के रूप में आत्मा की सिद्धि का, ईश्वर और उसकी ईश्वरता की सिद्धि का तथा सम्बन्ध की सिद्धि का निरूपण सुन्दर और सारगर्भित युक्तियों के आधार पर किया गया है। साथ ही बौद्धों के अनात्मवाद का और सांख्यों के अनीश्वरवाद कीं खण्डन भी किया गया है।

आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और सिद्धित्रयी पर संक्षिप्त टीकाए भी लिखी थीं, जिन्हें 'वृत्ति' नाम दिया गया था। वह वृत्तियाँ इस समय पूरी उपलब्ध नहीं हो रही हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की वृत्ति पर उन्होंने एक विवृति नाम की विस्तृत टीका भी लिखी थी, परन्तु अभी तक वह कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकी है। हां! ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर आगे आ0 अभिनवगुप्त द्वारा रची हुई विमर्शिनी नामक विस्तृत टीका अवश्य ही मिल रही है और इसी टीका ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को काश्मीर शैव दर्शन का सर्वप्रधान शास्त्र बना दिया है। विमर्शिनी से विभूषित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की जितनी भी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। आ0 अभिनवगुप्त के कथन के अनुसार शेष दर्शन शास्त्र इसके सामने चिड़ियों की चहचहाहट से अधिक मूल्य नहीं रखते और शेष सभी

शास्त्रों का समन्वय और आत्महित के लिए उनकी उपयोगिता इसी शास्त्र के द्वारा सिद्ध होते हैं[५]। आ० उत्पलदेव की उपरोक्त दुष्प्राप्य विवृति पर भी आ० अभिनवगुप्त ने एक विवृति–विमर्शिनी नामक विस्तृत टीका लिखी थी। वह टीका छप चुकी है, परन्तु मूल विवृति के न मिलने के कारण पर्याप्त मात्रा में उपयोगी नहीं बन रही है । आचार्य उत्पलदेव एक अच्छे कवि भी थे। उनकी शिवस्त्रोतावलि, जिस में शैव दर्शन के सिद्धान्तों के रहस्य भरे पड़े हैं, अभी तक कश्मीर के ब्राह्मणों में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। आचार्य महोदय ने जो अन्यान्य ग्रन्थ रचे थे, वे इस युग में कहीं नहीं मिलते हैं।

अभिनवगुप्त

आ० अभिनवगुप्त, आ० उत्पलदेव के शिष्य के शिष्य थे और ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में शास्त्रनिर्माण करते रहे। इन्होंने उपरोक्त विमर्शिनी नामक दो टीकाओं, शिवदृष्ट्यालोचन (दुष्प्राप्य), परात्रीशिका–विवरण तथा मालिनीविजय–वार्तिक के अतिरिक्त जिन अनेकों ग्रन्थें की रचना की, उनमें तन्त्रालोक का महत्त्व सबसे अधिक है। इस शास्त्र को त्रिक आचार की साधाना के प्रकारों और उनके स्वरूप के व्याख्यानों की एक अमूल्य निधि ही समझिए। इस शास्त्र में कहीं–कहीं प्रसंगवश शैवदर्शन के ज्ञानपक्ष के सिद्धान्तों पर जो प्रकाश डाला गया है, वह तो अपूर्व ही है। इसपर आगे बारहवीं शताब्दी में जयरथ नामक विद्वान् ने एक विस्तृत टीका का भी निर्माण किया। आ० अभिनवगुप्त का तन्त्रसार इस तन्त्रालोक का एक गद्यात्मक संक्षेपमात्र है और तन्त्रवटधानिका उस संक्षेप का भी पद्यात्मक संक्षेप है। इनके अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में परमार्थसार, बोधपञ्चदशिका और परमार्थचर्चा शैव दर्शन के प्रारम्भिक

५– कल्पान्ताम्बुनिधेः प्रचण्डपवन–प्रक्षोभितौवनिल–
ज्वाला–जाल–मिलत्तरङ्ग–वलना–नश्यत्कुल–क्ष्माभृतः
भूयानप्यवगाहनाय प्रभवेन्नत्वीश्वराभिज्ञया
निर्णीतस्य विधेर्विमर्शविषये शक्तः परः शङ्करात् ।।
(ई०प्र०वि०वि०अन्ते)

पाठकों के लिए बहुत उपयुक्त हो सकते हैं । इनके अनेकों शास्त्ररहस्यों से भरे हुए स्तोत्रों में से कुछ एक अब भी मिल रहे हैं। उनमें प्रमुख ये हैं:—

क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुभवनिवेदनस्तोत्र, अनुत्तराष्टिकास्तोत्र और देहस्थ—देवताचक्र—स्तोत्र। इन्होंने भगवद्गीता पर भी एक टीका लिखी, जो अनेकों विरोधात्मक पहेलियों को सुलझाती हुई गीता के अतिगूढ रहस्यार्थों पर प्रकाश डालती है। आ० रामकण्ठ की भी एक गीताटीका इस समय मिलती है। आ० अभिनवगुप्त सर्वशास्त्रज्ञ थे, अतः इन्होंने अन्यान्य शास्त्रों पर अनेक ग्रन्थ और भाष्य भी लिखे, जिनमें से कुछ एक अभी तक उपलब्ध हैं। उनमें से साहित्य शास्त्र पर लिखी हुई अभिनवभारती नामक नाट्यशास्त्रटीका और ध्वन्यालोक की लोचनटीका बहुत अधिक महत्त्व की हैं।

अन्य लेखक

आ० अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य आ० क्षेमराज थे । इन्होंने प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दसन्दोह, पराप्रवेशिका तथा बोधविलास नामक स्वतंत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखकर शैवशास्त्र को पाठकों के लिए सुगम बना दिया । इनके शिष्य योगराज ने परमार्थसार पर टीका लिखी। आगे किसी अज्ञात नाम वाले लेखक का षट्त्रिंशत्—तत्त्व—सन्दोह भी एक अंच्छा ग्रन्थ है।

कौल सम्प्रदाय के कुछ एक आचार्यों ने जिन शैव ग्रन्थों की रचना की, उनमें से महाराष्ट्रनिवासी महेश्वरानन्द (गोरक्षनाथ) की महार्थमञ्जरी और उसकी परिमल नामक टीका, कश्मीर के शितिकण्ठ का महानयप्रकाश, पुण्यानन्दनाथ का कामकलाविलास, स्वतन्त्रानन्दनाथ का मातृकाचक्रविवेक, वातूलनाथ का सूत्र तथा चक्रपाणिनाथ का भावोपहार महत्त्व के ग्रन्थ हैं। आगे उपनिषदों तथा अद्वैत वेदान्त के ब्रह्मवाद से प्रभावित सत्रहवीं शताब्दी के कौलसम्प्रदाय के प्रसिद्ध कश्मीरी सिद्ध श्री साहिब कौल के कल्पवृक्षप्रबन्ध, सच्चिदानन्दकन्दली, शिवजीवदशक आदि अनेक महत्वशाली ग्रन्थ अमुद्रित दशा में पड़े हुए हैं। अट्ठारहवीं शती में वेदान्त से प्रभावित एक और शैव आचार्य श्रीशिवोपाध्याय ने श्रीविद्या नामक ग्रन्थ का और विज्ञान

भैरव की टीका का निर्माण किया। नागार्जुन नाम के एक शैव आचार्य थे, जिनके दो स्तोत्र मिल रहे हैं । दोनों स्तोत्र अतीव सुन्दर हैं और शैवदर्शन के रहस्यों से भरे पड़े हैं। ये स्तोत्र हैं (1) चित्तसन्तोषत्रिंशिका और (परमार्चन–त्रिंशिका। ये नागार्जुन कौन थे और कहां के थे, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार से किसी कालिदास नामक सिद्ध की चिद्गगनचन्द्रिका और किसी विरूपाक्षनाथ की विरूपाक्षपञ्चाशिका नामक शैव स्तोत्र भी अतीव सुन्दर है।

कश्मीर मण्डल में आगे भी छोटे–मोटे शास्त्रों, स्तोत्रों, टीकाओं आदि के निर्माण की परम्परा चलती ही रही और वर्तमान युग तक चलती ही आ रही है। वर्तमान पुस्तक के लेखक ने भी शैवशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों के सिद्धान्तों का संग्रह करके स्वातन्त्र्यदर्पण नाम के एक कारिकात्मक शास्त्र की रचना की है। उसके गुरु महाराज ने, जो उत्तर प्रदेश के एक चरक (घूमने वाले) महापुरुष हैं, आत्मविलास, विंशतिकाशास्त्र, सिद्धमहारहस्य, महानुभव शक्तिस्तोत्र, षट्त्रिंशत्तत्त्व स्तोत्र, मन्दाक्रान्तास्तोत्र आदि कई एक अद्भुत ग्रन्थों का निर्माण किया है। उन ग्रन्थों के सिद्धान्त अधिकांश में काश्मीर शैव दर्शन से मिलते हैं। विशेष करके आत्मविलास में वेदान्तिक अद्वैत और सिद्धसम्प्रदाय के अद्वैत की जो तुलना की गई है, वह काश्मीर–शैव–दर्शन के विचारों से बहुत मिलती है । वर्तमान पुस्तक के लेखक ने इन से पहले चार पर संस्कृत में टीकाएँ लिखी हैं, जिनमें से दो छप चुकी हैं। आत्मविलास और सिद्धमहारहस्य की टीकाएँ भी शीघ्र ही छपने वाली हैं।

काश्मीर शैव दर्शन पर संस्कृत भाषा में ग्रन्थों का एक बड़ा भारी भण्डार मिल रहा है, जिससे संस्कृत के विद्वानों को अपूर्व लाभ मिल सकता है। परन्तु हिन्दी भाषा में इस शास्त्र पर अभी तक कुछ नहीं छपा। उसी त्रुटि को पूरा करने के लिए वर्तमान शास्त्र का निर्माण किया जा रहा है। आगे एक और विशालतर ग्रन्थ की रचना करने का भी विचार है। अंग्रेज़ी में भी अभी तक इस शास्त्र पर अच्छी और विषय पर यथार्थ प्रकाश डालने वाली कोई भी रचना प्रकाशित नहीं हुई। उस कमी को बहुत मात्रा में पूरा करने वाला वर्तमान

लेखक का शोधप्रबन्ध – "The Saivism of Kashmir- A Comparative Study" शीघ्र ही छपने वाला है । अंग्रेज़ी में इस विषय पर एक संक्षिप्त ग्रन्थ की रचना का विचार भी चल ही रहा है । आगे शिव की इच्छा ।

४

अन्य दर्शन

सभ्यता के क्रमिक विकास में ज्यों–ज्यों मानव आहार, आच्छादन, निवास, सुरक्षा, सामाजिक व्यवस्था, शासन व्यवस्था आदि के विषय में अपनी उलझनों को सुलझाता गया, त्यों–त्यों उसका मस्तिष्क या तो ललितकलाओं की ओर या धर्म और दर्शन की ओर प्रवृत्त होता गया । मानवमस्तिष्क में इस प्रकार की जिज्ञासाएँ प्रकट होती गईं कि–मैं कौन हूँ , क्या हूँ , क्यों ऐसा हूँ , कैसे हूँ , यह मेरा संसार क्या है, क्यों है, कैसे है, हम दोनों का मूल आविर्भाव कहां से हुआ; क्यों हुआ, और कैसे हुआ, हमारा प्रयोजन क्या है; मैं इस संसार में किस प्रयोजन के लिए आया; उस प्रयोजन को प्राप्त करने का उपाय क्या है इत्यादि । ऐसी दार्शनिक जिज्ञासाओं के विषय में कुछ एक बुद्धिमान महानुभावों ने बुद्धि के बल से सोच और समझ के द्वारा उचित समाधान करने का यत्न किया। परन्तु कुछ एक भावुक जिज्ञासु इन विषयों के चिन्तन में इतने तन्मय हो गए कि उनकी बुद्धि भी उस तन्मयता में कहीं विलीन हो गई। तब उन्हें अपनी आत्मा का स्वयमेव साक्षात्कार होने लगा। आत्मा की लोकव्यवहार की जाग्रत् दशा और सोच–समझ की स्वप्नदशा से परे और दो दशाएँ होती हैं। उन्हें सुषुप्ति और तुर्या कहते हैं। इन दोनों दशाओं में भी कई–कई अवान्तर भूमिकाएँ होती हैं। तो तन्मयता में विलीन हुए उन जिज्ञासुओं में से जिस–जिस जिज्ञासु को जिस–जिस दशा की जिस–जिस भूमिका में ठहरी हुई अपनी आत्मा का साक्षात्कार हुआ, उस–उस जिज्ञासु ने बाद में उसी–उसी भूमिका के उस–उस साक्षात्कार के संस्कार के अनुसार ही उपरोक्त प्रश्नों का समाधान करने का यत्न किया । इस यत्न में उनकी बुद्धि का बल और उनकी वाणी की चतुराई ने भी काफी सहायता की। ऐसे साक्षात्कारी महापुरुष ऋषि कहलाए[1], और उन ऋषियों के वे

१– साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।(निः१–२०–२)

साक्षात्कार उनके दर्शन कहलाए। उन–उन साक्षात्कारों के अनुसार उन–उन ऋषियों द्वारा किए गए उपदेश भी दर्शन ही कहलाए। इन्हीं दर्शनों का अभ्यास आगे पढ़ने और पढ़ाने वालों ने और लिखने तथा लिखाने वालों ने किया । इन ऋषियों को उन भिन्न–भिन्न दशाओं की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में ठहरी हुई आत्मा के स्वभाव का जो साक्षात्कार हुआ, वह फलतः भिन्न–भिन्न प्रकार का ही हुआ, एक ही प्रकार का नहीं। ऐसा होना तो स्वाभाविक ही था। उस भिन्न–भिन्न प्रकार के साक्षात्कार के कारण इन ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत तत्त्व भी इन्हें भिन्न–भिन्न प्रकार का ही अनुभव में आया और तदनुसार इनके उपदेशों और दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त भेद प्रकट हुआ। फिर सभी ऋषियों का बुद्धिबल, और वाणीबल एक जैसा नहीं था। अतः यदि कभी किन्हीं ऋषियों को आत्मा की किसी एक ही दशा की किसी एक ही भूमिका का साक्षात्कार हुआ, फिर भी उन साक्षात्कार द्वारा साक्षात्कृत तत्त्व को बुद्धि के स्तर में समझ लेने में और तदनुसार उसे वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने में आपाततः काफी भेद देखने में आया । इस तरह से दर्शन विद्या मूल से ही अनेक रूपों में प्रकट होती रहीं और आगे पढ़ने–पढ़ाने और लिखने–लिखाने की परम्पराओं में उसका विकास और भी अवान्तर प्रकारों में होता गया । इसीलिए संसार में भिन्न–भिन्न प्रकार के धर्म और दर्शन प्रकट होते रहे ।

काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में सभी दर्शन–सिद्धान्त, सभी वाद तथा सभी साधना–क्रम सच्चे हैं । इनमें से कोई भी असत्य नहीं है । प्रत्येक मान्य दर्शन मानव को इस जाग्रत् संसार में ऊपर उठाकर स्वप्न, सुषुप्ति या तुर्या की किसी न किसी अवान्तर भूमिका तक पहुंचा ही सकता है, यदि यथार्थ रीति से उसका अभ्यास किया जाए। नास्तिकों का चार्वाक दर्शन भी सत्य ही है, यद्यपि वह इस जाग्रत् संसार में ही प्रगति के किसी पद पर पहुंचा सकता है। तभी तो वह दर्शन मानव जीवन के लौकिक प्रयोजनों को, अर्थात् अर्थ और काम को, प्राप्त करा सकता है। यह बात और है कि धर्म और मोक्ष रूपी दो प्रयोजनों की प्राप्ति में वह बाधा डालता है । जिस प्रयोजन के लिए उसका आविर्भाव और विकास हुआ है, उस प्रयोजन को तो सिद्ध कर ही देता है। इसीलिए सांसारिक व्यवहार में, राजनीति में, कृषि में, चिकित्सा

में, उद्योगधन्धों में तथा धन कमाने में, सर्वत्र चार्वाक दर्शन ही सफलतापूर्वक चलता है । अतः चार्वाक दर्शन की भी सत्यता निर्विवाद है । फिर उत्कृष्ट दर्शनों की सत्यता के विषय में क्या कहना। परन्तु जो दर्शन साधक को तुर्या दशा की चरम भूमिका पर न पहुंचाता हुआ और किसी मध्यवर्ती पड़ाव पर ही ठहराता हुआ उसी पड़ाव को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मनवाए, उस दर्शन को सर्वथा सत्य दर्शन नहीं कहा जा सकता। ऐसा दर्शन अंशतः ही सत्य हो सकता है और अवर कोटि के अधिकारियों के लिए हितकारी हो सकता है। अतः न्याय, सांख्य आदि छः वैदिक दर्शन, विशिष्टाद्वैत आदि चार वैष्णव दर्शन, पाशुपत आदि चार द्वैत शैव दर्शन तथा जैन, बौद्ध आदि सभी दर्शन अंशतः सत्य ही हैं, परन्तु जीवन के चरम लक्ष्य तक न पहुंचा सकने के कारण सर्वथा सत्य नहीं हैं। पूरी तरह से जो दर्शन सत्य दर्शन है, वह सिद्धों का पराद्वैत दर्शन ही है। इस दर्शन को महाराष्ट्र के स्वतन्त्रानन्द नाथ नामक सिद्ध ने "सैद्धं मतम्"[२] ऐसा कहा है । परमेश्वर के परिपूर्ण अनुग्रह से प्रेरित हुए भगवान् दुर्वासा से लेकर आ० अभिनवगुप्त के के सिद्धों के प्रयत्नों के द्वारा उस पराद्वैत "सैद्ध" दर्शन का आविर्भाव और परिपूर्ण विकास अति सुन्दर ढंग से हुआ है ।

सभी मानवों की मानसिक योग्यता एक जैसी नहीं होती है। अतः एक ही दर्शन–विद्या प्रत्येक मानव के लिए हितकर नहीं हो सकती है। इसी कारण से परमेश्वर ने भिन्न–भिन्न प्रकार के मानव हृदयों को सन्तुष्ट करने के लिए और उन्हें आध्यात्मिक विकास में आगे–आगे बढ़ाने के लिए अनेकों ऋषियों के द्वारा अनेक धर्मो और दर्शनों का आविर्भाव और विकास करवाया है, ऐसा काश्मीर शैव शास्त्र का सिद्धान्त है[३]।

२– ज्ञानस्य सिद्धयति विना क्रियया न रूपं
तस्यास्तथैव न हि तेन विनोपलम्भः ।
तस्मात्तयोर्यमलतैव मतं हि सैद्धं
पूर्वापरत्वकलनं त्विह पूर्वपक्षः ।। (मा.च.वि.१–१६)

३– चित्तभेदान्मनुष्याणा शास्त्रभेदो वरानने ।
व्याधिभेदाद्यथां भेदो भेषजानां महौजसाम् ।।
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति ।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ।। (तं.आ.खं.३,प.५५)

स्वर्गवाद

मीमांसा आदि दर्शन तो मानव की आत्मा को स्वर्ग आदि लोकों तक पहुंचा सकते हैं, परन्तु वहां से तो कुछ समय के अनन्तर फिर इसी मर्त्यलोक में वापिस आना पड़ता है। मीमांसा शास्त्र मानव जीवन के विषय में उलझी हुई उपरोक्त दार्शनिक समस्याओं के विषय में मौन है। अतः जिज्ञासु के चित्त को उस दर्शन से सन्तोष नहीं होता। हां किसी भी शास्त्र के वाक्यों के तात्पर्य–अर्थ को समझने के लिए मीमांसा शास्त्र का संस्कार जिज्ञासु के लिए अतीव उपयोगी होता है। मीमांसा शास्त्र के अभ्यास के बिना कोई भी विद्वान् अपनी विद्वत्ता में परिपक्व नहीं बन सकता, क्योंकि उसकी तात्पर्य निर्णय करने की बुद्धि अधूरी रह जाती है।

वैष्णवदर्शन साधक को भगवान् नारायण के वैकुण्ठ लोक तक पहुंचाकर उसे सायुज्य आदि मुक्ति दिला सकते हैं। परन्तु अवान्तर प्रलय के हो जाने पर जब सारी की सारी त्रिगुणात्मक सृष्टि मूल प्रकृति में विलीन हो जाती है, तो वैकुण्ठ आदि लोक कहां ठहर सकते हैं [४]। उस प्रलय के काल के अनन्तर जिस समय भगवान् श्रीकण्ठनाथ मूल प्रकृति में पुनः क्षोभ लाकर नई तत्त्व सृष्टि करने लग जाते हैं, तो उस समय कई प्रकार के मुक्त जीव भी जब फिर से जन्म मरण रूपी संसृति के चक्कर में उलझ जाते हैं [५], तो वैकुण्ठवासियों की बात ही क्या । जीवात्माओं को अविद्या ने कब, क्यों और कैसे घेर लिया, इस प्रश्न का उचित समाधान वैष्णवदर्शन नहीं कर पाए। इस अविद्या को उन्होंने अनादि मानकर इस प्रश्न को छोड़ ही दिया । यही नीति पाशुपत आदि दाक्षिणात्य शैवदर्शनों

४– विरञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं
विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम् ।
वितन्द्रा माहेन्द्री विततिरपि सम्मीलति दृशं
महासंहारेऽस्मिन् विलसति सति त्वत् पतिरसौ ।। (सौं, ल, २६)

५– ततश्च ब्रह्मा रुद्राश्च अनाद्यधिकारिणोऽव्यक्ते तिष्ठन्ति ।
श्रीकण्ठनाथश्च तदा संहर्ता । एषोऽवान्तरप्रलयः। तत्क्षयेसृष्टिः।
तत्र शास्त्रान्तरमुक्ता अपि सृज्यन्ते । (तं.सा.पृ.५५)

ने अपनाई ।

आरम्भवाद

न्याय वैशेषिक दर्शनों के आरम्भवाद के अनुसार परमात्मा जीवों के हित के लिए परमाणुओं को जोड़–जोड़कर संसार की सृष्टि करता है, इसे टिकाए रखता है, इस पर कर्मफल योग के नियम को चलाता है और अन्त पर परमाणुओं को पुनः अलग–अलग करता हुए इसका नाश करता है। सृष्टि के हो जाने पर ही जीव एक तो अपने कर्मों का फल भोग सकते हैं और दूसरे अपने अनादि मिथ्या ज्ञान को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा मिटा सकते हैं। मिथ्या ज्ञान के नष्ट हो जाने पर उन्हें राग आदि दोषों से छुटकारा मिल सकता है और उससे वे किसी वस्तु के जानने और करने के प्रति प्रवृत्तिरहित ही जा सकते हैं। ऐसी प्रवृत्तिहीनता की अवस्था को प्राप्त करके जब जीव का वर्तमान शरीर प्रारब्ध की समाप्ति पर छूटेगा तो जीव शून्य गमन की तरह अकर्मण्यता की दशा में पड़ा रहेगा। न कुछ जानेगा, न करेगा, न चाहेगा। जीव की ऐसी दशा को न्याय वैशेषिक दर्शनों में अपवर्ग[६] नाम दिया गया है। इस अपवर्ग को ही वहां उत्कृष्ट मुक्ति माना गया है और इसी को जीवन का चरम लक्ष्य कहा गया है।

इस न्याय वैशेषिक सिद्धान्त में भी जीवों के कर्मो के और उनके मिथ्या ज्ञान के अनादित्व की कल्पना का दोष रह ही जाता है। इस से जिज्ञासु मानव हृदय पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। अपवर्ग की अकर्मण्यता की दशा तो शून्य गगन की जैसी जड़ता से मिलती–जुलती है[७]। अतः यह दशा सुषुप्ति की एक निचली भूमिका हो सकती है । जैसा

६–(क) मिथ्याज्ञानाद्रागद्वेषमोहास्ततो दोषाः। ततः प्रवृत्तिस्ततो जन्म ततो दुःखम्। (न्या.भा.४–१–२)

(ख) मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात् तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्गः।(तदेव ४–१–२)

७–(क) अपवर्गस्त्यागमोक्षयोः, क्रियावसाने साकल्य इति हेमः ।

(ख) ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।।

कि कहा गया है उस भूमिका में पड़े हुए जीव श्रीकण्ठनाथ द्वारा की जाने वाली नई सृष्टि में पुनः संसृति में उलझ जाते हैं। अतः यह अपवर्गवाद मूलप्रकृति के नवीन क्षोभ की अवस्था से पहले–पहले तक सत्य है, पर उस क्षोभ के हो जाने पर सत्य नहीं। अतः अपवर्ग की अवस्था एक तो आंशिक मुक्ति है, पूरी नहीं। फिर यह मुक्ति चिर मुक्ति भी नहीं है । परमाणुवाद तो उस भूमिका में सत्य है। जिसमें ब्रह्मा जी त्रिलोकी की सृष्टि करते हैं और कालाग्निरुद्र उसका संहार करते हैं। उससे ऊपर वाली तत्त्वसृष्टि में परमाणुवाद ठहर नहीं सकता। वहां तो अहङ्कार तत्त्व के तामस अंशों से परमाणुओं की भी सृष्टि होती है। अतः परमाणु भी नित्य द्रव्य नहीं। इस तरह से इन दर्शनों का परमाणुवाद और अपवर्गवाद दोनों ही निचली भूमिकाओं के दर्शन हैं। अतः ये वाद परमार्थतया सत्य नहीं और न ही जीवन के वास्तविक चरम लक्ष्य तक पहुंचा सकते हैं। परमात्मा द्वारा किया जाने वाला संसार का यह आरम्भ भी एक बीच का कार्य हो सकता है । मूल सृष्टि तो इससे बहुत दूर पर ठहरी हुई कोई परमेश्वरी क्रिया हो सकती है ।

परिणामवाद

इस आरम्भवाद से कुछ उत्कृष्ट सांख्य योग का परिणामवाद है। उस वाद के अनुसार दो ही नित्य पदार्थ हैं और वे हैं पुरुष और प्रकृति। प्रकृति एक है और पुरुष असंख्य हैं। प्रकृति जड़ है परन्तु अपने स्वभाव से ही पुरुषों के हित के लिए उसमें क्षोभ हो जाता है[८]। इस क्षोभ से उसके तीन गुणों अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण

ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ।
संसारबन्धनाधीन–दुःखक्लेशाद्यदूषितम् ।।
(न्या.मं. १–१–२२)

ऊर्मिषट्कम्–उत्पत्ति, विनाशं, क्षुधा, पिपासा, शोक और मोह ।

८–(क) एवं क्षुब्धात् प्रधानात् (मूलप्रकृतेः) कर्त्तव्यान्तरोदयो नाक्षुब्धात् । (तं.सा.पृ.८५)

(ख) वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।। (सां.का. ५७)

की साम्य अवस्था अदृश्य हो जाती है और गुणों मं वैषम्य आ जाता है। गुणों के साम्य की अवस्था में सारा ही संसार प्रकृति में विलीन होकर रहता है। परन्तु उनमें जब विषमता आने लगती है, तो क्रम से अन्तःकरण, बाह्यकरण, तन्मात्र दर्शन और भूत (परमाणु) ये सभी जड़ तत्त्व प्रकट हो जाते हैं [९]। प्रकृति ही क्रम से इन तत्त्वों में परिवर्तित हो जाती है। इन तत्त्वों में भी जब परस्पर मिश्रण और पुनः–पुनः परिवर्तन आ जाता है तो, असंख्य प्रकार के भुवन, शरीर और भाव प्रकट हो जाते हैं, प्रलय के समय सभी भुवन आदि पदार्थ पुनः भूततत्त्वों में परिवर्तित हो जाते हैं। और वे क्रम से पुनः मूलप्रकृति में विलीन हो जाते हैं । जैसे सभी रूप और रस पृथ्वी ही के परिणाम हैं और मिटकर सभी पृथ्वी में ही विलीन हो जाते हैं, उसी तरह से समस्त ब्रह्माण्ड मूलप्रकृति का परिणाम है और किसी समय पुनः मूलप्रकृति में ही विलीन होने वाला है।

जब मूलप्रकृति संसार का रूप धारण करती है, तो पुरुषों अर्थात् जीवों को एक तो कर्मफल का भोग मिल सकता है, दूसरे उन्हें योग के अभ्यास से विवेक की प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः पुण्य– पाप, ज्ञान–अज्ञान, सुख–दुःख, ये सभी धर्म प्रकृति के हैं[१०]। पुरुष का केवल एक धर्म है और वह है चेतना। परन्तु पुरुषों को अनादि काल से ही एक अविवेक ने घेर कर रखा है, जिससे वे प्रकृति के धर्मों को अपने धर्म समझ बैठे हैं। इसी से उन्हें सुख–दुःख आदि का उपभोग होता है। प्रकृति का एक परिणाम बुद्धितत्त्व है । यह एक निर्मल तत्त्व होता है। इसी कारण दर्पण की तरह एक ओर से विषयों के प्रतिबिम्ब को और दूसरी ओर से पुरुष के प्रतिबिम्ब को धारण करता है । उसका फल यह निकलता है कि एक ओर से बुद्धि विषयों के रूप को धारण करती है और दूसरी ओर से चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब के बल से चेतन

९– प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मादगणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।(सां.का.–२२)

१०– तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।। (सां.का. –६२)

की तरह ही समस्त व्यवहार करने लगती है। उधर से पुरुष भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ बुद्धि के स्वभावों को अपने स्वभाव समझ बैठता है और इस अविवेक के कारण बुद्धि के समस्त परिणामों का, अर्थात् सुख–दुःख, ज्ञान–अज्ञान, इच्छा–द्वेष, धर्म–अधर्म आदि का, साक्षी बनता रहता है [११]। उसका यह साक्षिभाव ही उसे सुख, दुःख आदि के भोग का हेतु बनाता रहता है। परन्तु जब किसी पुरुष को योग के अभ्यास से यह विवेक आ जाता है कि यह सारा प्रपञ्च बुद्धि का है। मेरा इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं। मैं तो पद्मपत्र की तरह निर्लेप और शुद्ध हूँ । तो ऐसा होने पर जब उसका शरीर छूट जाता है, तो बुद्धि भी उसे छोड़ ही देती है [१२]। बुद्धि के छूट जाने पर नए शरीर को कौन धारण करे । इस तरह से उस पुरुष को शरीर से भी और अन्तः करणों से भी तथा अन्य सभी वस्तुओं से भी छुटकारा मिल जाता है। उस पुरुष में केवल चेतना रह जाती है, परन्तु उस चेतना का कोई भी ज्ञान, सुख आदि फल उसे शेष रहता नहीं। वह समस्त संसार से छूटकर एक चिरस्थायी अकेलेपन में शून्य गगन ही की तरह पड़ा रहता है। इस अकेलेपन की शून्याकार परम शान्ति को कैवल्य की दशा कहते हैं। सांख्य योग दर्शनों के अनुसार यही दशा मुक्ति कहलाती है और इसी को प्राप्त करना जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

शैव दर्शन की दृष्टि में उपरोक्त सभी सिद्धान्त यथार्थ हैं। परन्तु प्रकृति और पुरुषों के उद्गम के स्रोत को न ढूंढना और अविवेक तथा कर्मों का अनादि मानना शैवों के लिए सन्तोषप्रद नहीं। वे इससे भी आगे खोज करते हैं। फिर शैवों की दृष्टि में यह कैवल्य की दशा भी सुषुप्ति ही की एक भूमिका सिद्ध होती है । अतः अपवर्ग की दशा की ही तरह यह यथार्थ मुक्ति की और सदातन मुक्ति की दशा नहीं।

११–(क) तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च।।(सां.का.–१९)
(ख) तस्मात्तत् संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।।(तदेव–२०)

१२– दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्वन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।।(तदेव–६६)

कैवल्य की दशा में पड़े हुए जीवों को भी भगवान् श्रीकण्ठनाथ प्रकृति के अभिनव क्षोभ के समय पुनः सुषुप्ति से जगाकर संसृति के चक्कर में पूर्वकर्मों के अनुसार उलझा देते हैं, ऐसा शैव दर्शन का सिद्धान्त है। फिर प्रकृति का कोई भी परिणाम ऐसा नहीं होता, जिसमें कोई विशेष प्रयोजन निहित न हो। प्रयोजन के अन्तः अनुसन्धान के बिना ऐसे सुविचित्र परिणामों का होना सम्भव नहीं। जड़ प्रकृति स्वयं ऐसा अनुसन्धान नहीं कर सकती। अतः उसको इन विचित्र परिणामों के प्रति किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान चेतन तत्त्व की प्रेरणा अवश्य ही प्राप्त हुई होनी चाहिए। अतः प्रकृति के प्रेरक और नियामक के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये बिना सांख्य दर्शन का परिणामवाद चल ही नहीं सकता[13]। योग दर्शन ने ईश्वर की सत्ता को माना तो है, परन्तु उस ईश्वर को केवल एक कैवल्य के मार्ग का प्रदर्शक नित्य मुक्त पुरुष विशेष ही ठहराया है। सृष्टि, स्थिति, संहार आदि की शक्ति या प्रकृति की प्रेरणा करने या नियमन करने की शक्ति उसमें नहीं मानी है[14]। अतः सांख्य योग का परिणामवाद भी शैव दर्शन की दृष्टि से बहुत दूर नहीं पहुंच सकता। वर्तमान काल का भौतिक विज्ञान भी इस परिणामवाद तक लगभग पहुंच ही चुका है।

आभासवाद

बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्तदर्शन का आभासवाद साधक को कुछ

१३–(क) स च क्षोभः प्रकृतेस्तत्त्वेशाधिष्ठानादेव।
अन्यथा नियतं पुरुषं प्रतीति न सिद्धयेत्। (तं.सा. ५–८५)
(ख) लोकयात्रानुसन्धानवतीं प्रजां बिना न हि।।
तथा चिकीर्षां च बिना विचित्ररचनोद्भवः।
स्थूलतामात्रमेव स्यान्नतु लोकोपयोगिनी।।
रचना नियमेन स्याद्विचित्रा जातिरूपिणी।।(ई.सि.३१ तः३३)

१४– क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
(यो.सू.१–२६)
स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। (तदेव–१–२७)।

और आगे ले जा सकता है। इन दर्शनों के अनुसार यह संसार केवल आभासित ही होता है, अर्थात् केवल प्रतीत ही होता है। इसकी वास्तविक सत्ता तो है ही नहीं। बौद्धवाद में केवल क्षण–क्षण में उदय और लय को प्राप्त होने वाले विज्ञान ही की सत्ता को स्वीकार किया गया है। उस क्षणिक विज्ञान की परम्परा में कोई भी विज्ञान (चित्त में उदय होने वाला विचार) एक क्षण से अधिक देर तक स्थिर नहीं टिकता। लगभग अपने सदृश दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करके स्वयं विलीन हो जाता है। जैसे एक नदी में या एक दीप की ज्योति में कोई जलधारा या कोई ज्वाला स्थिर नहीं टिकती। क्षण–क्षण में बीत जाती हुई भिन्न–भिन्न जलधाराओं की अविच्छिन्न परम्परा को ही कल्पना के आसरे से 'एक नदी' कहा जाता है और जाना जाता है तथा क्षण–क्षण में नष्ट होती हुई भिन्न–भिन्न ज्वालाओं की अविच्छिन्न परम्परा को ही कल्पना ही के बल से 'एकज्योति' कहा जाता है और जाना जाता है। वस्तुतः असंख्य क्षणिक जलधाराएँ ही होती हैं और वैसी ही क्षणिक ज्वालाएं होती हैं । लगातार ठहरी रहने वाली कोई भी एक वस्तु वहां नहीं होती । इसी तरह से प्रत्येक घट आदि बाह्य और सुख आदि आन्तर वस्तु के आभासों में कहीं भी कोई एक स्थिर वस्तु नहीं होती है । अनन्त क्षणिक वस्तुओं की परम्पराओं में एकता का और एकवस्तु होने का जो आभास हमें होता है, वह कल्पना मात्र है और भ्रम है। जिस तरह से इन प्रमेय वस्तुओं को भ्रम से ही एक वस्तु के रूप में जाना जाता है, उसी तरह से क्षण–क्षण में विलीन होते हुए चित्त के विज्ञानों की परम्परा को ही भ्रम ही के कारण कल्पना ही के आधार पर स्थिर रहने वाला आत्मा समझा और कहा जाता है। वस्तुतः क्षणिक चित्त और उसके क्षणिक विचारों को छोड़कर और किसी भी वस्तु की सत्ता है ही नहीं। क्षणिक चित्तों की इन परम्पराओं को अनादि वासनाएँ घेरे रखती हैं। इन वासनाओं के प्रभाव से इन क्षणिक चित्तों में दो प्रकार के विचारों का उदय होता ही रहता है। ये चित्त अपने विषय में "मैं" इस प्रकार की कल्पना करते रहते हैं । इसे आलय विज्ञान कहा जाता है। फिर अपने ऊपर पड़े हुए आन्तर (सुख–दुःख आदि) और बाह्य (नील–पीत आदि) विषयों के प्रतिबिम्बों के विषय

में प्रमेयता की कल्पना करते हुए उन्हें प्रमेयतया जानते रहते हैं । इस प्रकार के विचारों को प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं[१५]। बौद्धों की सर्वास्तिवादी शाखा में चित्त और उसके विचार (चैत्त) तथा पञ्चभूत और पञ्च भौतिक पदार्थों की सत्ता को मान लेते हैं। परन्तु योगाचार शाखा के विज्ञानवादी बौद्धों का यह मत है कि एक मात्र क्षणिक विज्ञान रूप चित्त ही केवल है। शेष सभी चैत्त वस्तुएँ तथा भूत और भौतिक वस्तुएँ चित्त की वासनाओं ही के कारण अवभासित होती हैं। जिस तरह से चित्त की वासनाएँ स्वप्न के भीतर विचित्र और असत्य जगत् का अवभास मात्र कराती रहती हैं, उसी तरह से जाग्रत् अवस्था के वैचित्र्य का अवभास भी केवल वासनाओं ही के कारण होता रहता है। अतः चित्त को छोड़कर न जगत ही कोई वस्तु है और न जीव ही[१६]। माध्यमिक शाखा के शून्यवादी बौद्धों का यह मत है कि अष्टमार्ग की उपासना के द्वारा जब अविद्या आदि क्लेश क्षीण हो जाते हैं और जगत के मिथ्या होने का निश्चय चित्त पर पक्का हो जाता है तो शरीर के छूट जाने पर आलय विज्ञान की धारा का भी उच्छेद हो जाता है[१७]। शेष क्या रहता है? – जीव रूप में समझे जाने वाले आलय विज्ञान का तो कुछ भी शेष नहीं रहता। उसकी सत्ता का ही उच्छेद हो जाता है। हां असंख्य अन्य–अन्य आलय विज्ञानों या असंख्य चित्तों की धाराओं और उनकी वासनाओं के प्रपञ्चों के रूप में यह संसार चलता ही रहता है । जब किसी दीपक में तेल समाप्त हो जाता

१५– तत् स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमात्मकम् ।
तत् स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।।
(सं.द.सं.पृ.१५)

१६– नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति, तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ।(स.द.सं.पृ.१३)
सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।।(तदेव पृ. १३)
अविभागोऽपि बुद्धयात्माविपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।। (तदेव पृ. १३)

१७– चित्तमात्रमिदं विश्वमिति या देशना मुनेः।
तत् त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः।।
सापि ध्वस्ता महाभागैश्चित्तमात्रव्यवस्थितिः।(तं.आ.खं.१ पृ६६)

है तो उसकी क्षणिक ज्योति की परम्परा जिस तरह से उच्छिन्न हो जाती है और अन्य तेल वाले दीपकों की ज्योतियों का प्रपञ्च चलता ही रहता है, उसी तरह से जिस चित्त के क्लेशों का क्षय हो गया और जिस चित्त की वासना भीतर से खोखली हो गई वह चित्त शरीर छूट जाने के क्षण में अपने जैसे नवीन क्षणिक चित्त को जब जन्म ही नहीं देता, तो निःसंशय उसका उच्छेद ही हो जाता है। जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसे ही चित्त भी बुझ जाता है[१८]। बुझने का ही नाम निर्वाण है। इसीलिए बौद्धों ने जीवन के इस चरम लक्ष्य को निर्वाण ही नाम दिया। तो बौद्धवाद के अनुसार विज्ञान में पड़ी हुई वासनाओं की सुविचित्र अभिव्यक्ति ही यह संसार है । अतः इस वाद को प्रायः विज्ञानवाद कहा जाता है। निर्वाण की अवस्था में जब आलयविज्ञान भी समाप्त हो जाता है, तो प्रमाता, अर्थात् जीव समझी जाने वाली वस्तु, शून्यभाव में विलीन हो जाती है। इस सिद्धान्त की दृष्टि से बौद्धवाद को शून्यवाद भी कहते हैं। प्रमाता और प्रमेय दोनों पदार्थों का केवल आभास ही होता है, वस्तुतः इन दो में से किसी की भी सत्ता नहीं होती है। बौद्धवाद की इस दृष्टि के आधार पर इसे आभासवाद के भीतर गिना जा सकता है।

शैव दर्शन की दृष्टि में बौद्धों का क्षणिकता का वाद यथार्थ ही है और पर्याप्त मात्रा में यथार्थ है। परन्तु क्षण–क्षण में परिवर्तमान और नश्वर विज्ञानों के कारण जो संस्कार पड़ते रहते हैं और जिन संस्कारों के बलबूते पर लोक–व्यवहार चलता रहता है, उन संस्कारों का कोई स्थिर रहने वाला और अनश्वर आधार तो अवश्य ही होना चाहिए। अन्यथा क्षणिक विज्ञानों के बीच परस्पर किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के न होते हुए स्मृति, कल्पना, अनुसंधान, उत्प्रेक्षा, प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञान के विचित्र व्यापारों और उन पर

१८–दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।
(सौं.नं.१६–२८,२६)

आश्रित संसार के अनन्त व्यवहारों का होना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता[१९]। जिसे ही किसी बात का अनुभव हो जाए, उसी के ऊपर उस अनुभव का संस्कार पड़ता है। फिर उसी को उस अनुभव की ओर अनुभूत विषय की समृति हो सकती है। जिसे ही प्रथम क्षण में निर्विकल्पक अनुभूति हो, उसी को उस अनुभूति के संस्कार द्वारा उत्तर क्षण में निश्चयात्मक विकल्प ज्ञान हो सकता है। उत्प्रेक्षा, अनुसन्धान, प्रत्यभिज्ञा आदि सभी व्यवहार स्मृति ही के आधार पर होते रहते हैं। संसार के लेन–देन, पठन–पाठन, आदि अनन्त व्यवहारों का आधार तो स्मृति ही है। अतः स्मृति की सिद्धि के लिए क्षणिक अनुभवों के संस्कार के आधार के रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किए बिना काम नहीं चल सकता[२०]। वह आत्मदेव ही जब ओतप्रोत भाव से सभी चित्तक्षणों और अनुभवक्षणों का सामान्य आधार बना रहता है, तभी उन क्षणिक वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध जुड़ सकता है। इस तरह से बौद्धों का अनात्मवाद शैवों को पसन्द नहीं।

जिस निर्वाण नामक मुक्ति में किसी के अपने आप का सर्वथा उच्छेद ही हो जाए, उस मुक्ति की अपेक्षा तो यह सुख–दुःखात्मक संसार ही अच्छा प्रतीत होता है। शैवों की दृष्टि में निर्वाण की यह अवस्था एक प्रगाढ़ से सुषुप्ति की अवस्था है। जैसा कि पहले गहा गया, उस प्रगाढ़ सुषुप्ति में सोए पड़े जीवों को भगवान् श्रीकण्ठनाथ उस समय

१९– एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम् ।
ज्ञानानामनुसन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः ।
न चेदन्तः कृतानन्तविश्वरूपी महेश्वरः ।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ।।
(ई.प्र.१–३–६,७)

२०– असौ तत्संस्कारसंस्कृतात् समनन्तरप्रत्ययादुत्थितः स्मृतिबोधः तेन तत्सदृशो भवतु, शाखासन्निवेश इव पूर्वसन्निवेशतुल्यः। न तु यो यत्–संस्काराज्जातः,स तस्य वेदनस्वभावो भवति।..... इति संस्कारात्परं सविषयतामात्रं स्मृतेः सिद्धं नस्त्वनुभवविषयत्वं नाप्यस्य विषयस्य पूर्वानुभवविषयीकृतत्वमिति निश्चय एषः ।।
(ई.प्र.वि.1–३–२)

पुनः जगा देते हैं जिस समय वे अवान्तर प्रलय के काल के अनन्तर नई सृष्टि के लिए मूल प्रकृति में पुनः क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। अतः बौद्धों के निर्वाण की दशा भी अपवर्ग और कैवल्य की दशाओं की तरह एक अधूरी और अस्थायी मुक्ति होती है, सर्वथा और सर्वदा वाली मुक्ति उसे नहीं कह सकते। स्पन्दकारिका में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि उस प्रगाढ़ सुषुप्ति में प्रमेय विषयों के प्रति प्रमाता के ज्ञान क्रियात्मक व्यापार का ही लोप हो जाता है, प्रमाता के अपने आप का लोप नहीं होता। परन्तु इस प्रकार की अनुभूति प्रबुद्ध साधकों को हुआ करती है। अप्रबुद्ध जीव ऐसी अवस्था में यह समझ बैठते हैं, कि हम स्वयं भी लुप्त ही हो गए[२१]। अतः बौद्धों के निर्वाण को शैव दर्शन में मुक्ति का आभास कहा गया है, मुक्ति नहीं[२२]। बौद्ध धर्म के प्रचार में समाज में जो उच्छृंखलता आ गई थी, उसका उल्लेख महाकवि कल्हण ने स्पष्ट शब्दों में किया है[२३]। इस वर्तमान पुस्तक के लेखक को तो भारत के पतन का एक मुख्य कारण अशोक और कनिष्क के द्वारा चलाया हुआ बौद्धवाद का प्रचार ही प्रतीत होता है और उसका प्रभाव अभी तक हमारे मस्तिष्क पर छाया हुआ है और इसी कारण वर्तमान युग में भी हम उस प्रगति को प्राप्त नहीं कर

२१–(क) अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ।।
कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ।। (स्पं.का.१४१५)
(ख) तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन् मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ।। (तदेव – २५)

२२–(क) न सम्यङ् मुक्तिरीदृशी । (तं.आ. ६–१५२)
(ख) भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।
(तं.आ.खं. १.पृ.५४)

२३– आद्येन चन्द्रदेवेन शमितो यक्षविप्लवः ।
द्वितीयेन तु देशेऽस्मिन् दुःसहो भिक्षुविप्लवः ।।
(रा.त. १–१८४)

रहे हैं जिसे हम कर सकते थे और जिसे हमें करना चाहिए था । अस्तु।

विवर्त्तवाद

अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी जगत् वन्ध्यापुत्र ही की तरह सर्वथा मिथ्या है। परन्तु स्वयं मिथ्या होती हुई अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या ही के प्रभाव से इसका आभास मात्र ही होता रहता है। वस्तुतः एक–मात्र परब्रह्म ही परमार्थतया सत्य वस्तु है। अविद्या अर्थात् अज्ञान ही के कारण ब्रह्म एक ओर से जीव के रूप में, दूसरी ओर से जगत् के रूप में और तीसरी ओर से इन दोनों को नियम में रखते हुए चलाने वाले ईश्वर के रूप में भ्रम के कारण भासता रहता है[२४]। उस अविद्या के आरम्भ का पता लग ही नहीं सकता । अतः उसे अनादि माना जाता है। वह अविद्या स्वयं अवस्तुभूत, तुच्छ और निःसार होती हुई वस्तुभूत और सारभूत परब्रह्म को किस तरह से उपरोक्त तीन रूपों में अवभासित कर सकती है; वह क्या है और स्वयं किस पर आश्रित है; इस प्रकार के अविद्या के स्वरूप, स्वभाव और कार्यक्रम आदि की व्याख्या की ही नहीं जा सकती। अतः उसे अनिर्वचनीय ठहराया गया है । इन जीव, जगत् और ईश्वर रूप तीन वस्तुओं के झूठे आभास को विवर्त्त कहते हैं [२५]। इसीलिए अद्वैत

२४–(क)स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।। (गौ.पा.का.२–३१)
न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते।। (तदेव ३–४८)
(ख) चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्।।(पं.द.३–४०)
(ग) तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं,
सर्वज्ञत्वं,सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो,विद्यापास्तसर्वोपाधिस्वरूप
आत्मनी–शित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते ।
(ब्र.सू.शां.भा.२–१–१४)

२५– विवर्तते–तदसत्यरूपमात्मन्युपगच्छति,असत्य–
विभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तस्तस्यास्तद्विवर्तते।(शि.दृ.पृ१–६)

वेदान्त को विवर्त्तवाद कहा जाता है। इस अविद्या से छूटने के उपाय श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं। यदि कोई जीव गुरु के मुख से उपनिषद्–वाक्यों को सुने, भागत्यागलक्षणा के क्रम से उन पर मनन अर्थात् सोच–विचार करे और फिर उनके अर्थ को निदिध्यासन के द्वारा, अर्थात् उपरोक्त सत्य सिद्धान्तों के ज्ञान के दृढ़तर सतत अभ्यास के द्वारा, अपने मस्तिष्क पर और अपनी बुद्धि पर खूब गहरा अङ्कित कर देवे, इतना गहरा अङ्कित कर देवे कि पुनः इस सच्चाई के विषय में उसे कोई संशय न रहे, तो ऐसा हो जाने के अनन्तर शरीर के छूट जाने पर उसका अपने प्रति झूठा जीव–भाव, प्रमेय प्रपञ्च के प्रति झूठा जगद्भाव और प्रमेयभाव तथा ब्रह्म के प्रति झूठा ईश्वरभाव, तीनों ही एकमात्र शुद्ध और केवल ब्रह्मभाव में ही परिसमाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था को ब्रह्मनिर्वाण कहा जाता है। समस्त द्वैत प्रपञ्च इस अवस्था में अद्वैत ब्रह्मभाव के भीतर बुझ सा जाता है। वेदान्त की दृष्टि में यही अवस्था जीवन का चरम लक्ष्य है और इसी को मुक्ति कहा जाता है। इस अवस्था में न ही कोई सुख और न ही कोई दुःख अनुभव में आता है। शुद्ध आकाश की जैसी एक सतत शान्ति में सब कुछ खो जाता है[२६]।ब्रह्म का कभी अभाव नहीं होता, अतः उसे सत् कहते हैं। ब्रह्म जड़ नहीं है, अतः उसे चित् कहते हैं। ब्रह्म में आपेक्षिक सुख और किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होता, अतः उसे आनन्द कहते हैं। वस्तुतः उसका आनन्द सुख–दुःख आदि का, क्लेश, कर्म, विपाक आदि का तथा इस प्रकार के अन्य अवांछनीय भावों का अभाव रूप होता है और एक शून्याकार सतत शान्ति उसका रूप होता है । तो ब्रह्मनिर्वाण की अवस्था में जीव की काल्पनिक जीवता नष्ट हो जाती है और उसकी वास्तविक सच्चिदानन्दता की परम शान्ति पुनः प्रकाशमान होने लगती है। यह अद्वैत वेदान्त के विवर्त्तवाद का सार है।

२६–(क) ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्।। (गौ.पा.का.४–१)

(ख) यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।।
स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते।। (तदेव ३–४६,४७)

काश्मीर शैव दर्शन के अभ्यासी अविद्या को अनादि और अनिर्वचनीय मानने पर सहमत नहीं होते। उनके मत में ब्रह्मनिर्वाण की अवस्था में दुःख के अभाव की ही प्राप्ति हो सकती है, किसी भावात्मक आनन्द की नहीं; क्योंकि वेदान्त की दृष्टि में ब्रह्म वस्तुतः ऐश्वर्यहीन होता है[२७]। उधर से भावात्मक आनन्द की अभिव्यक्ति अपने ऐश्वर्य के आभिमुख्य के बिना हो नहीं सकती। विषयानन्द की अनुभूति में भी तो अपने ऐश्वर्य की क्षणिक अभिव्यक्ति होती ही है। इसीलिए जिज्ञासु को समझाने के लिए शास्त्रों में दृष्टान्त के रूप में विषयानन्द का कहीं–कहीं उल्लेख किया गया है[२८]। अतः शैव दर्शन की दृष्टि में अपने ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति से हीन होती हुई वह ब्रह्म निर्वाण की दशा भी परिपूर्ण मुक्ति की दशा नहीं हो सकती है। हां उस दशा में तुर्या अवस्था का ज़रा भर उन्मेष तो अवश्य ही होता है। इसीलिए उसे शून्यभाव न कहकर ब्रह्मभाव कहा गया है और अभाव न कहकर सद्रूप कहा गया है। अतः उस अवस्था से जीव प्रायः नीचे नहीं आता, क्रम से ऊपर ही जाता है। अन्ततोगत्वा परिपूर्ण तथा पारमार्थिक मुक्ति को कभी पा ही लेता है। ब्रह्म की ईश्वरता को असत्य और अविद्या के कारण आभासमान मानने पर भी शैव तैयार नहीं होते। शैवदर्शन के अनुसार परमेश्वरता ही परमेश्वर या परब्रह्म का मुख्य स्वभाव है और यही एक मात्र पारमार्थिक सत्य वस्तु है। परमेश्वरता ही के आधार पर विवर्त्त, आभास, परिणाम और आरम्भ ठहरे हुए हैं। यदि परमेश्वरता एक सत्य पदार्थ न होती, तो कुछ भी नही होता। एक महाभयानक शून्य ही शून्य होता । अतः परब्रह्म की

२७– परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादि–व्यवहारः–"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदायेति।" (ब्र.सू.शां.भा.२–१–१४)

२८– जायया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राहः मूढस्तं मन्यते विधिम्।।
(वि.भै.उ.पृ:५६)।

अनीश्वरता सुषुप्ति के संस्कार से अनुभव में आ सकती है, तुर्या के प्रकाश से नहीं। तो ब्रह्म–निर्वाण की अवस्था को सुषुप्ति के संस्कार से ओतप्रोत तुर्या का उन्मेषमात्र माना जा सकता है, विकसित तुर्या दशा नहीं। जगत् के काल्पनिक आभास के सिद्धान्त के साथ शैव तो सहमत ही हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में इस काल्पनिक आभास का आधार कोई अविद्या जैसा अवस्थाभूत पदार्थ नहीं हो सकता। अतः मूलतः जगत् के आभास का तथा उस अविद्या के अपने आभास का भी कोई ऐसा आधार होना चाहिए, जो स्वयं अकल्पित सत्य हो और ऐश्वर्यवान् या शक्तिमान् अथवा शक्तिस्वरूप हो। परब्रह्म को तभी इनके आभास का कारण और आधार माना जा सकता है, जब सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को उसके पारमार्थिक स्वभाव के रूप में माना जाए और जब उसे अपने नैसर्गिक स्वभाव से ही परमेश्वर माना जाए। अन्यथा वेदान्त के ऐश्वर्यहीन तथा अशक्त ब्रह्म में तथा बौद्धों के शुद्ध विज्ञान या शून्य में विशेष अन्तर नहीं रहता। इसी लिए तो अद्वैत वेदान्त को कुछ एक शैवों ने शून्य ब्रह्मवाद कहा है। आ० अभिनव गुप्त ने तो इसे शून्यवाद के समीप ठहरा हुआ ब्रह्मवाद कहा है[२९]।

वैकुण्ठवाद

वैष्णव दर्शनों में परब्रह्म को वासुदेव, नारायण या श्रीकृष्ण कहा गया है और उसे सर्वशक्तिमान् ठहराया गया है। विद्या और अविद्या दोनों को उसकी दो शक्तियों के रूप में माना गया है[३०]। परन्तु उन दर्शनों में भी जीव के अज्ञान को तथा उसके कर्मजाल को अनादि माना गया है। फिर उन दर्शनों के सिद्धान्तों में द्वैतभाव का

२९–अन्तर्गतविश्ववीर्यसमुच्छलत्सत्तात्मकविसर्गविश्लेषानन्दशक्त्येकघनं ब्रह्म–बृहद्, व्यापकं, बृंहितं च, न तु वेदान्तपाठकाङ्गीकृतकेवल शून्यवादाविदूरवर्ति–ब्रह्मदर्शन इव। (प.त्री.वि.पृ. २२१)

३०– पांचरात्रविदश्चान्ये वदन्ति परिनिष्ठितम्।
ब्रह्मास्ति वासुदेवाख्यं स एव जगदीश्वरः।
विद्याविद्ये द्वयं चास्य साधनं समवस्थितम्।
अविद्यया जगत् कुर्याद् विद्यया मोक्षयेत् पशून्।।
(शि.दृ.६–१६, १७)

अंश कहीं थोड़ा और कहीं अधिक अवश्य ही माना गया है। साथ ही ब्रह्मरूप नारायण का कोई विशेष शरीर और विशेष लोक भी ठहराया गया है। उस लोक में वैष्णवों के मत में मुक्तजीव लगभग नारायण के तुल्य बनकर उसके साम्मुख्य में दिव्यविषयों का उपभोग करते हुए परम आनन्द का आस्वाद लेते रहते हैं। ऐसा लोक एक प्रकार का विशिष्ट स्वर्ग ही सिद्ध होता है और भगवान् नारायण उस स्वर्ग के अधिष्ठातृदेव सिद्ध होते हैं, तो जिस अवस्था में कोई लोक भी हो, शरीर भी हो, विषय भी हों और अन्य जीव भी हों, उस अवस्था को परमदशा और परामुक्ति की अवस्था कैसे माना जा सके। वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत में परमेश्वर की परिपूर्ण परमेश्वरता को तथा उसके परमाद्वैत ही की पारमार्थिक सत्ता को माना तो गया है, परन्तु उस मत में भी परब्रह्म को श्रीकृष्ण रूप ही माना गया है और उसके एक दिव्य वृन्दावन नामक किसी लोक की सत्ता को भी ठहराया गया है[३१]। शैव दर्शन की दृष्टि में जहां–जहां तक शरीर हो, लोक हो, विषय ज्ञान हो, वहां–वहां तक स्वप्नदशा का संस्कार साथ–साथ चलता ही रहता है। अतः यह शुद्धाद्वैत भी शैवदृष्टि में पूरा सन्तोषप्रद नहीं बन सकता। प्रायः सभी वैष्णव दर्शनों का विकास दार्शनिक शैली की अपेक्षा पौराणिक शैली का अधिक आश्रय लेता रहा। इस कारण ये दर्शन तो विद्वानों की दृष्टि में वेदान्त के सामने भी अवरदर्शन ही ठहरते हैं, शैवदर्शन के सामने ठहरने की फिर बात ही क्या।

पाशुपत, शैवसिद्धान्त, श्रीकण्ठमत, वीरशैव आदि दाक्षिणात्य शैवदर्शन भी परमेश्वर को पक्षपात के दोष से बचाने के लिए जीवों के अज्ञान को तथा उनके कर्मों को अनादि ही ठहराते हैं । परन्तु यदि परमेश्वर भी सृष्टि सहार आदि करने के लिए किसी तुच्छ और निःसार अविद्या जैसी वस्तु के अधीन रह कर ही काम करें, तो वह काहे का परमेश्वर ठहरा । उसकी परमेश्वरत्ता को किसी भी प्रकार से सीमित

३१– उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृतिः।
बन्धमोक्षौ च पुरुषाद् यस्मात् सं हरिरेकराट्।। (सं.द.सं.)
वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामधिष्ठानं कर्ता जीवनियामकः।। (सं.द.सं.)।

नहीं किया जा सकता। अतः ये शैववाद भी सर्वथा ग्राह्य नहीं। फिर इन सभी शैव वादों में वैष्णववादों की ही तरह द्वैत का अंश ओतप्रोत ही रहता है। अतः काश्मीर शैवदर्शन की दृष्टि में ये वाद भी सर्वथा मान्य नहीं, क्योंकि जहां तक द्वैत की गन्ध भी रहे, वहां तक अपूर्णता रहेगी। अपूर्णता भी एक आंशिक बन्धन ही है। जहां आंशिक बन्धन हो, वहां परिपूर्ण मुक्ति को माना ही नहीं जा सकता। अतः ये वाद भी परिपूर्ण मुक्ति को नहीं दिला सकते!

जैन वाद में भी कर्मों को अनादिता का दोष आता है। उस मत के अनुसार भूः, भवः आदि लोकों से ऊपर ठहरे हुए अलोक आकाश में सिद्धशील नाम का कोई शुद्धतम स्थान है, जहां तीर्थङ्कर जैसे मुक्त जीव निवास करते हैं। उनके सूक्ष्मतर शरीर भी होते हैं और वे निचले लोकों तक आते–जाते भी हैं। जैनों की ये सभी मान्यताएँ यह सिद्ध करती हैं, कि तीर्थङ्करों का वह सिद्धशील स्थान भी स्वप्न संसार का ही कोई लोक हो सकता है और उस लोक की प्राप्ति को भी पूर्ण मुक्ति नहीं कहा जा सकता। उस लोक से भी मुड़ कर संसार के बन्धन में पुनः उलझना ही पड़ता होगा।

वैयाकरणों के शब्दब्रह्मवाद में और अद्वैत वेदान्त के विवर्त्तवाद में परस्पर अधिक अन्तर नहीं। अतः वैयाकरणवाद भी शैवदृष्टि में पूरी तरह सन्तोषप्रद नहीं हो सकता।

५

स्वातन्त्र्य–सिद्धान्त

काश्मीर शैव दर्शन का मूल सिद्धान्त स्वातन्त्र्य कहलाता है। तदनुसार केवल परमेश्वर ही एकमात्र परम सत्य तत्त्व है। शेष सब कुछ जो कि संसार में भासता है, सर्वथा मिथ्या न होकर उसी के स्वातन्त्र्य का विलास है तथा उसी की स्वाभाविक परमेश्वरता की अभिव्यक्तियों का विचित्र दृश्य है। वह शुद्ध प्रकाश स्वरूप है। प्रकाश शब्द से तात्पर्य चेतना का अवभासात्मक प्रकाश है। चेतना जहां भी हो, सदैव स्वयमेव प्रकाशित होती रहती है। सूर्य आदि के लौकिक प्रकाश को भी अभिव्यक्त होने के लिए चेतना के प्रकाश की अपेक्षा रहती है। सूर्य की तथा उसके प्रकाश की सत्ता तभी सिद्ध हो सकती है, जब चेतन जीव–निकाय अपने अनुभव के प्रकाश से उनकी सत्ता को ठहराते हैं। परन्तु जीवों की चेतना स्वयं अपने ही प्रकाश के बल पर ठहरी हुई है। एक तुच्छतम कीट भी यह अनुभव करता है कि मैं हूँ। स्वप्न क्या, सुषुप्ति में भी चेतना को अपना प्रकाश अवश्य ही होता है। तभी तो जागकर जीव कहता है कि "मैं ऐसा सोया कि स्वप्न भी नहीं देखा।" उसका ऐसा कहना ही उस बात का साक्षी बनता है कि उस गाढ निद्रा की अवस्था में भी कोई तत्त्व जागता ही रहा, जिसे पहले तो अपनी सुप्त सत्ता का प्रकाश होता रहा और फिर साथ ही स्वप्न के अभाव की सत्ता का भी। वस्तुतः यह "मैं" सदैव जागता ही रहता है। इसको सदैव अपनी सत्ता का प्रकाश होता ही रहता है । मान लीजिए कि इस जाग्रत् अवस्था में शरीर आदि रूपी "अहं" का प्रकाश बाह्य इन्द्रियों के प्रकाश से ही होता हो और स्वप्न में सुख–दुःख आदि से उपरञ्जित बुद्धिरूपी "अहं" का प्रकाश अन्तःकरणों के प्रकाश की सहायता से ही होता हो। परन्तु सुषुप्ति की दशा में, जबकि सभी बाह्य इन्द्रिय और सभी अन्तः करण गाढ निद्रा में खोए रहते हैं, "अहं" का प्रकाश किसके

बल से हुआ करता है । किसी भी अन्य वस्तु के बल से नहीं, केवल अपने ही बल से, केवल अपने ही प्रकाश से उस दशा में "अहं" प्रकाशित होता रहता है। अन्तः करणों और बाह्य इन्द्रियों में भी जो प्रकाश रहता है, वह उनका अपना प्रकाश नहीं। उनको भी प्रकाशित करने वाला और उनको प्रकाशकता देने वाला तो वस्तुतः "अहं" का ही प्रकाश होता है। तो "अहंरूप" चेतना या आत्मा स्वयं प्रकाश है। परन्तु जहां तक शरीर, बुद्धि, प्राण और शून्य "अहं" के साथ ओत–प्रोत होकर रहते हैं, वहां तक का "अहं" अशुद्ध "अहं" होता है । शुद्ध "अहं" उस प्रकाश को कहते हैं, जो या तो शरीर, बुद्धि, प्राण और शून्य से उर्त्तीण केवल प्रकाश ही हो और सर्वथा असीम हो,या सर्वथा विश्वात्मक और परिपूर्ण हो । विश्वोत्तीर्णता में उसे जिधर से देखो, उधर से एकमात्र असीम प्रकाश ही होता है । प्रकाश को छोड़कर और कुछ भी नहीं होता। विश्वमयता में सब कुछ नहीं है और सब कुछ होता हुआ भी एक अनन्त प्रतिबिम्बों से उपरञ्जित दर्पण की तरह प्रकाशात्मक दर्पण ही है।

प्रकाश का स्वभाव विमर्श होता है। जिस किसी को भी अपना प्रकाश, अर्थात् अपना आभास होता है, उसे साथ ही साथ अपने अस्तित्व की प्रतीति भी होती ही रहती है । तात्पर्य यह है कि समस्त जीवों को "मैं" इस आभास के साथ ही साथ "मैं" ऐसी प्रतीति भी होती ही रहती है। दर्पण में प्रतिबिम्बों का केवल आभास होता है, अर्थात् वहां प्रतिबिम्ब प्रकट हो जाते हैं। परन्तु दर्पण को उन प्रतिबिम्बों के प्रकट होने की प्रतीति (awareness) नहीं होती है, क्योंकि दर्पण को "मैं" इस रूप में अपनी भी प्रतीति नहीं होती[1]। दर्पण का या दर्पण में ठहरे प्रतिबिम्बों का अवभास भी वस्तुतः दर्पण को नहीं होता। वह तो दर्पण को देखने वाले चेतन जीव को ही होता है। अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि प्रकाशरूप आभास और विमर्शरूप

१– अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः परं निजविमर्शरसानुवृत्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु।। (तं.सा.पृ.१६)

प्रतीति, दोनों परस्पर ओतप्रोत भाव से सदा रहते हैं, एक दूसरे से कभी भी बिछुड़ कर ठहर ही नहीं सकते। आभास ज्ञान है और प्रतीति ज्ञान की अर्थात् जानने की क्रिया है। दर्पण में पड़े हुए विषय के प्रतिबम्ब को प्रकाश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्पण को विषय–प्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होती। अतः उसे प्रतिबिम्ब का विमर्श नहीं होता। हो भी कैसे? जब उसे अपना ही विमर्श "अहं", इस रूप में नहीं होता, तो विषय का विमर्श "इदं", इस रूप में होना सम्भव ही नहीं। इसके विपरीत एक प्राणी को अपने आप के विषय में "अहं" का सतत आभास होता रहता है और साथ ही उसका सतत विमर्श भी उसे होता रहता है । तभी तो उसके बुद्धि–दर्पण में जिस विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस विषय का प्रकाश भी उसे "यह" इस रूप में होता है और साथ ही "यह" ऐसी प्रतीति या विमर्श (awareness) भी उसे होता है। तो ऐसा कहा जा सकता है कि एक प्राणी को अपने प्रकाश और अपने विमर्श के बल से विषय का प्रकाश और विमर्श भी होता है। तो उसे विषय के आभास के साथ–साथ विषय की प्रतीति भी रहती है। तो वह विषय–आभास भी तभी प्रकाशरूप है, जबकि उसका स्वभाव विमर्श है। परमेश्वर भी शुद्ध प्रकाशरूप है, जबकि उसका स्वभाव विमर्श है। परमेश्वर भी शुद्ध प्रकाश रूप होता हुआ शुद्ध विमर्श भी है। अतः उसे अपनी असीम, शुद्ध और परिपूर्ण चेतना की सत्ता का विमर्श और प्रकाश दोनों ही सदा होते रहते हैं। विमर्श वस्तुतः प्रकाश से भिन्न कोई वस्तु नहीं। वह तो प्रकाश का नैसर्गिक स्वभाव है। इस विमर्शात्मक स्वभाव ही के कारण प्रकाश को प्रकाश कहते हैं अर्थात् प्रकाश की प्रकाशता विमर्श ही है[२]। इसी तरह से विमर्श की विमर्शता भी प्रकाश ही है। तो ये दोनों भाव वस्तुतः एकात्मक और अभिन्न हैं । दोनों इस तरह से अभिन्न हैं कि इनमें परस्पर भेद का अवभास वस्तुतः होता ही नहीं। एक ही परमार्थ सत्य वस्तु के स्वरूप और स्वभाव को समझाने के लिए सिद्ध जनों ने इन दो शब्दों की कल्पना करके उस सत्य वस्तु के तत्त्व को स्पष्ट करने का यत्न किया है। वस्तुतः उस तत्त्व को शुद्ध, असीम और परिपूर्ण

२– स्वभावमवभासस्य विमर्शविदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।। (ई.प्र.१–५–११)

प्रकाश और उसी प्रकार के विमर्श का परम सामरस्य कहा जा सकता है। ऐसे सामरस्यात्मक परतत्त्व को सिद्धों की भाषा में शुद्ध, असीम और परिपूर्ण संवित् कहा जाता है । इस प्रकार की संवित् को ही परब्रह्म, परमेश्वर, परिपूर्ण भगवान् आदि नाम दिए जा सकते हैं । शैव दर्शन में इसी को परमशिव कहा गया है । इसका दूसरा नाम अनुत्तर तत्त्व भी है । परमार्थतया यही है । इस से भिन्न कोई और वस्तु है ही नहीं । जो कुछ भी अन्य–अन्य आभासित होता है, वह सब वस्तुतः यही है । यही स्वयं उन सभी रूपों में भासता है । उसका यह स्वभाव ही उसका परिपूर्ण स्वातन्त्र्य कहलाता है ।

परिपूर्णता

वह अनुत्तर परमशिव सर्वथा और सर्वदा संविद्रूप ही होता है। कभी भी असंविद्रूप नहीं होता । जड़ वस्तुओं के आकार में अवभासित होता हुआ भी वस्तुतः संविद्रूप ही होता है । जड़ वस्तु की सत्ता भी तो तभी सिद्ध होती है, जब चेतन प्राणी की संवित् के भीतर उसका आभास हो [३]। तो चेतन प्राणी को संवित् में आभासित होता हुआ जड़ पदार्थ भी आभासक्षण में चेतन ही होता है । क्योंकि संवित् ही तो उस जड़ पदार्थ के रूप को धारण करती हुई उसको आभासित करती है । यदि ऐसा न होता, तो जड़ का आभास होता ही नहीं । क्योंकि आभास होना संवित् ही का स्वभाव है, जड़ का नहीं [४]। तो व्यवहार

३– एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः।। (अ.प्र.सि.१३)

४– (क) प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया विना। (ई.प्र.१–५–२)

(ख) अप्रकाशस्य प्रसिद्धिरेव न काचित् । स्वात्मनि हि नीलं यदि पीतं न किञ्चिद्वा.....तद्यदि प्रकाशस्तदा भवत्यर्थः । (ई.प्र.वि.१–५–४)

(ग) अर्केन्दुदीपाद्यवभासभिन्नं न भात्यतिव्याप्ततया ततश्च।
प्रकाशरूपं तदियत् प्रकाश्यप्रकाशिताख्या व्यवहार एव।। (प.च.१)

में भी प्रत्येक चर और अचर वस्तु वस्तुतः संवित् स्वरूप ही होती है, यद्यपि अज्ञान में डूबे हुए प्राणियों को ऐसा प्रतीत नहीं होता। अस्तु। तो संवित् स्वरूप परमशिव सदैव संवित् ही है, और कुछ नहीं है। यही उसकी शुद्धता है। देशकृत, कालकृत और आकारकृत कोई भी संकोच उस अनुत्तर संवित् में नहीं। उसी संवित् के स्वन्दन से देश का, काल का और आकारों का अवभास होता है। अतः वही इन तीनों संकोचक पदार्थों का स्वयं आधार होता हुआ इनके प्रभाव से प्रभावित नहीं हो सकता है। इस तरह से वह परमशिव सर्वदा, सर्वतः और सर्वथा असीम है। फिर वह सदा परिपूर्ण है। यह जो कुछ भी आभासित होता है, चाहे प्रमाता के रूप में चाहे प्रमेय के रूप में, चाहे प्रमाण के रूप में, वह सारे का सारा उस शुद्ध संवित् के भीतर सदैव विद्यमान रहता है[५]। परन्तु यह वहाँ उस तरह से नहीं रहता है, जिस तरह से घर के भीतर घर वाले लोग और घर का सामान रहता है, अपितु जिस तरह से तिलों में तेल या दूध में मलाई, मक्खन, घी, पनीर आदि। ये वस्तुएँ दूध में अपने–अपने व्यक्तिगत रूप में अलग–अलग नहीं रहती हैं, अपितु दूध की बनी हुई एक मात्र दूध ही की दशा में वहां रहती है। उसी तरह से सारे का सारा संसार उस शुद्ध संवित् में संवित् बना हुआ ही संवित् ही के रूप में सदैव रहता है। इस तरह से समस्त विश्व को अपने भीतर धारण करती हुई वह परा अनुत्तर संवित् परिपूर्ण है[६]। जिस समय उसमें से विश्व की सृष्टि होती है,

---

५– तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः।। (ई.प्र.१–६–७)

६– (क) एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्।
ज्ञानानामनुसन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः।
न चेदन्तः कृतानन्तविश्वरूपी महेश्वरः।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्।। (ई.प्र.१–३–६,७)

(ख) यच्च तन्नवं भासयति स्मरति वा, तद्वस्तुतः संविदा
विश्वमय्या तादात्म्यवृत्ति, इति विश्वमयं पूर्णमेव।
(ई.प्र.वि.१–३–७)

उस समय भी वह संवित् पूर्ववत् परिपूर्ण ही रहती है । सृष्टि और संहार के हो जाने से उसकी परिपूर्णता में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। तो यह बात अब स्पष्ट हो गई कि अनुत्तर परमशिव शुद्ध, असीम और परिपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त का परब्रह्म जगत् से शून्य अर्थात् रिक्त होता है। उसके भीतर जगत् की स्थिति को वेदान्तियों ने नहीं माना है। अतः वह जगत् से शून्य है । जगत् का आभास उस मत में अविद्या के ही द्वारा हुआ करता है[७] , ब्रह्म के स्वाभाविक बल के द्वारा नहीं । इस जगत् को अविद्या ही एक व्यावहारिक सत्ता प्रदान करती है, ब्रह्म ऐसा नहीं करता । शैव दर्शन के अनुसार परमशिव ही इस जगत् को अपने से भिन्न रूप में प्रकट करता हुआ उसे व्यावहारिक सत्ता दे देता है । इस तरह से समस्त ब्रह्माण्ड को सत्ता प्रदान करता हुआ वह इस जगत् का परिपूरक भी है[८] और ऐसा होने से भी उसे परिपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार से वह दोनों दृष्टियों से परिपूर्ण है । यह शैवों के परमशिव और वेदान्तियों के परब्रह्म में परस्पर एक बड़ा भारी अन्तर है।

सत्कार्यवाद

यह संसार उस परमशिव के भीतर शुद्ध संवित् स्वरूप से रहता हुआ ही इस व्यावहारिक और सांसारिक स्वरूप में प्रकट होता है । अतः

७– (क) अविद्यां वेत्त्यविद्यैव बध्नात्यात्मानमेव वा ।
सैवेति वादो येषां वा तेषां वेदान्तवादिनाम् ।।
(शि.दृ.६–१४)

(ख) अज्ञानात् प्रभवं सर्वं ज्ञानेन परिलीयते। (अ.अनु.१४)

(ग) यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि।।
यथैव शून्ये वेतालो गन्धर्वाणां पुर यथा।
यथाकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत् सत्ये जगत्स्थितिः।।
(तदेव ६१,६२)

८– (क) यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः।
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम्।। (वि.भै.१६)

(ख) भैरवो भरणात्मको महामन्त्ररवात्मकश्च। (प.त्री.वि.पृ.६३)

यह सर्वथा असत्य नहीं है, बन्ध्यापुत्र या आकाशपुष्प नहीं है। यह है और सत्य है। ऐसा होता हुआ ही यह उस अनुत्तर संवित् के भीतर संवित् ही है। वह संवित्स्वरूपता इसकी पारमार्थिक सत्ता है। व्यवहार की दशा में यह अपने–अपने भिन्न–भिन्न व्यक्तिगत रूपों में प्रकट होता रहता है। यहां भी इस रूप में भी यह है और सत्य ही है, मिथ्या नहीं है। इसी कारण तो इसे उपयोग में लाया जाता है और निर्बाध गति से काम भी देता रहता है। परन्तु व्यक्तिगत रूपों में प्रकट होने वाली इसकी यह सत्ता इसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं, क्योंकि इसकी इस सत्ता की उत्पत्ति और विनाश दोनों होते रहते हैं। अतः संसार की यह सत्ता इसकी व्यावहारिक सत्ता है । परमार्थिक सत्ता अकल्पित होती है और व्यावहारिक कल्पित। परन्तु कल्पित सत्ता को भी सत्ता ही के भीतर गिना जा सकता हैं, असत्ता के भीतर नहीं[९]। कल्पितता और पारमार्थिकता एकमात्र महासत्ता की दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। एक प्रकार की स्फुट अभिव्यक्ति में दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति छिपी रहती है। अतः जो कुछ है, वह परमशिव ही है, सत्य है और परासंवित् है। कोई वस्तु असत्य नहीं। ऐसा काश्मीर शैव दर्शन का पक्का सिद्धान्त है। अद्वैत वेदान्त और अद्वैत शैव में परस्पर यह एक और बड़ा भारी अन्तर है। इसी अन्तर को जतलाने के लिए आ0अभिनवगुप्त ने इस अद्वैत शैव को पराद्वैत[१०] नाम दिया।

शिव और शक्ति

अद्वैत वेदान्त में परब्रह्म को केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही माना गया है, क्रियास्वरूप नहीं । इतना ही नहीं उसे सर्वथा निष्क्रिय और अस्पन्द माना गया है । शैव दर्शन की दृष्टि में ज्ञान का ही दूसरा स्वरूप या ज्ञान का स्वभाव ही क्रिया है, क्योंकि जानना भी तो स्वयं एक प्रकार की क्रिया

९– एवं च संवृतिर्विकल्पबुद्विस्तद्वशादुच्यतां संवृतिसत्यत्वम् ।
सत्यत्वस्यैव तु प्रकारस्तद्, इति द्विचन्द्रवन्नासत्यता ।।
(ई.प्र.वि.२–२–४)

१०–(क) परमाद्वयदृष्टिं तत् संश्रयेः शरणं महत् ।(मा.वि.वा.१–२६२)
(ख) इदं द्वैतमिदं नेति तदिदं च द्वयाद्वयम्।
इति यत्र समं भाति तदद्वयमुदाहृतम्।। (तदेव १–६२६)

ही है। तभी तो वर्तमान आदि काल का और उत्तम आदि पुरुष का सम्बन्ध उससे होता है। काल–सम्बन्ध और पुरुष–सम्बन्ध के बिना जानने का अवभास ही नहीं होता। ये दोनों सम्बन्ध क्रिया के धर्म हैं । अतः ज्ञान तो स्पष्टतया जानने की क्रिया ही है"[११]। जो कुछ किया जाता है, वह बिना जाने नहीं किया जाता। इसीलिए तो जड़ पदार्थों की क्रियाओं की पृष्ठभूमि में चेतन प्राणियों ही का कर्तृत्व माना गया है । इसी दृष्टि से यास्कमुनि ने भी देवताओं के दो–दो स्वरूप माने–एक पुरुषविध चेतन स्वरूप और दूसरा अपुरुषविध आग, हवा, जल आदि जड़ स्वरूप। अस्तु। तो जहां ज्ञान है, वहां क्रिया भी है और जहां क्रिया है, वहां ज्ञान भी है। सिद्धों के "सैद्ध" मत में क्रिया को ज्ञान की घनीभाव की सी दशा और ज्ञान को क्रिया की द्रवीभाव की सी दशा कहा गया है [१२]। जैसा कि ऊपर कहा गया, निर्जीव वस्तुओं की क्रिया उनकी अपनी क्रिया नहीं, क्योंकि उस पर उनका अपना प्रभुत्व नहीं। वे बिचारे परतन्त्र होते हैं। संस्कृत व्याकरण में स्वतन्त्र को ही कर्त्ता कहा गया है, परतन्त्र को नहीं। स्वतन्त्र कर्त्ता में इस बात का स्वातन्त्र्य भी है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी परतन्त्र वस्तु पर भी कर्त्तव्य का आरोप करें। तो पूर्णस्वतन्त्र परमशिव ज्ञानस्वरूप भी है और क्रियास्वरूप भी है। उसकी प्रकाशात्मकता उसकी ज्ञानस्वरूपता है और उसकी विमर्शात्मकता उसकी क्रियास्वरूपता है[१३]। दोनों का, अर्थात् ज्ञान और क्रिया का परिपूर्ण सामरस्य ही परमशिव है, क्योंकि ये दोनों शक्तियाँ परस्पर ओतप्रोत भाव से अभिन्न और समरस बनी हुई ही अनुत्तर संवित् कहलाती हैं। तो परमशिव का वास्तविक स्वरूप शुद्ध, असीम और

११–घटादिग्रहकालेऽपि घट जानाति सा क्रिया।
जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेदं न क्षतिः।।
औन्मुख्याभावतस्तस्य निवृत्तिर्निवृतिं विना।
द्वेष्ये प्रवर्तते नैव न च वेत्ति विना चितम्।। (शि.दृ.१–२४,२५)

१२–ज्ञानं गृहीतकठिनत्वगुणं क्रिया स्यात्।
ज्ञानं भवेद्विरलिमाश्रयिणी क्रियैव।। (मा.च.वि.१–१५)

परिपूर्ण ज्ञान और उसी प्रकार की क्रिया का परिपूर्ण सामरस्य ही है। ऐसी ज्ञानरूपता उसकी शिवता है और ऐसी क्रियारूपता उसकी शक्तिता है। वह स्वयं एक दृष्टि से शिव है और एक अन्य दृष्टि से शक्ति। प्रकाशात्मक ज्ञानरूपता की महिमा से वह विश्वोत्तीर्ण है। ऐसा होता हुआ वह शिव है विमर्शात्मक क्रियारूपता की महिमा से वही विश्वमय भी है और ऐसा होता हुआ वही शक्ति भी है। विश्वोत्तीर्णता की दृष्टि से वह सदैव शुद्ध संवित् स्वरूप ही है। कभी किसी भी प्रकार से असंविद्रूप नहीं है[१४]। सृष्टि, संहार आदि के होते समय भी उसकी इस शुद्ध संविद्रूपता में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता है। यह ध्रुव और अटल एकरूपता उसकी शिवता है। विश्वात्मकता की दृष्टि से जो कुछ भी इस संसार में है, वह परमशिव ही है। जैसे मिट्टी के घड़े, पतीले, प्याले, इत्यादि सभी वस्तुतः मिटटी ही हैं, वैसे ही सुख–दुःख आदि और नील पीत आदि आन्तर और बाह्य सभी पदार्थ तथा प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण का सारा प्रपञ्च वस्तुतः परमशिव ही है[१५]। उसकी यह विश्वमयता ही उसकी शक्तिस्वरूपता है। शिवता की स्फुट अभिव्यक्ति में शक्तिता छिपी रहती है और शक्तिता की स्फुटता में शिवता छिपी रहती है। यदि वेदान्त के ब्रह्म की तरह, परमशिव केवल ज्ञानरूप और केवल विश्वोत्तीर्ण ही होता, तो वही एकमात्र होता। कोई भी अन्य प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण आदि होता ही

१३–स एव हि अहंभावात्मा विमर्शो देवस्य क्रीडादिमयस्य शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये। प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः क्रिया। (ई.प्र.वि.१–८–११)

१४–(क) इत्थं स्वसंविद्घन एक एव।
शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः।। (प.च.३)

(ख) अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।। (ई.प्र.१–६–१)

१५–(क) भवदावेशतः पश्यन् भावं–भावं भवन्मयम्।
विचरेयं निराकांक्षः प्रहर्षपरिपूरितः।। (शि.स्तो.६–५)

(ख) विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः। विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः। विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः। (प्र.हृ.८)

नहीं वह परमेश्वर भी होता या नहीं होता, इस बात के विषय में किसी भी शङ्का और किसी भी समाधान का अवसर ही कभी नहीं आता। तो होता क्या? केवल एक अतिभयानक शून्यभाव ही होता। परन्तु वह परमेश्वर ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही क्रियात्मक भी है। यह क्रियात्मकता ही उसकी विश्वरूपता का बीज है। इसी स्वभाव के कारण वह पराशक्तिरूप भी है। क्रियात्मकता ही उसकी परमेश्वरता है । इसी के महात्म्य से वह जीवरूप में और जगत् के रूप में अनन्त–अनन्त सुविचित्र आकारों में प्रकट होता रहता है। जो आकार उसके भीतर संवित् के ही रूप में विलीन होकर रहते हैं, उन्हीं आकारों को अपने–अपने पृथक्–पृथक् रूपों में भी प्रकट करता रहता है। वे आकार संवित् में संवित् ही होते हैं। संवित् परमशिव है । अतः वे आकार भी परमशिव ही होते हैं । तो परमेश्वर उनको जगत् के रूप में प्रकट करता हुआ अपने आपको ही उस रूप में प्रकट करता है ।

स्वातन्त्र्य

जब बीज में अङ्कुर निकलता है, तो बीज कहीं रहता ही नहीं। बीज–बीज न रहकर अङ्कुर बन जाता है। दूध से जब दही बनता है, तो दूध कहीं नहीं रहता। दूध दही के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मूलप्रकृति से जब बुद्धि, अहंकार आदि तत्त्व प्रकट हो जाते हैं, तो मूलप्रकृति का अपना स्वरूप अदृश्य हो जाता है। बुद्धि, अहंकार आदि तत्त्वों में मूलप्रकृति का परिणाम हो जाता है। संहार के समय सभी तत्त्वों का परिणाम क्रम से मूलप्रकृति में ही हो जाता है। बुद्धि आदि समस्त तत्त्व विकृति कहलाते हैं। इन विकृतितत्त्वों में भी प्रत्येक कारणतत्त्व अपने कार्यतत्त्वों की अपेक्षा से प्रकृति कहलाता है। परिणामवाद के अनुसार जब कोई प्रकृति विकृति में परिणत हो जाती है, तो प्रकृति अदृश्य हो जाती है। इसी तरह से संहारक्रम में जब कोई विकृति पुनः प्रकृति में परिणत हो जाती है, तो वह विकृति पुनः अदृश्य हो जाती है। यह जड़ वस्तु के परिणाम का नियम है। इसी कारण से ये जड़ वस्तुएँ अपूर्ण हैं। परन्तु परमेश्वर जब जीव और जगत् के रूप में प्रकट हो जाता है, तो उसकी परमेश्वरता छिप नहीं जाती। वह उसी तरह से परमेश्वर

ही बना रहता है और सृष्टि, संहार आदि की अभिव्यक्ति से उसकी परमेश्वरता ही अतीव स्फुटतया अभिव्यक्त होती रहती है। परमशिव की इच्छा से ही उसी के प्रकाश के भीतर दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्बों के न्याय से जब उसी की अपनी ही शक्तियों के प्रतिबिम्ब अभिव्यक्त हो जाते हैं, तो शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक की और उनमें रहने वाले अनन्त प्रमातृ–प्रमेय–प्रमाण के प्रपञ्च की तथा शरीर, भुवन, भाव आदि के अनन्त वैचित्र्य की सृष्टि हो जाती है। इसे परिणाम न कहकर स्वातन्त्र्य कहते हैं। इसी तरह से उसके स्वातन्त्र्य ही से इन समस्त प्रपञ्चों का संहार भी होता है। उसे भी परिणाम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा होते हुए परमशिव की परमशिवता अनभिव्यक्त अर्थात् अदृश्य नहीं हो जाती है, प्रत्युत अधिक चमक उठती है। यह बात अब स्पष्ट हो गई कि परमशिव की विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता की अभिव्यक्तियों द्वारा उसका परिणाम नहीं होता। इस परिणामशीलता की शङ्का के डर से ही अद्वैत वेदान्तियों ने परब्रह्म को अकर्त्ता माना । अकर्त्तृत्व तो पराधीन और जड़ वस्तु का स्वभाव होता है, संवित् का नहीं। चेतन वस्तु में तो चैतन्य की विमर्शात्मक स्वाभाविक हलचल सदा रहती ही है। वही उसकी स्वाभाविक क्रिया है। चेतन प्राणी सदा अपने को जानता है। उसकी यह जानने की क्रिया कभी लुप्त नहीं होती है। फिर परिपूर्ण चैतन्यघन परमशिव को क्रियाहीन कैसे कहा जा सके। अतः वह परिपूर्ण ज्ञानरूप भी है और परिपूर्ण क्रियारूप भी।

परमशिव की अपनी स्वभावभूत विमर्शात्मक क्रिया ही उसकी परमेश्वरता है। इसी के प्रभाव से वह सदैव सृष्टि, संहार आदि के प्रति उन्मुख बना रहता है। इस औन्मुख्य का पूरा विकास ही उसकी पारमेश्वरी लीला के रूप में प्रकट होता रहता है। यदि उस में सृष्टि, संहार आदि करने के प्रति उन्मुखता नहीं होती, तो वह शून्य गगन के समान जड़, रिक्त और अनीश्वर होता[१६]। यह क्रियारूपता या शक्तिरूपता

१६–अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत्।। (तं.आ.३–१००,१०१)

उसका स्वातन्त्र्य कहलाता है। वह स्वयमेव, अपने से ही, अपने ही भीतर, अपने को ही तथा अपनी ही महिमा के बल से अनन्त वैचित्र्यपूर्ण संसार के रूप में प्रकट करता रहता है। ऐसा करने के लिए उसे न तो अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या की, न अनादि वासना की, न ही अनादि अविवेक की, न ऐसे ही मिथ्याज्ञान की और न ही अनादि कर्म आदि किसी भी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। वह इनमें से किसी एक की भी अपेक्षा से सृष्टि संहार, आदि में प्रवृत्त नहीं होता; अपितु एक मात्र अपने स्वभाव–भूत स्वातन्त्र्य से ही। सृष्टि करने के लिए उसे मूलप्रकृति, परमाणु आदि बाह्य साधनों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती[१७]। उसकी अपनी शक्तियाँ ही जब प्रतिबिम्ब के न्याय से उल्टी ठहर कर अभिव्यक्त होती है, तो मूलतः उससे अभिन्न रहती हुई ही भिन्न जैसी उपस्थित हो जाती हैं और प्रकृति, परमाणु आदि प्रमेय तत्त्वों के रूप में प्रकट हो जाती हैं । वह स्वयं शुद्ध प्रमाता ही है। उसकी शक्तियाँ भी प्रमातृत्व के ही रूप में विद्यमान हैं। परन्तु जिस तरह से व्यावहारिक प्रतिबिम्ब में दायां–बायां दीखता है और बायां–दायां, वैसे ही प्रमातृभाव में ठहरी हुई शक्तियाँ प्रमेयरूपता में अभिव्यक्त होकर प्रकृति आदि का रूप धारण कर लेती हैं। अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा के बिना ही सृष्टि, संहार आदि पारमेश्वरी क्रियाओं का चलते रहना भी उसके स्वातन्त्र्य का ही विलास सिद्ध होता है। इस विचार से भी इस शैव सिद्धान्त को स्वातन्त्र्य सिद्धान्त कहा जाता है। परमशिव अपनी परिपूर्ण स्वतन्त्रता का विमर्शन करता हुआ जब उस स्वतन्त्रता की अभिमुखता के चमत्कार से आविष्ट हो जाता है, तो सृष्टि के प्रति एक दिव्यातिदिव्य उमङ्ग में आकर उसके प्रति उन्मुख होता हुआ अपने निर्मल प्रकाश के भीतर अपनी स्वतन्त्र और अनिरुद्ध

१७–चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।।
(ई.प्र.१–५–७)

इच्छा से अपनी शक्तियों के प्रतिबिम्बों को अभिव्यक्त करता है [१८]। वह अभिव्यक्ति ही समस्त जगत् के सृष्टि–संहार आदि के रूप में प्रकट हो जाती है। समस्त विश्व उसमें केवल प्रतिबिम्ब के ही रूप में अवभासित होता रहता है। शुद्ध स्फटिक शिला में नील पीत आदि विविध रूपों के प्रतिबिम्बों के पड़ने पर भी स्फटिक की स्वच्छता में कोई अन्तर नहीं आता। प्रत्युत प्रतिबिम्बों के अधिक–अधिक स्पष्टतया पड़ने से स्फटिक की अधिक–अधिक निर्मलता ही सिद्ध होती है। शुद्ध प्रकाश में भी विश्व के प्रतिबिम्बित होते रहने से उसकी शुद्धता में कोई त्रुटि नहीं आती, प्रत्युत इसी से उसकी परमेश्वरता अभिव्यक्त होती है[१९]। हां, स्फटिक को प्रतिबिम्ब धारण करने के लिए अपने से भिन्न बिम्बों की आवश्यकता अवश्य ही रहती है, परन्तु शिव अपने प्रकाश के भीतर अपनी ही विमर्शात्मक शक्ति के विविध प्रतिबिम्बों को धारण करता हुआ जगत् के सृष्टि–संहार आदि का अवभासन करता है। उसे अपने से भिन्न किसी भी बिम्बात्मक वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह भी उसके स्वातन्त्र्य ही की महिमा है। अपने ही स्वातन्त्र्य से वह अपने ही भीतर जीवभाव को, परिमित ईश्वरभाव को, माया को, अविद्या को, वासना को, अविवेक को, मिथ्याज्ञान

१८–(क) आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि
समर्पकं स्याद् यदि मानभिन्नम्।
सुस्वच्छसंविन्मुकुरान्तराले
भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत्।। (प.च.५)
(ख) एवं यथैतत् प्रतिबिम्बितं भाति, तथैव विश्वं परमेश्वरप्रकाशे। ननु अत्र बिम्बं किं स्यात् माभूत् किञ्चित्। ननु किमकारणकं स्यात्। हन्त तर्हि हेतुप्रश्नः । तत् किं बिम्बवाचोयुक्त्या। हेतुश्च परमेश्वरशक्तिरेव स्वातन्त्र्यापरपर्याया भविष्यति। विश्वप्रतिबिम्बधारित्वाच्च विश्वात्मकत्वं भगवतः। (तं.सा.पृ.११)

१९–(क)अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव यत्।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता।। (बो.पं.७)
(ख)पीछे देखिए–अंक १६.

को, कर्मवासना को, प्रकृति को, परमाणुओं को तथा विद्या को, क्लेशक्षय को, विवेक को, यथार्थ ज्ञान को, कर्मसाम्य को और नैष्कर्म्य आदि को, सारांश यह कि समस्त प्रपञ्च को अपने में प्रतिबिम्बित करता रहता है। भगवान् श्रीकण्ठनाथ आदि जिस सृष्टि को करते हैं, वह सृष्टि अनादि कर्मों के अधीन होती है। परमशिव की मूलसृष्टि तो सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष ही होती है।

भला परमशिव ऐसा क्यों करता है ? इस प्रश्न का उत्तर शैव दर्शन की दृष्टि में स्वभाववाद में मिल सकता है। तदनुसार परमेश्वर का नैसर्गिक स्वभाव ही यह है कि वह अपनी इच्छा से अपने को जीवभाव में प्रकट करता हुआ शिवभाव को भुला डालता है। वह देश, काल और आकार की सीमाओं से सीमित तो है ही नहीं, परन्तु अपने स्वभावभूत स्वातन्त्र्य की क्रीड़ा के उल्लास में आकर देश, काल और आकार की कल्पित सीमाओं से बाँधकर अपने आपको सीमित जैसा प्रकट कर देता है। ऐसा करता हुआ अपनी असीमता को भुला डालता है। वस्तुतः वह अकेला ही तो है। जो कुछ और आभासित होता है, वह भी वस्तुतः वही है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। परन्तु स्वातन्त्र्य लीला के उल्लास में वह अपने इस पराद्वैतभाव को भी भुला डालता है और द्वैतभाव का अवभासन करता हुआ जीवरूप में प्रकट होकर अपने आपको शिव से और अन्य जीव से तथा इस प्रमेय संसार से पृथक् और भिन्न समझने लगता है। एक जीव को दूसरे जीव से, शिव से और जगत् से भिन्न समझ बैठता है। यह सब कुछ करना उसका स्वभाव है। स्वभाव की अभिव्यक्ति के उत्तरार्द्ध में जीव अपने भूले हुए वास्तविक स्वभाव की खोज की आरम्भ करके कभी क्रम से, कभी अक्रम से और कभी विक्रम से पुनः पहचान कर फिर से मानो शिव ही बन जाता है[२०] बनता क्या है। शिव ही तो था। अब अपनी शिवता को पहचानकर उसके आनन्द का उपभोग फिर से करने लग जाता है। यह भी उसका स्वभाव ही है। स्वभाव के विषय में प्रश्न हो ही नहीं सकता। आग क्यों गर्म होती है ?

२०—नमस्ते भवसम्भ्रान्तभ्रान्तिमुद्भाव्य भिन्दते।
ज्ञानानन्दं च निर्द्वन्द्वं देव वृत्वा विवृण्वते।। (स्तु.चिं.७१)

ऐसा प्रश्न करना ही मूर्खता है। आग में गर्मी न रहे, तो उसे आग कौन कहे ? परमशिव यदि स्वरूपगोपन और स्परूपप्रकाशन की लीला का अभिनय न करे, तो वह परमशिव ही नहीं रहे। सुविचित्र प्रकारों से ऐसा अभिनय करते रहना ही तो उसकी परमशिवता है। इसे भी उसका स्वातन्त्र्य ही कहते हैं।

स्पन्द

परमशिव को समझो कि चेतना का एक परिपूर्ण और असीम समुद्र है। स्वातनत्र्य उस चेतना का स्वरूप है। यही उसका अपूर्व विलास बन जाता है। विलास ही के कारण उसे महादेव कहा जाता है। देव शब्द का अर्थ ही क्रीड़ाशील या विलसनशील होता है। परमशिव के इस विलसन–स्वभाव को आनन्द कहा जाता है। परमशिव चिद्रूप है। चिदात्मकता उसका स्वरूप है और आनन्दरूपता उस चिद्रूपता का स्वभाव है। स्वभाव स्वभावी में भिन्न नहीं ठहरता। अतः चित् और आनन्द दोनों साथ–साथ ओतप्रोतभाव से रहते हैं। एक भाव की प्रधानतया अभिव्यक्ति हो, तो दूसरा भाव उसी के भीतर गौणरूप से विद्यमान रहता है। परमशिव की आनन्दात्मकता उसमें रहने वाली एक प्रकार की हलचल जैसी कोई विशेषता होती है। इसी से वह शून्य गगन की तरह प्रशान्त नहीं। वेदान्त में ब्रह्म को सर्वथा प्रशान्त माना गया है। परन्तु शैव दर्शन में उसे शान्त भी माना गया है और क्रियाशील भी। वह परमशिव अविद्या आदि क्लेशों से, कर्मफलभोग से, अन्तःकरण, शरीर आदि से तथा राग–द्वेष आदि द्वन्द्वों से सदा मुक्त है। अतः अशान्ति के इन सभी कारणों के न होने से वह तरङ्गहीन समुद्र की भाँति शान्त है। परन्तु समुद्र जड़ है, पर परमशिव जड़ नहीं है। वह चेतन है। उसमें चेतना की ज्ञान–क्रियात्मक हलचल तो अवश्य ही रहती है। हलचल क्या, हलचल जैसी कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाशीलता उसमें रहती है। चेतना की उस हलचल को ही उसका आनन्द कहते हैं, जो उसका नैसर्गिक स्वभाव है। व्यवहार में भी किसी भी प्रकार के आनन्द की अनुभूति में एक विचित्र हलचल की संवेदना होती ही है । आनन्द की कोई भी अनुभूति

आकाशवत् प्रशान्त नहीं होती है। आनन्द की अनुभूति के भीतर अवश्य ही एक विचित्र चमत्कार रहता है। उस चमत्कार में स्वयं एक गतिशीलता जैसी कोई विशेषता होती है। यह बात सभी को अपने अनुभव से ही विदित है। परमेश्वर में रहने वाली आनन्द की हलचल को ही उसके स्वातन्त्र्य के अनन्त वैचित्र्यमय विलास का बीज माना जाता है। शैव दर्शन में चैतन्य की इस आनन्दात्मक गतिशीलता को स्पन्द कहा जाता है। तो आनन्द स्पन्दात्मक होने के कारण जब स्पन्दन करता है तो एक चञ्चल लहर का सा रूप धारण करता है। चेतना के समुद्र में उठने वाली अन्तर्मुख और बहिर्मुख उभयाकार गति जैसी इस लहर को इच्छा कहते हैं। यह इच्छा किसी अप्राप्त वस्तु को पाने की इच्छा नहीं होती। न ही किसी न्यूनता को पूरा करने की इच्छा होती है। यह केवल अपने स्वभाव को अभिव्यक्त करने की एक उमंग होती है। परमशिव की इच्छा स्वतन्त्र और निरोध से रहित होती है। अतः इस इच्छा के द्वारा शिव जैसे चाहता है, वैसे अभिव्यक्त हो जाता है। फलतः जगद्रूप में और जीवनरूप में प्रकट हो जाता है। यह उसकी दिव्य लीला का पूर्वाङ्ग होता है। उस लीला के उत्तराङ्ग में वह अपने भुलाए डाले हुए स्वातन्त्र्य को, अपनी भुला दी हुई परिपूर्णता, असीमता तथा शुद्धसंविद्रूपता को, अपनी असीम परमेश्वरता को, अपनी परमाद्वैतता को, पुनः पहचान लेता है। अपने वास्तविक और पारमार्थिक स्वभाव को भूल डालना और भूल डालकर उसे पुनः अपने अभिमुख लाकर पहचान लेना, ये ही परमेश्वरता के विलास के दो अंग होते हैं। परमशिव अपने उस पारमार्थिक स्वभाव को पहचानकर ही मानो कृतकृत्य हो जाता है। पहचानना भूलने के बिना हो नहीं सकता। अतः अपने स्वभाव को पहचान लेने के लिए उसको भूल

२१–(क) आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ।।
(शि.दृ.१–२)

(ख) औन्मुख्यस्य य आभोगः स्थूलः सेच्छा व्यवस्थिता ।
(तदेव१–१७)

डालना पड़ता है। अपने वास्तविक स्वरूप को भूल डालने और पुनः पहचान लेने की यह क्रीड़ा परमेश्वर का परमेश्वरतात्मक स्वभाव है। यह क्रीड़ा उस अनुत्तर परमशिव में सदा चलती ही रहती है। और अनन्त रूपों में अतिविचित्रतया चलती रहती है। इसके अनन्त प्रकार से चलते रहने में ही संसार की आश्चर्यमयी विचित्रता का रहस्य विद्यमान है।

परमेश्वरता

परमशिव की इस पारमेश्वरी लीला के मुख्य पांच अंग होते हैं। वे पांच कृत्य कहलाते हैं। उनके नाम हैं–सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह।[२२] स्वच्छ स्फटिक जैसे अपने प्रकाश के भीतर सामान्यकार विश्व को प्रतिबिम्ब की शैली पर अपने से भिन्न रूप में, अर्थात् प्रमेय रूप में अवभासित करने की लीला को सृष्टि कहते हैं। यह मूल सृष्टि होती है। इसमें समस्त प्रमेय प्रपञ्च सामान्य–आकार "इदं" इस रूप् में ही अवभासित होता है, भिन्न–भिन्न व्यक्तिगत रूपों में नहीं। आगे माया आदि तत्त्वों, भुवनों, भावों आदि की सृष्टि भी होती है। उसे आगे स्पष्ट किया जाएगा। प्रकट किए हुए विश्व को टिकाए रखने और नियमपूर्वक चलाते रहने को स्थिति की लीला कहते हैं। कुछ काल तक टिकाए रखने के अनन्तर इसे पुनः क्रम से अपने ही भीतर विलीन करने का नाम संहार है। इन तीन कृत्यों को चलाते–चलाते परमशिव जब जीव रूप में प्रकट होते हैं, तो अपनी शिवता को भुला डालते हैं। पारमार्थिक स्वरूप और स्वभाव को भुला डालकर छिपाए रखने की इस लीला को नाम पिधान कृत्य या निग्रह कृत्य होता है। फिर गुरु कृपा द्वारा और शास्त्र–अभ्यास द्वारा परमेश्वर जीव को अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव को पहचान लेने के मार्ग की ओर प्रेरणा कहते हैं और क्रम से या अक्रम से या विक्रम से वह पहचान करा देते हैं। यह लीला उनकी अनुग्रह लीला कहलाती है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में परमशिव इन पांच कृत्यों को निभाने के लिए पांच–पांच रूपों में प्रकट होते हैं। उन पांच रूपों को

२२–नमः शिवाय सततं प्रञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थाविभासिने ।। (प्र.हृ.पृ.१)

पांच कारण कहा जाता है। ये कारण माना परमेश्वर के प्रतिनिधि होते हैं, जो उसके पांच कृत्यों को निभाते रहते हैं। ये पांच कारण होते हैं– ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव[२३]। यद्यपि इन पांचों कारणों में से प्रत्येक में पांचों कृत्यों को करने की शक्ति होती है, फिर भी एक–एक ही कार्य को नभाने में इनका मुख्य अधिकार होता है पारमेश्वरी लीला के असीम क्रीड़ाङ्गन में ब्रह्माण्डों की संख्या को गिना ही नहीं जा सकता[२४]। इस कारण में ब्रह्मा आदि कारण भी इस क्रीड़ाक्षेत्र में असंख्य ही हैं।

ईश्वरता ज्ञान और क्रिया की स्वतन्त्रता को कहते हैं। जो भी व्यक्ति जितने क्षेत्र में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न हो, अर्थात् उस क्षेत्र में जो चाहे जान सके और कर सके, वह व्यक्ति उतने क्षेत्र में ईश्वर होता है[२५]। इस तरह से एक व्यक्ति, एक घर का स्वामी, एक ग्राम का स्वामी, एक ज़िले का स्वामी, एक सामन्त, एक मण्डलेश राजा, और एक चक्रवर्ती सम्राट, सभी उत्तरोत्तर एक दूसरे से बड़े–बडे ईश्वर होते हैं। इनसे बहुत अधिक बड़े ईश्वर क्रम से दिक्पाल, महेन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव होते हैं। परन्तु ये सब ईश्वर परिमित ईश्वर होते हैं। इनकी ज्ञान क्रिया शक्तियाँ परिमित और सीमित होती हैं। जिस परमशिव के द्वारा दी हुई ऐश्वर्य की बूंदों ने इन सभी को ईश्वर बना रखा है और जिसके अपने ऐश्वर्य में किसी भी प्रकार से कोई भी संकोच या

२३–तद्यां ब्राह्मया सृष्टिं सृजति विधिरिन्द्रावरजनिर्
इमां वै वैष्णव्यावति हरति रौद्रयापि च हरः।
विधत्ते चैशान्येश्वर इह महाशक्तिकलया
सदाशम्भुः स्वात्मन्यकलमनुगृह्णति कलयन्।। (दे.ना.वि.४–१८)

२४–न च ब्रह्माण्डानां संख्या विद्यते। (तं.सा.पृ.६४)

२५–स्वात्मैवायं स्फुरति सकलप्राणिनामीश्वरोऽन्तः।
कर्ता ज्ञातापि च यदि परं प्रत्यभिज्ञास्य साध्या।। (ई.सि.५६)

सीमा नहीं, जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की क्रीड़ा वाले इस महानाटक को एकमात्र अपूर्व सूत्रधार है, वही परमेश्वर है[२६]। उसी को अनुत्तर कहते हैं। वही सब कुछ है। उसी में सब कुछ है। उसी के ऐश्वर्य की महिमा से इस नाटक के सभी अंकों और दृश्यों को अबाध गति से अनुपम अभिनय होता रहता है। उसी की महासत्ता के भीतर अनन्त वैचित्र्यपूर्ण महानाटक के प्रत्येक अंग की सत्ता विद्यमान है। इसमें जो कुछ भी है, वस्तुतः स्वयं वही है। वह इस महानाटक का केवल सूत्रधार ही नहीं है, अपितु अनुकार्य, अनुकर्ता, रंगभूमि, नेपथ्य, यवनिका, वेशभूषा, अभिनय, वस्तु, अलंकार, भाव, रस आदि और रस का आस्वाद लेने वाला सब कुछ और सब कोई वस्तुतः स्वयमेव वह परमशिव ही[२७] है। यह उसकी परिपूर्णता का और स्वतन्त्रता का विलास है और इसी को उसकी परिपूर्ण परमेश्वरता का माहात्म्य माना जाता है। इस महानाटक को अनन्त प्रकार के वैचित्र्य से खलते ही रहना परमशिव का नैसर्गिक स्वभाव है। इस महानाटक की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं के भीतर कहीं आरम्भवाद का, कहीं परिमणामवाद का, कहीं आभासवाद का, कहीं विज्ञानवाद का, कहीं शून्यवाद का, कहीं विवर्त्तवाद का, कहीं द्वैतवाद का, कहीं द्वैताद्वैतवाद का और कहीं अद्वैतवाद का दर्शन होता रहता है। इन सभी का मूलाधार सिद्धों के अनुभव में प्रकट होने वाला यह पराद्वैत नाम का स्वातन्त्र्य ही है। यदि स्वातन्त्र्य न होता तो कुछ भी नहीं होता। परन्तु स्वातन्त्र्य है, अतः शेष सब कुछ भी है। भोग, मोक्ष, स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख, बंधन, मुक्ति आदि सभी का बीज परमशिव का स्वातन्त्र्य ही है, और कुछ नहीं।

२६–सम्भवन्ति हि मायागर्भाधिकारिणो विष्णुविरिञ्च्याद्याः
तदुत्तीर्णा अपि महामायाधिकृताः शुद्धाशुद्धा
मन्त्रतदीशतन्महेशात्मानः,शुद्धा अपि श्रीसदाशिवप्रभृतयः। ते तु
यदीयैश्वर्यविद्युड्भिरीश्वरीभूताः स भगवान्
अनवच्छिन्नप्रकाशानन्दरूपस्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः।
(ई.प्र.वि.१–१–१)

२७–सभ्यो नटो विभावादिभावा रङ्गः स्वयं भवन्।
स्वचरित्रानुकारेण स्वमेव भजते रसम्।। (वि.शा.१३)

६
स्पन्द–सिद्धान्त

यह बात कही जा चुकी है कि वेदान्त के अद्वैतवाद में ब्रह्म को प्रशान्त और स्पन्दहीन माना गया है। उस दर्शन के आचार्यों को ब्रह्म में स्पन्द की सत्ता को मानने से उसमें परिणामशीलता की शङ्का होती रही। परन्तु पिछले अध्याय में यह बात स्पष्ट की गई है कि स्पन्दन से परिणाम, अर्थात् विकार, उसी वस्तु में आता है, जो अपरिपूर्ण और सीमित तथा परतन्त्र हो। परिपूर्ण और स्वतन्त्र सत्ता में विकार के लिए कोई स्थान ही नहीं। परिपूर्ण में सब कुछ समा सकता है और स्वतन्त्र सब कुछ कर सकता है। अतः परमेश्वर अपने अद्वैत और अभिन्न महाप्रकाश के भीतर विश्वमयी लीला का अवभासन करता हुआ भी शुद्ध प्रकाश ही बना रहता है। उसकी शुद्ध प्रकाशरूपता में कोई अन्तर नहीं आता। सतत गति से स्थिर रहने वाली उसकी शुद्ध प्रकाशता उसका अचल स्वभाव है। उस स्वभाव से वह सदैव एक ही स्वरूप में ठहरा रहता है। परन्तु उसी का दूसरा स्वभाव उसकी परमेश्वरता की अनुपम, असीम और परिपूर्ण क्रीड़ा भी है, जिसके माहात्म्य से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के विषय में पंचकृत्यों की लीला का अभिनय भी चलता ही रहता है[1]। वस्तुतः ये उसके दो स्वभाव नहीं। स्वभाव तो एक ही है और वह है परमेश्वरता। उस परमेश्वरता नामक परिपूर्ण स्वातन्त्र्य रूपी स्वभाव के ही ये दो पार्श्व या पहलू होते हैं। एक पहलू उसका शुद्ध प्रकाशरूप होने का अविचल पहलू है, जिसको दृष्टि में रखते हुए उसे शिव कहते हैं। उसका दूसरा पहलू विश्वमय महानाटक के अभिनय के विषय में उसकी सतत प्रवृत्ति का पहलू है, जिसको दृष्टि में रखते हुए उसे शक्ति कहा जाता है। शिवता उसकी ज्ञानात्मकता है और शक्तिता क्रियात्मकता। शिवता उसकी स्थिरता है और शक्तिता गतिशीलता। वह एक साथ ही स्थिर तथा अविचल भी है और गतिशील भी है। शिवता की स्फुट अभिव्यक्ति में शक्तिता अस्फुट हो जाती है और शक्तिता की स्फुट अभिव्यक्ति में शिवता अस्फुट हो जाती है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यह दोनों भाव सतत गति से अभिव्यक्त होते ही रहते हैं। उनके बीच परस्पर कोई कालक्रम तो है ही नहीं । परमेश्वर एक साथ ही अविचल और विश्वोत्तीर्ण शिव भी है

१– परमेश्वरता जयत्यपूर्वा तव विश्वेश यदीशितव्यशून्या ।
अपरापि तथैव ते ययेदं जगदाभाति यथा तथा न भाति
(शि.स्तो. १६–३०)

तथा गतिशील और विश्वमय शक्तिरूप भी है। क्योंकि ये दोनों भाव उस एक ही तत्त्व के केवल दो पहलू हैं, जिनकी अभिव्यक्ति साधक को दो प्रकार के दृष्टिकोणों के द्वारा होती है। ऐसा होना तो उसकी परिपूर्णता और परमस्वतन्त्रता की महिमा है। केवल समझाने के लिए शिवभाव को आधार और शक्तिभाव को आधेय ठहराया जाता है । वस्तुतः इनमें किसी भी प्रकार का भेदात्मक सम्बन्ध ठहर ही नहीं सकता क्योंकि दोनों परस्पर सर्वथा अभिन्न हैं [२] और एक दूसरे के अभिव्यंजक तथा परिपोषक हैं।

परमशिव की शक्तिता में क्रियात्मकता की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इसी कारण से वह एक गतिशीलता जैसी कोई विशेषता होती है। गतिशब्द से इस अवस्था में स्थूल पदार्थों की चलनात्मक गति को नहीं समझना चाहिए। न ही इसे सुख–दुःख आदि की मानस गति ही समझना चाहिए। यह शक्तिस्वरूपा गति, क्षुधा, पिपासा, निद्रा आदि प्राणसम्बन्धिनी गति भी नहीं होती है। ये तीनों प्रकार की गतियाँ कल्पित गतियाँ होती हैं और द्वैत की ही भूमिका में इनका अवभास सम्भव होता है। शुद्ध संवित् की शक्तिरूपा गति वस्तुतः चेतना के विमर्श की गति है। इसे चेतना का आनन्दात्मक चमत्कार कहा जा सकता है । चमत्कार सदैव स्पन्दात्मक ही होता है, यह बात स्वानुभव से जानी जा सकती है । शुद्ध, असीम तथा परिपूर्ण चेतना को सदैव स्वात्म–विमर्श (self awareness) होता ही रहता है । उसका यह विमर्शन ही उसकी सूक्ष्मतर क्रिया है [३]। यही उसकी गतिशीलता है। परमशिव की इस गतिशीलता को शैव दर्शन में स्पन्द नाम दिया गया है। यहां स्पन्द एक साथ चलने वाली अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी उभयाकार गति को कहा जाता है। इस स्पन्द की महिमा से परमशिव सतत गति से अपनी विश्वोत्तीर्णता का विमर्श करता है और यह उस स्पन्द की अन्तर्मुखी गति होती है। वह साथ–साथ इस स्पन्द ही की महिमा से अपनी विश्वमयता का भी सूक्ष्मतर विमर्श करता रहता है और यह उस स्पन्द की बहिर्मुखी गति होती है। इन दोनों विमर्शों का स्वरूप उस अभेद की दशा में केवल एकमात्र, शुद्ध, असीम और परिपूर्ण "अहं" ही होता है। विश्वमयता की अभिव्यक्ति के प्रति जो उसकी उन्मुखता का विमर्श होता है, वही उसकी

२–न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान् ।। (शि.दृ. ३–२,३)

३–(क) स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।। (ई.प्र.१–८–११)
(ख) देखिए पीछे अध्या. ५, अङ्क १३।

इच्छा का रूप धारण करता है[४]। तात्पर्य यह है कि परमशिव को अपनी शक्ति को पूरी तरह अभिव्यक्त करने की इच्छा सदैव होती रहती है। वह सदैव इस इच्छा से आविष्ट हुआ ही रहता है । यह इच्छा भी जब आगे स्पन्दन करती है, तो शुद्ध प्रकाश के भीतर एकमात्र "अहं" के रूप में ठहरा हुआ समस्त विश्व "इदं" के रूप में भी अवभासित होने लगता है। "अहंभाव" प्रमातृता होती है और "इदंभाव" प्रमेयता। धीरे–धीरे इस प्रमेयता का आभास स्फुट और स्फुटतर होने लगता है और वह प्रमातृता के आभास को फीका करने लगता है । अगली भूमिका में स्पन्दन के प्रभाव से ही प्रमेयता प्रमातृता से सर्वथा पृथक् रूप में अवभासित होती है, प्रमातृता "अहं" रूप में और प्रमेयता "इदं" रूप में । यह दशा पूरे भेद की दशा होती है । सांख्य शास्त्र की खोज इसी दशा तक पहुंच कर विश्रान्त हो जाती है। इससे ऊपर नहीं जाती । इस स्फुट भेद की दशा में प्रमातृ तत्त्व को पुरुष और प्रमेय तत्त्व को प्रकृति कहते हैं। इस स्फुट भेद के अवभासन में माया का प्रभुत्व अभिव्यक्त होता है। शैव दर्शन में संविद्रूपता का तिरोधान करने वाली और प्रमाता की भेद दर्शन कराने वाली शक्ति को माया कहा जाता है । उस माया की सृष्टि भी स्पन्द की आगे–आगे बढ़ने वाली बहिर्मुखी गति से ही होती है । स्पन्द की उसी गति से आगे प्रकृति का परिणाम होता है और क्रम से सांख्य शास्त्र के तेईस विकृति तत्त्वों, की सृष्टि होती है । उन तत्त्वों से अनन्त प्रकार के भुवनों, भावों और शरीरों की सृष्टि भी स्पन्द की ही गति से होती है। यह समस्त सृष्टि स्पन्द की बहिर्मुखी गति से हुआ करती है। उसकी अन्तर्मुखी गति से ये पच्चीसों तत्त्व और इन तत्त्वों से ऊपर के सभी तत्त्व भी क्रम से पुनः शुद्ध संवित् ही के भीतर विलीन हो जाते हैं।

तीन भूमिकाएँ

इस सृष्टि और संहार के क्रम में तीन मुख्य भूमिकाओं का अवभास हुआ करता है । पहली भूमिका को शक्ति भूमिका कहते हैं । यह भूमिका सर्वथा अभेद की भूमिका होती है । इस भूमिका के दो

४– बोधस्य स्वात्मनिष्ठस्य रचनां प्रति निर्वृतिः।
तदास्थाप्रविकासो यस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते।।
किञ्चिदुच्छूनता सैव महद्भिः कैश्चिदुच्यते।
तस्यैच्छा कार्यतां याता यया सेच्छः स जायते।।
औन्मुख्यस्य य आभोगः स्थूलः सेच्छा व्यवस्थिता।
(शि.दृ.१–१५ तः१७)

अवान्तर पद शिवता और शक्तिता होते हैं । जैसा कि ऊपर कहा गया, शिवता एक अपेक्षाकृत स्थिरभाव होता है और शक्तिता उसकी अपेक्षा से एक चल भाव होता है । इन दोनों के भीतर भेदात्मक संसार शुद्ध संवित् के परिपूर्ण प्रकाश में इस तरह से विलीन होकर रहता है, जिस तरह बीज में पौधा रहता है [५]। बीज में पौधा बीज ही के रूप में विद्यमान रहता है, पौधे के रूप में नहीं। पौधे की अवस्था का तो उस दशा में नाम भी कहीं नहीं होता। तो इस अभेद की भूमिका में केवल "अहं" ही का अवभास होता है। "इदं" का तो वहां नाम भी नहीं होता। वहां "इदं" सारे का सारा "अहं" ही के भीतर विलीन होकर रहता है। शिवदशा में इस "अहं" में प्रकाश की प्रधानता रहती है और शक्तिदशा में विमर्श की। तो शिव परमेश्वर है और शक्ति उसकी परमेश्वरता है। शिवता और शक्तिता भी दो परस्पर भिन्न भाव नहीं हैं[६]। एक ही अभिन्न तत्त्व के केवल दो पहलू हैं। एक ही परतत्त्व का साक्षात्कार ज्ञान की दृष्टि से शिवता के रूप में और विज्ञान की दृष्टि से शक्तिभाव के रूप में हुआ करता है[७]।

स्पन्द की गति की दूसरी भूमिका में शुद्ध प्रकाशरूपी प्रमाता के भीतर ही प्रमेय का भी आभास होने लगता है। परन्तु दोनों का परस्पर अभेद भाव ही प्रकट होता रहता है। इस भूमिका में "अहं", अर्थात् प्रमाता और "इदं", अर्थात् प्रमेय, इन दो भावों के आभासमान होने से यह भूमिका भेद की भूमिका होती है। परन्तु साथ ही इन दो की परस्पर अभेद प्रतीति के होने से यह भूमिका अभेद की भी भूमिका कहा जाता है। शैव शास्त्र में इस भूमिका का नाम विद्याभूमिका होता है। वेदान्त में विद्या यथार्थ अद्वैत ज्ञान को ही कहते हैं, परन्तु शैव दर्शन में इस शब्द को कई एक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। भेद और अभेद की मिली–जुली दृष्टि को भी इस शास्त्र में शुद्ध विद्या कहा जाता है। इस शुद्ध विद्या की भूमिका के प्राणी जगत् को और अपने आप को "अहम् इदम्", अर्थात् "मैं यह हूं" अथवा "इदम् अहम्", अर्थात् "यह मैं हूं।" इसय दृष्टि से देखते हैं।

स्पन्द की गति को अगले प्रसार में तीसरी भूमिका का आविर्भाव और विकास होता है। यह भूमिका सर्वथा भेद की भूमिका होती है। इस भूमिका को मायाभूमिका कहा जाता है। वेदान्त में माया परब्रह्म की उस झूठी उपाधि को कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में वह ईश्वर जैसा प्रतीत होता हुआ सृष्टि संहार आदि करता रहता है। परन्तु शैव दर्शन में माया शब्द का भी प्रयोग कई एक अर्थों में किया जाता है। जड़ तत्त्वों के उपादान कारण को माया कहते हैं। यह माया तत्त्व होता है। स्वात्म स्वरूप के

५– यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।। (प.त्री.पृ.२५८)

भेददृष्टि रूपी आवरण को मायामल कहते हैं। भेद प्रथा की भूमिका को मायाभूमिका कहा जाता है। परिपूर्ण परमेश्वर की परिपूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति कहा जाता है। परिपूर्ण परमेश्वर की परिपूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति को मायाशक्ति कहा करते हैं।

संकोच और विकास

यह बात तो स्पष्ट हो गई है कि परमशिव की स्पन्दात्मक गतिशीलता के कारण वह अनन्त–अनन्त रूपों में अभेद से भेदाभेद में और वहां से पूरे भेद में अनन्त–अनन्त प्रकारों से उतरता ही रहता है और विपरीत क्रम से अनन्त वैचित्र्यमयी लीला के द्वारा भेद से भेदाभेद पर ओर वहां से अभेद पर चढ़ता ही रहता है। इन भूमिकाओं में अनन्तर रूपों में सुविचित्र प्रकारों से टिका भी रहता है। यह सब कुछ स्पन्द की महिता का फल है। परमेश्वर की आरोहणलीला और अवरोहणलीला का अनन्त प्रकार का अनोक्षा वैचित्र्य ही इस संसार को समझिए। अवरोहणलीला में उत्तरोत्तर जगत् का विकास होता रहता है और इसके साथ ही साथ शिवता का सङ्कोच होता जाता है। शैव दर्शन की पराद्वैत दृष्टि के अनुसार एक सर्वथा जड़ वस्तु भी वस्तुतः परिपूर्ण परशिव ही है। पूर्ण परशिव में और एक जड़ चट्टान में वस्तुतः कोई भी अनन्तर नहीं। परन्तु परमशिव में उसकी परमेश्वरता पूर्णतया विकसित अवस्था में अभिव्यक्त होकर रहती है और चट्टान के भीतर वह अत्यन्त संकुचित अवस्था में अनभिव्यक्त होकर रहती है। चेतन प्राणियों में, विशेष करके देवताओं, सिद्धों और पांच कारणों में वह परमेश्वरता अधिक–अधिक अभिव्यक्त होकर रहती है। साधारण प्राणियों के भीतर तो उसकी अंशमात्र ही अभिव्यक्ति हुआ करती है। जगत् के परिपूर्ण विकास की अवस्था में यह संसार जितने वैचित्र्य से युक्त होकर अवभासित होता है, उतने ही वैचित्र्य के समेत ही यह शिवतत्त्व में भी विद्यमान ही रहता है। परन्तु वहां इसकी शिवता ही विकास को प्राप्त हुई होती है, अतः वहां शिवता की ही प्रस्फुट अभिव्यक्ति हुआ करती है। वहां संसार की संसारता अत्यन्त संकुचित होकर शिव बनकर ही पड़ी रहती है। अतः उसकी अभिव्यक्ति वहां होती ही नहीं। स्पन्द की अन्तर्मुखी गति के क्रम से धीरे–धीरे संसारता का संकोच और शिवता का विकास होता रहता है। ये संकोच और विकास साथ–साथ ही चलते रहते हैं और सदैव दोनों प्रकार की गतियों द्वारा दोनों ओर से चलते ही रहते हैं। एक भाव का विकास ही दूसरे भाव का संकोच और एक भाव का संकोच ही दूसरे भाव का विकास बनता है। दोनों लीलाएँ परमशिव के स्वातन्त्र्य की लीलाएँ हैं और चलती

रहती हैं उसके स्वभावभूत स्पन्द की महिमा से। यह स्पन्द सिद्धान्त भी शैव दर्शन का एक ऐसा प्रमुख सिद्धान्त है, जो इस दर्शन को अद्वैत वेदान्त से एक सर्वथा भिन्न दर्शन सिद्ध करता है।

उपयोगितावाद

वेदान्तदर्शन और महायान बौद्धदर्शन में कार्यरूप जगत् को सर्वथा असत्य माना जाता है । इन दर्शनों की दृष्टि में जगत् है ही नहीं और न ही इसकी सृष्टि, स्थिति या संहार ही होता है । यह अनादि अज्ञान के कारण केवल आभासित ही होते हैं और वस्तुतः इसकी सत्ता तो कहीं है ही नहीं । अनादि अज्ञान के संस्कारों के कारण होने वाले चित्त के संकल्पों और विकल्पों ही से इसका आभास होता है । इन दर्शनों की इस दृष्टि को आभासवाद या विज्ञानवाद (idealism) कहा जा सकता है । न्याय और वैशेषिक दर्शनों में परमाणुओं की नित्य सत्ता को तो माना गया है, परन्तु कार्यरूप जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश को भी साथ माना गया है । तो इन दर्शनों की दृष्टि में कार्यरूप जगत् उत्पत्ति से पहले असत्य होता है । उत्पत्ति से ही वह सत्य बन जाता है । स्थिति में सत्य ही बना रहता है । विनाश के अनन्तर पुनः असत्य हो जाता है । इन दर्शनों की इस दृष्टि को असत्कार्यवाद कहा जाता है। इस दृष्टि को realism, अर्थात् यथार्थवाद में ही गिना जा सकता है। सांख्य और योग दर्शनों की दृष्टि तो वास्तविक यथार्थवाद की दृष्टि होती है। उसे दार्शनिक भाषा में सत्कार्यवाद कहते हैं। उन दर्शनों के अनुसार समस्त संसार उत्पत्ति से पहले मूल प्रकृति के भीतर उसी तरह से विद्यमान रहता है, जिस तरह तिलों के भीतर तेल रहता है। परन्तु अनभिव्यक्त दशा में ही रहता है। सृष्टि द्वारा इस जगत् की नई उत्पत्ति नहीं होती है, केवल अभिव्यक्ति ही होती है। इसी तरह से संहार द्वारा जगत् पुनः प्रकृति के भीतर लीन होकर अनभिव्यक्त हो जाता है, नष्ट नहीं होता। कटक, कुण्डल आदि आभूषण भी पिघलने से स्वर्ण में लीन होकर अनभिव्यक्त हो जाते हैं। तो सृष्टि संहार द्वारा जगत् और मूलप्रकृति का केवल परस्पर रूप परिवर्तन मात्र हो जाता है, उत्पत्ति और विनाश नहीं होता॥ इस तरह से इन दर्शनों की दृष्टि सर्वथा यथार्थवाद (या realism) की दृष्टि है। वर्तमान युग के भौतिक विज्ञान की दृष्टि भी बहुत अंश में इसी प्रकार की है।

शैव दर्शन की दृष्टि को न तो उस तरह का यथार्थवाद (realism) ही कहा जा सकता है, जिस तरह से इस शब्द के अर्थ को दर्शनविद्या में समझा जाता है और न ही इसको उस तरह का विज्ञानवाद

(idealism) ही कहा जा सकता है, जिस तरह से इस शब्द के भी अर्थ को संसार में समझा जाता है। शैव दृष्टि को सत्कार्यवाद कहा तो जा सकता है, परन्तु सांख्य के जड़ सत्कार्यवाद से यह स्वतन्त्र सत्कार्यवाद सर्वथा भिन्न है। सांख्य के अनुसार मूलप्रकृति का स्वरूप परिवर्तन हो जाने से उसमें रहने वाले संसार के स्वरूप की अभिव्यक्ति हुआ करती है। परन्तु शैव दर्शन की दृष्टि में संसार के सांसारिक स्वरूप की अभिव्यक्ति परमशिव की इच्छा के स्पन्दन से प्रतिबिम्ब न्याय से ही होती है, स्वरूपपरिवर्तन के न्याय से नहीं। शैवों की दृष्टि में भी संसार सत्य तो है, परन्तु इसकी संसारता व्यवहार में ही सत्य है, परमार्थतया सत्य नहीं, क्योंकि उसका आविर्भाव और तिरोभाव दोनों ही समय–समय पर हुआ करते हैं। संसार की पारमार्थिक सत्ता भी होती ही है, परन्तु वह संसाररूपता में न होकर शुद्ध संविद्रूपता में ही होती है । शुद्ध संवित् स्वरूप परमशिव परमार्थतया सत्य है। समस्त विश्व उसके भीतर संवित् की ही अवस्था में सदैव विद्यमान रहता है । अतः उस रूप में समस्त संसार भी परमार्थ सत्य ही है। संसार की संसारता तो एक प्रतिबिम्ब के न्याय से ही आभासित होती है। उसका वह आभास परमशिव के ही स्वातन्त्र्य की लीला के विलास से और उसी के स्वभावभूत स्पन्द की महिमा से होता रहता है। शिव का स्वातन्त्र्य और उसका स्पन्द भी शिव ही है। उससे भिन्न नहीं है। अतः स्वातन्त्र्य भी सत्य ही है। स्वातन्त्र्यमयी शिव की लीला भी स्वातन्त्र्य ही है। वह अविद्या की तरह कोई बाहिर की वस्तु तो नहीं है। अतः वह भी सत्य ही है। उस स्वातन्त्र्य–लीला की अभिव्यक्ति ही यह संसार है। उसकी यह अभिव्यक्ति भी उससे भिन्न नहीं। अतः यह भी तद्रूप होती हुई सत्य ही है। तो संसार भी सत्य ही है। वह बन्ध्यापुत्र नहीं है, न ही आकाश पुष्प है। इस तरह का यह शैवों का सत्कार्यवाद सांख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न प्रकार का है । सांख्य दर्शन में मूलप्रकृति को जितना सत्य माना गया है, उतना ही सत्य इस विकृतिरूप संसार को भी माना गया है। परन्तु शैव दर्शन की दृष्टि में एकमात्र शुद्ध संवित् ही परमार्थतया सत्य है। संसार भी उसी संविद्रूपता में ही परमार्थतया सत्य है। संसार के जितने भी व्यावहारिक रूप हैं, वे सब कल्पित हैं। अतः परमार्थतया सत्य नहीं है। परन्तु इस कल्पित संसारता के अवभास का बीज उस अकल्पित परमार्थ सत्य ही के भीतर विद्यमान रहता है। मानो कि यह संसार ही वहां बीजरूपता में रहता है। उसी बीजरूपता से इसका विकास संसाररूपता में हुआ करता है। इस संसाररूपता की कल्पित सत्ता को भी सत्ता ही कहा जा सकता है,

असत्ता[९] नहीं। वेदान्त में जिस अविद्या को जगत् का बीज ठहराया गया है, वह अविद्या भी उस दर्शन की दृष्टि में स्वयं असत्य ही है। अतः वहां जगत् भी असत्य ही है । परन्तु शैव दर्शन की दृष्टि में जगत् का बीज अकल्पित और पारमार्थिक सत्य परमशिव ही है । अतः जगत् कल्पित अवस्था में भी सत्य ही है। चाहे उसकी इस जगद्रूपता की सत्ता कल्पित सत्ता ही क्यों न हो। इसीलिए तो उसकी सत्यता के आधार पर ही अनन्त प्रकार के वैचित्र्य से परिपूर्ण विश्व के सभी व्यवहार चलते रहते हैं। साधक ने व्यवहार में इसे सत्य मानकर ही और इसकी व्यावहारिक सत्ता में ठहर कर ही इसकी पारमार्थिक सत्यता को पहचानना होता है। वह पूरी पहचान किसी को सद्यः हो जाती है और किसी को क्रम से। पहचान होने के उस क्रम में जिस–जिस भूमिका में जिस–जिस वस्तु की उपयोगिता और सत्यता का अनुभव होता है तथा जिस–जिस वस्तु की प्रतिबिम्ब तुल्यता का अनुभव जब तक नहीं होता, उस–उस भूमिका तक उस–उस समय तक उस–उस वस्तु को सत्य ही मानकर काम करना होता है। तभी तो लौकिक व्यवहार भी चल सकता है और साधना का व्यवहार भी। अतः शैव दर्शन की दृष्टि में भ्रमवाद और मिथ्यावाद की रट लगाना उपयुक्त नहीं। ऐसा करना तो पहले आत्मवञ्चना है और फिर परवञ्चना भी है[१०]। इस कोरी रट लगाने का फल न तो व्यक्ति के लिए शुभ होता है और न समाज और राष्ट्र ही के लिए। आ. शङ्कर और आ. गौडपाद का यह अभिप्राय नहीं था । लोगों ने उनके प्रपञ्चासार तन्त्र, सौन्दर्यलहरी और सुभगोदय की ओर ध्यान न देते हुए ही उनके अभिप्राय को इस प्रकार से समझा, अतः ठीक नहीं समझा। बहुत सम्भव है कि राजपूतों के युग में शाङ्कर मठो के सञ्चालियों ने जनसाधारण में जिस मिथ्यावाद और भ्रमवाद का अत्यधिक प्रचार किया, वही भारत की वर्तमान दुर्दशा का एक मुख्य कारण बना हो और अब भी बना ही रहा हो। बौद्धों के शून्यवाद के अत्यधिक पचार ने भी भारत को बहुत ही हानि पहुंचाई, ऐसा पीछे कहीं कहा जा चुका है। उनके उस विज्ञानवाद की अपेक्षा शैवों का यह उपयोगितावाद (pragmatism) व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए अधिक लाभप्रद हो सकता है। इसीलिए तो सारे महाभारत में उस युग के उत्कृष्टतम गुरु भगवान् कृष्ण ने इस उपयोगितावाद का ही जहां–तहां आसरा लिया है। महामुनि श्रीदुर्वासा ने भगवान् कृष्ण को शैव विज्ञान की दीक्षा दी थी, ऐसा

९– देखिये पीछे अध्याय – ५, अङ्क–६ ।

१०– देखिये पीछे अध्या – २, अङ्क–१३ ।

महाभारत आदि ग्रन्थों से सिद्ध होता है। बहुत सम्भव है कि इसी कारण से भगवान् कृष्ण ने अपने जीवन चरित में इस उपयोगितवाद का ही आसरा लिया हो। इस उपयोगितवाद को क्रियात्मक रूप देने वाले कुछ एक ही चाणक्य और आद्य विक्रमादित्य जैसे अखिल भारतीय महत्त्व वाले महापुरुष देश में प्रकट हुए । इसी कारण से भारत ने गत एक सहस्र वर्षों में उस प्रगति का एक अंश मात्र भी प्राप्त नहीं किया, जिसे प्राप्त करने की योग्यता भारतीय जनता में विद्यमान थी। वर्तमान युग में भी हम इसी रोग के शिकार पद–पद पर बन रहे हैं। अस्तु।

स्पन्द को शैव आचार्यों ने स्वातन्त्र्य की एक विशेष प्रकार की छलकन भी कहा है। परमशिव चैतन्य के आनन्द का मानो एक समुद्र है, जो सर्वथा परिपूर्ण है। परिपूर्णता के अतिशय से वह छलकता सा है[११]। उसकी इस छलकन से आनन्द रस की बूंदे जब इधर–उधर द्वैत के क्षेत्रों में बिखर जाती हैं, तो वही जमकर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। परमशिव आनन्द की मस्ती में मानो झूमता है। उसके झूमने की जो गति है, उसी का फल अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि, स्थिति, संहार आदि के रूप में प्रकट हो जाता है[१२]। इसी प्रकार से परमशिव के इस स्पन्दनात्मक स्वभाव को शैव आचार्यों ने स्फुरत्ता अर्थात् फड़कन भी कहा है[१३]। इसे अचल परमशिव की चलता अर्थात् गतिशीलता भी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वह अचल तो है ही, परन्तु अपने स्वातन्त्र्य से अचल होता हुआ ही

११–(क) निम्नं तडागपानीयं कः प्रवर्तयितुं क्षमः ।
परिपूर्णे पुनस्तस्मिन् प्रवाहाः सर्वतोमुखाः ।।
(मा.वि.वा. १–२४५,४६)

(ख) स्वकौतुककलालोका दुच्छलन्त्येव या चितिः ।
सैव स्वभावरागेण विश्वं रञ्जयते यतः ।
(तदेव १–२७६,७७)

१२– स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्
विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत् स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत् समुल्लसति भावमण्डलम् ।। (शि.स्तो. १३–१५)

१३– सा स्फुरत्ता महासत्तैा देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।।
(ई.प्र.१३–१५)

गतिशील जैसा भी अभिव्यक्त होता रहता है[१४] शुद्ध संवित्स्वरूपता से जरा भर भी विचलित नहीं होता है, परन्तु प्रमेय सृष्टि करता हुआ मानो कि विचलित सा हो भी जाता है। यही उसकी स्पन्दशीलता का माहात्म्य है।

पराद्वैत

इस तरह से जो कुछ भी है, शिव ही है। यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाए, तो कोई भी वस्तु जड़ या चेतन ऐसी नहीं जो सर्वथा, सर्वतः और सर्वदा परिपूर्ण शिव ही न हो। शिवता के सङ्कोच और विकास दोनों ही शिव ही हैं। बन्धन भी शिव ही है और मुक्ति भी । द्वैत भी शिव ही है और अद्वैत भी। एक जड़ पदार्थ भी उतनी ही मात्रा में शिव है, जितनी मात्रा में स्वयं परमशिव। कोई भी वस्तु वस्तुतः किसी भी प्रकार से अशिव नहीं। शैव साधना के सफल अभ्यास से उत्कृष्ट सिद्ध पुरुषों में एक ऐसी दृष्टि का उन्मेष हो जाता है, जिससे वे प्रत्येक वस्तु को शिवरूप ही देखते हैं, अनुभव करते हैं और समझते हैं। इस शैव दृष्टि का सुन्दर वर्णन आ. सोमानन्द की शिवदृष्टि में किया गया है[१६]।इस सर्वव्यापिनी शिवत्वदृष्टि के ही आधार पर आ. अभिनवगुप्त ने

१४— स्पन्दनं च किञ्चिच्चलनम्॥ स्वरूपाच्चयदि वस्त्वन्तराक्रमणं, तच्चलनमेव, न किञ्चित्त्वम्। नो चेत्, चलनमेव न किञ्चित्। तस्मात् स्वरूप एव क्रमादि–परिहारेण चमत्कारात्मिका उच्छलत्ता ऊर्मिरिति, मत्स्योदरीतिप्रभृति–शब्दैरागमेषु निदर्शितः स्पन्द इत्युच्यते। (प.त्री.वि.पृ. २०७)

१५— स्पन्दनं च किञ्चिच्चलनम्। एषैव च किञ्चिद्रूपता, यदचलमपि चलमाभासते इति। प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते, अतिरिच्यते इवेति तदचलमेवाभासभेदयुक्तमिव च भाति। (ई.प्र.वि १–५–१४)

१६— सर्वे भावाः स्वमात्मानं जानन्तः सर्वतः स्थिताः।
मदात्मना घटो वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना।
सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना।
शिवात्मना यज्ञदत्तो यज्ञदत्तात्मना शिवः।।
सदाशिवात्मना वेत्ति घटः स च घटात्मना ।
सर्वे सर्वात्मका भावाः सर्वसर्वस्वरूपतः ।।
सर्वस्य सर्वमस्तीह नानाभावात्मरूपकैः।
मद्रूपत्वं घटस्वास्ति ममास्ति घटरूपता।।

मालिनी विजय वार्तिक में इस दर्शन को पराद्वैत या परमाद्वैत कहा है[१७]। यह परिपूर्ण पराद्वैत दृष्टि विद्या और अविद्या दोनों को ही शिवात्मक रूप में देखती है। अतः शैवों को यह असीम अद्वैत दृष्टि वेदान्तियों की आपेक्षिक और एकाङ्गी अद्वैत दृष्टि से सर्वथा भिन्न प्रकार की है। वेदान्त की अद्वैत दृष्टि में ब्रह्म को सत्य रूप में, जगत् को मिथ्या रूप में और जीव को ब्रह्म रूप में देखा जाता है[१८],परन्तु शैवों की इस अपरिमित पराद्वैत दृष्टि में जीव और जगत् को भी परम सत्य और परिपूर्ण परमशिव के रूप में ही देखा जाता है[१९]। इस परा द्वैत दृष्टि की ओर नागार्जुन नाम के शैव आचार्य ने भी परमार्चनत्रिशिका में निर्देश किया है[२०]।

नानाभावैः स्वामात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।
चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिनन्मन्तकम्।।
(शिव. दृ. ५–१०५ तः१०६)

१७–(क) इदं हि तत् पराद्वैतं भेदत्यागग्रहौ न यत्।
(भा.वि.वा.१–१२३)

(ख) उच्यते नाद्वयेऽमुष्मिन् द्वैतं नास्त्येव तत्त्वतः।
उक्तं हि भेदवन्ध्येऽपि विभौ भेदावभासनम्।। (तदेव १–१०८)

(ग) अतएव हि भेदोऽस्ति न कश्चिद् यो महेश्वरम् ।
अद्वयं सम्प्रभिन्दीत प्रकाशानन्दसुन्दरम्।। (तदेव १–६२१)

(घ) परमाद्वयदृष्टौ च सोऽपि नैव न संगतः। (तदेव २–१८)

१८–(क) प्रपञ्चो यदि विद्येत निर्वेतत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।।(गौ.दा.का. १–१८)

(ख) न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।। (तदेव २–३२)

१९–(क) एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः ।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे ।। (वो.पं. १४)

(ख) अस्यां भूमौ सुखं–दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः ।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च।। (तं. आ. २–१७)

२०–आत्मानात्मनि न जानते विधिं। निस्तरङ्गपरबोध भास्वराः।
यत्पदस्थितिजुषो महाजना मोक्षसंसृति समानबुद्धयः।।(प.त्रिं२४)

७

विशुद्ध सृष्टि

परमेश्वर को समस्त विश्वरूपी वृक्ष का बीज ही समझिए। उस बीजात्मक परमेश्वर में उसी के स्वभावभूत स्वातन्त्र्य के विलास से जब स्पन्दन होता है, तो पहले प्रकाशप्रधान शिवतत्त्व का और विमर्शप्रधान शक्तितत्त्व का आविर्भाव हो जाता है। इन दो तत्त्वों में परमशिव की चित् शक्ति और आनन्दशक्ति अभिव्यक्त हो जाती हैं[1]। स्पन्द की उत्तर गति से इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति को शक्तितत्त्व का पूर्ण विकास कहें तो अनुचित नहीं होगा[2]।

सदाशिव–ईश्वर

स्पन्द की गति की अगली भूमिका में भेदाभेद दशा का आविर्भाव हो जाता है। उस दशा में तीन तत्त्व प्रकट होते हैं। पहले प्रामतृ अंश अर्थात् "अहं" अंश के प्रकाश में प्रमेयता, अर्थात् "इदन्ता" का धीमा सा आभास होने लगता है और संवित् "अहम् इदम्", अर्थात् "मैं यह हूँ।", इस रूप में चमकने लगती है । संवित् अर्थात् चेतना की इस

१–(क) आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।
(शि.दृ.१–२)

(ख) स्वरूपानुप्रविष्टचिन्निर्वृतिरूपशक्तिद्वयः प्रकाशानन्दमयः पूर्णपरमेश्वरः शिवः। (शि.दृ.वृ.१–२६)

२– तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके।
विभर्ति रूपमिच्छातः ..... ।।
शि.दृ.१–२६, ३०)

अवस्था को सदाशिव–तत्त्व कहते हैं[३]। इससे आगे प्रमेयता का या ज्ञेयता का अर्थात् "इदन्ता" का अंश स्फुट रूप में चमकने लगता है और प्रमातृता के प्रकाश को फीका सा करने लगता है। उस अवस्था को ईश्वरतत्त्व कहा जाता है। इस तत्त्व में संवित् का प्रकाश "इदम् अहम्", अर्थात् "यह मैं हूँ", इस प्रकार के रूप को धारण करता है[४]। सदाशिवतत्त्व में "अहम्" अंश की प्रधानता रहती है और ईश्वरतत्त्व में "इदम्" अंश की। सदाशिवतत्त्व में प्रमेयता अर्थात् ज्ञेयता का कुछ उस प्रकार का सा फीका सा आभास होता है, जिस प्रकार का किसी संकल्प में या मनोराज्य में हुआ करता है। परन्तु ईश्वरतत्त्व में प्रमेयता का आभास कुछ उस प्रकार का सा होता है, जिस प्रकार का बाह्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में हुआ करता है[५]। सदाशिव दशा में प्रमेयता का धीमा आभास मात्र ही हुआ करता है, परन्तु ईश्वरदशा में उसका अन्तः निर्माण भी हो जाता है। इसीलिए सदाशिव दशा में ज्ञानशक्ति की और ईश्वरदशा में क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति मानी गई है। ये दोनों शक्तियाँ इच्छाशक्ति रूपी अङ्कुर के मानो दो दल हैं, उस अंकुर का बीज मानो शिवतत्त्व है और बीज का

३–(क) ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सदारूपसदाख्यायां भवम् । यतः प्रभृति सादेति प्रख्या । सादाख्यायाश्च सदाशिवरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम्। (ई.प्र.वि.३–१–२)

(ख) तत्र यदा अहमित्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमंशमुल्लासयति, तदा तस्या स्फुटत्वात् सदाशिवता "अहमिदमिति ।"
(तदेव ३–१–२)

४–(क) बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासने सति पारमेश्वरं परमेश्वरशब्दवाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम।
(तदेव ३–१–२)

(ख) इदमहमिति तु इदमित्यंशे स्फुटीभूतेऽधिकरणे यदाहमंशविमर्शनिषिञ्चति तदेश्वरता। (तदेव ३–१–३)

५– मध्ये तु रूपे "अहमिदम्" इति समधृततुलापुटन्यायेन यो विमर्शः स सदा–शिवनाथ ईश्वरभट्टारके च। इदंभावस्य तु ध्यामलाध्यामलताकृतो विशेषः। (तदेव ३–१–३)

स्पन्दन मानो शक्तितत्त्व है।

शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व में ठहरे हुए प्राणी अकल प्राणी कहलाते हैं। इनका स्वरूप शुद्ध संवत् ही होता है। ये अभेद भाव में ही ठहरे रहते हैं और अपने को एकमात्र, अभिन्न और परिपूर्ण संवित्स्वरूप "अहं" ऐसा समझते हैं। इन्हें इदन्ता या विषयता का आभास होता ही नहीं। समस्त प्रमेयात्मक विश्व इनकी संवित्–मयी प्रमातृता के भीतर विलीन होकर रहता है। अतः इन प्राणियों को एकमात्र परमेश्वरात्मक परिपूर्ण "अहं" ही की प्रतीति होती है। उन दो तत्त्वों के अधिष्ठाता स्वयं शिव और शक्ति ही हैं।[६] 'शिव' से यहां परिपूर्ण और असीम शुद्ध प्रकाश ही समझना चाहिए, कैलासवासी शिव नहीं। इसी तरह से इस दशा की भगवतीशक्ति गिरिजा न होकर शुद्ध, असीम और परिपूर्ण विमर्शरूपिणी चेतना ही होती है। सदाशिवतत्त्व और ईश्वरतत्त्व के अधिष्ठाता क्रम से भगवान् सदाशिव और भगवान् ईश्वर होते हैं। भगवान् सदाशिव को अपने परिपूर्ण और शुद्ध प्रकाशविमर्शात्मक स्वरूप के भीतर प्रमेयता की धीमी सी झलक का संवेदन होता है। इस तत्त्व में ठहरे हुए प्राणियों को मन्त्रमहेश्वर कहा जाता है।[७] इनका दृष्टिकोण भी भगवान् सदाशिव भट्टारक का ही जैसा होता है। ये मन्त्रमहेश्वर और इनके उपास्य सदाशिव भट्टारक अपने अभेद के आनन्द में ही भेद प्रतीति को तिरोहित करते हुए प्रायः आत्म आनन्द के अलौकिक चमत्कार की अनुभूति में ही

६–(क) शिवादिसकलात्मान्ताः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः।(मा.वि.त२–३) यहां शिवपद से अकल प्राणियों को गिना गया है ।

(ख) तत्र––(१) अप्रकाशात्मनापि प्रकाशते, प्रकाशात्मनापि। तत्रापि प्रकाशात्मनि,(२)सर्वथा प्रकाशात्मना प्रकाशो,(३)भागशो वा।इत्यादि।(ई.प्र.वि.१–१–२)

(ग) इच्छात्मिका स्फुटस्वातन्त्र्यात्मिका शिवस्य (अकलस्येति)। (तं.सा.पृ.६४)

७–(क) तत् संस्कार (विद्याकलासंस्कार) सचिवा प्रबुद्धयमाना शुद्धविद्या मन्त्रस्य (शक्तिः)। तत्संस्कारहीना सैव प्रबुद्धा मन्त्रेशस्य। सैव इच्छाशक्तिरूपतां स्वातन्त्र्यस्वभावां जिघृक्षन्ती मन्त्रमहेश्वरस्य (शक्तिः)। (तं.सा.पृ.६४)

तन्मय होकर रहते हैं। इनके द्वारा परमेश्वरता की बहिर्मुखी लीला का कार्य अधिक नहीं होता। उस कार्य को निभाने के लिए ही ईश्वरतत्त्व का आविर्भव होता है। उस तत्त्व में क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति के कारण वह व्यवहार अधिक स्फुटतया चल सकता है। इसीलिए उस तत्त्व के अधिष्ठाता का नाम ईश्वर है।[८] ईश्वरता की स्फुट अभिव्यक्ति वस्तुतः यहां से होती है। तो ईश्वर भट्टारक ही पारमेश्वरी लीला के बहिर्मुखी विकास के कार्य में अधिक भाग लेते हैं। वेदान्त में भी सृष्टि, स्थिति, संहार आदि की कर्तृता ईश्वर में ही मानी गई है। परन्तु वेदान्त के ईश्वर को माया नाम की उपाधि ही खडा करती है। ब्रह्म उस उपाधि के संसर्ग से ही ईश्वर प्रतीत होता हैं।[९] अपने नैसर्गिक स्वभाव से वह ईश्वर नहीं। श्री शङ्कराचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अविद्या नामक उपधि को हटाए जाने पर कौन किसका ईश्वर हैं।[१०] परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में अपने स्वातन्त्र्य के विलास द्वारा स्वयमेव स्फुटभेदयुक्त अभेददशा पर उतरे हुए परमशिव को ही ईश्वर कहते हैं। वेदान्त का ईश्वर प्रकृति के साथ सम्बन्ध रहता है और सगुण रूपों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र बनकर प्रकट होता हैं परन्तु शैव दर्शन में ईश्वर भट्टाकर को माया भी स्पर्श नहीं करती, प्रकृति के उसे स्पर्श करने की बात ही क्या ? ईश्वर भट्टारक तो प्रकृति से नौ सोपान तथा माया से भी दो सोपान ऊंची दशा पर ठहरे हैं। हां परमेश्वरता के बहिर्मुखी व्यवहार को चलाने के लिए वे अवतार रूपों

८— यस्तु सदाशिवभट्टारक ईश्वरभट्टारकश्च ध्येयोपास्यादिरूपतया स ब्रह्मविष्णुतुल्यः पृथगेव मन्तव्यो, न तु नामसारूप्यादभ्रमितव्यम्। (ई.प्र.वि.३—१—२)

९—(क) मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। (पं.द.१—१६)

(ख) चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा। तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मवेश्वरतां व्रजेत्।।(पं.दृ.३—४०)

१०— तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वम्। (ब्र.सू.शां.भा.२—१—१४)

में निचले तत्त्वों पर उतरते हैं वहां उनके अवतार शरीरों को ही प्रकृति आदि का स्पर्श होता है। महामाया की दशा में उतरकर वे भगवान् अनन्तनाथ के रूप में प्रकट हो जाते हैं[11] और गुणतत्त्व में भगवान श्रीकण्ठनाथ और भगवान् उमापतिनाथ के रूप में[12]। अपनी स्वाभाविक भेदाभेद की दशा में तो प्रमेयता से उपरोक्त शुद्ध संवित् ही उनका स्वरूप होता है। वह स्वरूप अशरीर ही होता है।

शुद्ध विद्या

इस भेदाभेद की भूमिका में अधिष्ठातृभाव से ठहरे हुए सदाशिवभट्टारक और ईश्वरभट्टारक का तथा यहां के सभी मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर नामक प्राणियों का जो भेदाभेदात्मक दृष्टिकोण होता है, उसे इनके संवेदन का साधन समझिए। इस भूमिका में तो अभी किसी भी अन्तःया बाह्यकरण की सृष्टि हुई ही नहीं होती है। अतः उस भेदाभेदमय दृष्टिकोण को इनका करणस्थानीय साधनतत्त्व माना जाता है। इसी तत्त्व को शुद्धविद्या या सद्विद्या कहा जाता है[13]। यह तत्त्व इस भेदाभेद भूमिका

११–(क) श्रीश्रीकण्ठनाथश्चाधिगततत्त्वः श्रीमदन्तनाथात्,सोऽपि श्रीभगवच्छक्तितः इत्याद्यागमेषु निरूपितम्।
(ई.प्र.वि.वि.खं.३,पृ.४५)

(ख) अशुद्धं पुनरध्वानमनन्तापरनामाघोरेशःसृजति। (तं.सा.पृ.७५)

१२–(क) ममापि च पुरा दीक्षा तथा चैवाभिषेचनम्।
श्रीकण्ठेन पुरादत्तं तन्त्रं सर्वार्थसाधकम्।।
(स्व.तं.८–३५,३६)

(ख) ममापीति कैलासवासिनस्तन्त्रप्रवक्तुर्भगवत उमापतेरुक्तिः।
(स्व.उद्.८–३५)

(ग) कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले।। (शि.ह. ७–१०६)

१३–अथ तदाधिष्ठातृद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वमाह।
(ई.प्र.वि.३–१–३)

का तीसरा तत्त्व होता हैं और शिवतत्त्व से पांचवां होता है। इस पच्चम तत्त्व की निचली भूमिका में ठहरे हुए प्राणियों को मन्त्रप्राणी या विद्येश्वरप्राणी कहा जाता है। इनके उपास्य देव तथा इस तत्त्व पर प्रशासन करने वाले ईश्वरभट्टारक के अवतार भगवान् अनन्तनाथ हैं[१४]। यहां तक की सृष्टि विशुद्ध सृष्टि कहलाती है।

विद्यातत्त्व के भीतर कई एक अवान्तर सोपान भी हैं। उनमें से एक वह दृष्टिकोण है, जिसके द्वारा प्राणी अपने आप को शुद्ध संवित्स्वरूप तो समझता रहता है, इस विषय में उसे कोई अज्ञान नहीं रहता, परन्तु अपने अभेदभाव को भूलकर अपने को परमेश्वर से, अन्य प्राणियों से और प्रमेय तत्त्व से पृथक् और भिन्न समझता रहता है। इस प्रकार की शुद्ध विद्या के भीतर माया का जैसा दृष्टिकोण अंशतः बना रहता हैं। परन्तु माया के तिरोधान करने वाले प्रभाव इस दृष्टिकोण वाले प्राणी में नहीं होते हैं। अतः इस विशेष दृष्टिकोण को मन्त्रेश्वरों की शुद्ध विद्या से कुछ नीचे और तिरोधान करने वाली माया से कुछ ऊपर का स्थान दिया जाता है। इस दृष्टिकोण को न तो माया ही कहा जाता है और न शुद्ध विद्या ही। इसका विशेष नाम है महामाया[१५]। इसी महामाया के अधिकारी प्राणी मन्त्रप्राणी कहलाते हैं और इसी महामाया में अवतीरण ईश्वरभट्टारक भगवान् अनन्तनाथ कहलाते हैं। ये भगवान् अनन्तनाथ इस महामाया क्षेत्र में शासन भी करते हैं और यहां से आगे के परमेश्वरता के व्यवहार को भी चलाते हैं। इस महामाया का एक ज़रा अविकसित रूप भी माना गया है। वह रूप उस दृष्टिकोण को कहा जाता है, जिसके द्वारा प्राणी अपने आप को शुद्ध प्रकाशरूप तो समझता और अनुभव करता है, परन्तु

१४–अनन्तभट्टारकादिभ्यश्च विद्येशेभ्यो मन्त्रचक्रवर्तिभ्य ईश्वरेणैव तन्त्रं दत्तम्। (स्व.उद्.८–३५)

१५–(क) अत एवेयं प्ररोहासहिष्णुं यत इदन्तां भासयति ततः शुद्धा। भासनाच्च विद्येति । तत एवाप्ररूढमाया कल्पत्वान्महामायेयं श्रीरौरवादिगुरुभिरुपदिष्टा। (ई.प्र.वि.३–१–६)

(ख) भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा।।
(ई.प्र.३–१–६)

उसे अपनी क्रियाशक्ति के चमत्कार का अनुभव नहीं होता । तात्पर्य यह है कि उसे विमर्शात्मक परमेश्वरता के सामर्थ्य से शून्य और शान्त प्रकाश मात्र पर ही आत्म–अभिमान होता है[१६]। वेदान्तविद्या के साधारण उपासक प्रायः इसी निचले दर्जे की महामाया के दृष्टिकोण को प्राप्त करके उसी को पारमार्थिक साक्षात्कार की भूमिका समझते हुए चिरकाल तक इसी निचली श्रेणी की महामाया पर ही टिके रहे हैं[१७]। इन प्राणियों को विज्ञानाकल प्राणी कहा जाता है। ये प्राणी प्रायः संसार में लौट नहीं आते। किसी मन्त्रेश्वर या मन्त्रमहेश्वर की अनुग्रह दृष्टि से महामाया के ऊपर ठहरी हुई शुद्ध–विद्या में संक्रमण कर जाते हैं।

दोनों प्रकार की इस महामाया को पृथक् तत्त्वों के रूप में गिना नहीं जाता है । वस्तुतः तत्त्वों का विश्लेषण एक तो वास्तविक स्थिति को समझाने के लिए और दूसरे त्रिक आचार के आणव उपाय की तत्त्व–अध्वा नामक धारणा में उपयोग के लिए किया गया है। अतः इस विश्लेषण के विषय में कोई अटल नियम नहीं हो सकता हैं अधिक–अधिक विश्लेषण किया जाए, तो तत्त्वों की संख्या में काफी वृद्धि हो सकती है। एक–एक तत्त्व को कई एक तत्त्वों में बांटा जा सकता हैं फिर यदि तत्त्वों का संश्लेषण किया जाए, तो उनकी संख्या को घटाया भी जा सकता है। इसीलिए त्रिक आचार में ही एक दृष्टि से छत्तीस या अठत्तीस तत्त्वों की कल्पना की गई है और यह कल्पना उपरोक्त धारणा में काम आती है। दूसरी दृष्टि से उसी आचार में केवल शिव, शक्ति और नर

१६– शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तमकर्तृता।
निर्मिता स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात्।।
बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता।
तथेश्वरेच्छा भेदेन ते च विज्ञानकेवलाः।।
(ई.प्र.३–२–६,७)

१७– 'मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञान केवलाः।''
तथाहि महामायाभावे मायापदे प्रलयकेवलानां
स्थितिःविद्यापदे च विद्येश्वराणाम्।इति किमिव तद्
विज्ञानं केवलानामास्पदं स्यात्। (प.त्री.वि.पृ.११८)

नामक तीन ही तत्त्वों की कल्पना की गई है,[१८] क्योंकि प्रत्येक धारणा के अभ्यास में मूलतः तत्त्वों के इसी त्रिक का दृष्टिकोण सामने रखना होता है तभी तो नर अर्थात् जीवशक्ति के मार्ग द्वारा अपने शिवभाव को पुनः पहचान कर कृतकृत्य हो जाता हैं। छत्तीस तत्त्वों की कल्पना को सभी आचारों में और शैव दर्शन की सभी अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत तथा काश्मीर, दाक्षिणात्य आदि शाखाओं में माना गया है। अतः तत्त्व संख्या सामान्यतः छत्तीस ही है। इसीलिए महामाया को शुद्ध विद्या ही के भीतर गिना जाता है ।

शुद्ध अध्वा

वस्तुतः शिव ही सर्वत्र कर्ता हैं। यदि जीव भी कभी अपनी इच्छा के अनुसार कुछ कर लेता है, तो मूलतः शिव की इच्छा की प्रेरणा से और उसी की नियतिशक्ति के नियम के अनुसार कर लेता हैं अतः उस जीवभाव की अवस्था में भी वस्तुतः शिव ही कर्ता है। परन्तु फिर भी शिव ने अपनी स्वतन्त्र कर्तृत्व–शक्ति का थोड़ा सा अंश अपने जीवभाव में अवस्थित स्वरूप को भी दे रखा है। अतः जीव को भी अपने परिमित स्वातन्त्र्य और अपने संकुचित कर्तृत्व का अभिमान रहता है। इसी तरह से यद्यपि समस्त तत्त्वों की सृष्टि वस्तुतः स्वयं परमेश्वर ही करता है, फिर भी उसने अपने कुछ अधिकारी शरीरों को अपनी परमेश्वरता के पर्याप्त अंश दे रखे हैं, जिनके अभिमान से वे अधिकारी शरीर भी परमेश्वरता की लीला के अंशों को निभाते रहते हैं। इन्द्र आदि देवगण और ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र इसी प्रकार के ईश्वर हैं। भगवान् ईश्वर और भगवान् सदाशिव भी परमेश्वर द्वारा दिए गए ऐश्वर्य के अंशों से ही ईश्वर बने है[१९]। शैव दर्शन के इस सिद्धान्त के अनुसार इस शुद्धविद्यातत्त्व से

१८– नरशक्तिशिवात्मकं त्रिकं
हृदये या विनिधाय भासयेत्।
प्रणमामि परामनुत्तरां
निजभासां प्रतिभाचमत्कृतिम्।। (पं.त्री.वि.पृ.२)

१९– देखिए पीछे अध्याय ५, अङ्क २६)

नीचे–नीचे जो माया आदि अशुद्धतत्त्वों की सृष्टि हुआ करती है, उसके करने वाले भगवान् अनन्तनाथ ही हैं, साक्षात् स्वयं परमेश्वर नहीं। माया से लेकर मूलप्रकृति तत्त्व तक की सृष्टि की लीला को भगवान् अनन्तनाथ ही चलाते हैं। उन तत्त्वों की सृष्टि अशुद्धसृष्टि कहलाती है। परन्तु शिवतत्त्व से लेकर शुद्धविद्यातत्त्व तक की सृष्टि को शुद्धसृष्टि कहते हैं। इसको शुद्ध–अध्वा भी कहते हैं और अशुद्धसृष्टि को अशुद्ध–अध्वा भी कहा जाता है। शुद्ध–अध्वा में रहने वाले प्राणियों को अपने स्वरूप के विषय में उल्टा ज्ञान नहीं होता है। वे अपने को शरीर आदि नहीं समझते हैं, यहां तक की समस्त सृष्टि तुर्या दशा में ही ठहरती हैं इस कारण से भी यह सृष्टि शुद्धसृष्टि कहलाती हैं इस सृष्टि के कर्ता तो साक्षात् परमशिव ही हैं वे अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की लीला के विलास से अपने स्वभावभूत इच्छा–स्पन्दन ही के द्वारा इस शुद्ध–अध्वा की सृष्टि को तथा इसके संहार को स्वयमेव करते रहते हैं। उनके जगदानन्दमय चित्समुद्र में जो इच्छा के स्पन्दन की लहरें सदैव उठती रहती हैं और अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी गति से विलास करती रहती हैं, उन्हीं के प्रभाव से सतत गति से इन पांच शुद्ध तत्त्वों को, पांच तत्त्वेश्वरों का तथा इन पांच तत्त्वों में रहने वाले पांच प्रकार के प्राणि वर्गों का उदय और लय सदैव होता रहता है। क्षण–क्षण में अनन्तरूपों में ऐसा होता रहता है। एक साथ ही सृष्टि–संहार तथा अन्य कृत्य परनार्थ की आनन्दमय चिद्रूपता के भीतर उसी के स्वातन्त्र्य के विलास की लीला से चलते ही रहते हैं। इन पांच तत्त्वों तक परमशिव सृष्टि–संहार आदि के ऐश्वर्य को किसी को भी नहीं सौंपता है। अपितु अपने परमेश्वरस्परूप द्वारा ही इसे निभाता रहता है। जिन सिद्धजनों को अपने परमेश्वरभाव की साक्षात् अनुभूति हो जाती है, उन्हें परमशिव के साथ अपने अभेदभाव के साक्षात्कार से इस अत्युत्कृष्ट परमेश्वरता के परिपूर्ण आनन्द का चमत्कार भी अंशतः अनुभव में आ जाता है।[२०] अनकी इस प्रकार की परमेश्वरता के ऐश्वर्य की अनुभूति तो गौडपाद आचार्य द्वारा माण्डूक्य–उपनिषद् की कारिका में बताई हुई दुःखाभाव रूपी अभावात्मक आनन्द से युक्त, निरोध समाधि की अनुभूति

२०–यद्यदिच्छति तत्तज्जानाति करोति च
समावेशाभ्यासपरोऽनेनैव शरीरेण। अतत् परस्तु सति देहे
जीवन्मुक्तस्तत्पाते परमेश्वर एव। (ई.प्र.वि.४–१–१५)

की अपेक्षा एक अतीव उत्कृष्ट भूमिका की अनुभूति होती है। निरोध समाधि में तो एक शून्यप्राय और सर्वथा शान्त प्रकाशस्वरूपता के अद्वैतभाव का साक्षात्कार होता है[२१]। परन्तु इस परमेश्वरता की अनुभूति में अपने असीम और परिपूर्ण ऐश्वर्य के भावात्मक आनन्द के अलौकिक चमत्कार से सम्पन्न असीम प्रकाश और विमर्श के परिपूर्ण सामरस्य के पराद्वैतभाव का साक्षात्कार हुआ करता है[२२] ।यह वेदान्त और शैव दर्शनों में परस्पर एक और बड़ा भेद है।

इन पांच तत्त्वों तक की इस शुद्धसृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता हैं यहां तक कि प्राणी जन्म–मरण आदि के संकट से सदा मुक्त ही रहते है। इस कारण से भी यहां तक के तत्त्वों को शुद्ध–अध्वा कहा जाता है। यह नाम त्रिक आचार की षडध्वा नामक आणव धारणाओं के कारण इन तत्त्वों को दिया गया है।

२१–सर्वाभिलाषविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः।।
ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम्।।
(गो.दा.का.३–३७,३८)

२२–(क) यदात्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयो।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरी भवेत्।।
(स्पं.का.५१)

(ख) शिवतुल्यो जायते । (शि.सू.३–२५)

८

अशुद्ध–सृष्टि

माया

प्रलय काल में भगवान् अनन्तनाथ मूलप्रकृति–तत्त्व पुरुषतत्त्व और माया तत्त्व के समेत सभी कञ्चुकतत्त्वों का संहार करते हैं। इस संहार के काल की अवधि में सभी बद्ध प्राणी गाढनिद्रा के तुल्य अवस्था में सुषुप्त होकर पड़े रहते हैं। परन्तु पूर्व कल्प से चली आती हुई भोगवासना उनके भीतर संस्कार रूप में सुषुप्त अवस्था में ही विद्यमान ही रहती है। ऐसे भोगलोलुप प्राणियों के लिए महामाया के भीतर ठहरे हुए भगवान् अनन्तनाथ मायीय तत्त्वों की सृष्टि करते हैं[1]। माया तत्त्व अगली जड़सृष्टि का उपादान कारण बनता है । इस कारण इसे भी जड़ ही माना जाता है। परमशिव की इच्छा से ही इस माया तत्त्व की सृष्टि होती है। इसका मूलकारण परमेश्वर की माया शक्ति को माना गया है। अतः इस माया तत्त्व को भी परमेश्वरेच्छात्मक ही माना जाता है। इसी कारण से इसको अवस्तुभूत नहीं माना जाता है। यह एक वस्तुभूत तत्त्व है। तभी तो आगे समस्त प्रकृति, पुरुष, कञ्चुक आदि तत्त्वों का उपादान कारण बन जाता है[2]। वेदान्त शास्त्र में माया को अवस्तुभूत ही माना जाता है[3]। माया तत्त्व के भीतर उतरे हुए प्राणी शुद्ध संवित् को अपना स्वरूप न समझते हुए अपने आप को शून्यरूप जड़ात्मक पुरुष समझते हैं। वे प्रेमय अंश को अपने आप से सर्वथा भिन्न वस्तु के रूप में देखते हैं। अतः माया

१–अशुद्धं पुनरध्वानमन्तापरनामाघोदेशः सृजति ईश्वरेच्छावशेन प्रक्षुब्धभोगलोलिकानामणूनां भोगसिद्धयर्थम्। (तं.सा.पृ.७५)

२–तस्य च सृजतः परमेश्वरेच्छामयं, तत एव च नित्यं, स्रक्ष्यमाणवस्तुगतस्य रूपस्य जडतयाभासयिष्यमाणत्वाज्जडं, सकलकार्यव्यापनाविरूपत्वाच्च व्यापकं मायामयं तत्त्वम् उपादानकारणम्। (तं.सा.पृ.७७)

३–धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते।।
(गौ.दा.का.४–५८)

स्वरूप के तिरोधान की और स्फुट भेद के अवभास की दशा होती है। भेददृष्टि का स्फुट अवभास करने के कारण इस माया तत्त्व को मूलरूप माना जाता है[४]। इस कारण से भी यहाँ से लेकर के सारी की सारी सृष्टि को अशुद्ध–सृष्टि ही माना जाता है। इस सृष्टि में अभिव्यक्त होने वाले सभी तत्त्वों को अशुद्ध–अध्वा के भीतर गिना गया है।

इस अशुद्ध सृष्टि को अभिव्यक्त करने में भगवान् अनन्तनाथ पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं । वे एक तो शिव की इच्छा के अधीन रहते हुए और दूसरे भोगलोलुप प्राणियों की भोगवासना को दृष्टि में रखते हुए ही माया आदि तत्त्वों की सृष्टि करते हैं। इस तरह से यह सृष्टि सापेक्ष होने के कारण सर्वथा स्वातन्त्र्यलीलामयी नहीं होती है। परमशिव की शुद्ध–सृष्टि में और इस अशुद्ध–सृष्टि में परस्पर यह एक और अन्तर होता है। वेदान्तवाद में ब्रह्म माया नामक उपाधि के कारण ईश्वर रूप में प्रकट होता हुआ जिस सृष्टि को करता रहता है, वह सृष्टि लगभग भगवान् अनन्तनाथ की सृष्टि के स्तर की सापेक्ष सृष्टि होती है। परन्तु वेदान्त के अनुसार माया की सृष्टि न ही ब्रह्म के हाथ में रहती है और न ही ईश्वर के हाथ में। वहां तो माया को एक असत्त्व भूत तथा अनादि उपाधि के रूप में ठहराया गया है[५]। इस उपाधि के ही सम्बन्ध से ब्रह्म ईश्वर रूप में प्रकट होता हुआ जीवों के पूर्वकल्प के कर्मों के अनुसार ही संसार की सृष्टि करता है, ऐसा वेदान्त का मत है[६]। परन्तु शैव दर्शन के अनुसार भगवान् अनन्तनाथ सामान्य "इदं" रूपी अपने प्रमेय को ही स्वयं माया

४–भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यं.....। (ई.प्र.२–२–४)

५–(क) निरतत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्। (पं.द.२–४७)

(ख) न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः सम्प्रतिपेदिरे।। (तदेव ६–४१)

६–(क) सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टि निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्, धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षया विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः।

(ब्र.सू.शां.भा.२–१–३४)

नामक अशुद्ध तत्त्व का रूप देकर उस तत्त्व की सृष्टि करते हैं। अतः माया उनकी उपाधि नहीं है, उनकी सृष्टि है और फलस्वरूप उनके अधीन है। वे ही उस पर प्रभाव डाल सकते हैं और वह उन पर प्रभाव नहीं डाल सकती। आगे भगवान् अनन्तनाथ ही माया में विकार लाते हुए कला आदि पांच कञ्चुक तत्त्वों को उत्पन्न करके प्रमाता को उन कञ्चुकों के भीतर घेर कर पुरुष तत्त्व के और प्रमेय को प्रकृति तत्त्व के रूप में प्रकट करते हैं। यह सारी उनकी अपनी सृष्टि है। वेदान्त में कञ्चुक तत्त्वों का तो कोई उल्लेख ही नहीं किया गया है और पुरुष और प्रकृति दोनों को ही माया ही की तरह अवस्तुभूत और अनादि माना गया है।

शैव दर्शन में प्रमाता की भेदमयी दृष्टि को माया कहते हैं। इसे स्वस्वरूप तिरोधान करने वाली शिव की शक्ति भी कहा गया है[७]। वस्तुतः माया तत्त्व और वस्तु है और माया शक्ति और वस्तु है। । भेददृष्टिमयी माया के प्रभाव से इस भूमिका पर उतरा हुआ शिव अपने प्रमातृ अंश, अर्थात् "अहं" को अपने प्रमेय अंश, अर्थात् "इदं" से सर्वथा भिन्न ही समझता है। उसकी अभेददृष्टि इस भूमिका में सर्वथा छिप जाती है और भेददृष्टि से देखता हुआ शुद्ध "अहं" रूपी अपनी संवित्स्वरूपता को भूल डालता है और अपने आप को संकुचित् संवित के रूप में देखने और समझने लगता है और अपने प्रमेय अंश को अर्थात् "इदं" अंश को अपने से सर्वथा भिन्न और अचेतन रूप में ठहराता है। इस भूमिका में प्रमातृ अंश पुरुष तत्त्व के रूप में और प्रमेय अंश मूलप्रकृति के रूप में प्रकट हो जाते हैं। । भेददृष्टि के प्रभाव से इस माया भूमिका में एक प्रमाता दूसरे प्रमाता से, प्रमाता प्रमेय से और अगली सृष्टि में एक प्रमेय दूसरे प्रमेय

(ख) विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम। प्राग्विभागाद् वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोति इति चेतनैष दोषः। अनादित्वात् संसारस्य।

७—.....तिरोधानकारी. मायाभिधा पुनः।
भेदे त्वेकरसे भातेऽहन्तयानात्मनीक्षिते।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते।। (ई.प्र.३—१—७,८)

८—यत् किल तदाभास्यते, तत् संविदो विच्छिद्यते, संविच्च ततः, संविच्च संविदन्तरात्, संवेद्यं च संवेद्यान्तरात्। (ई.प्र.वि.१—३—७)

से पृथक् और भिन्न प्रतीत होने लगते हैं[८]। इस तरह से माया भूमिका सर्वथा भेद की भूमिका होती है। ऊपर की विद्या भूमिका को पीछे भेदाभेद की और शक्ति भूमिका को सर्वथा अभेद की भूमिका ठहराया गया है।

कञ्चुक तत्त्व

भगवान् अनन्तनाथ माया में क्षोभ उत्पन्न करके उसे पांच तत्त्वों के रूप में प्रकट करते हैं। इन पांच को माया के परिणाम या विस्तार के रूप में समझा जा सकतां है। ये पांच तत्त्व कञ्चुक तत्त्व कहलाते हैं। माया की भूमिका पर उतरा हुआ प्रमाता माया के प्रभाव से प्रभावित होता हुआ अपने आप को शुद्ध और असीम संवित्स्वरूप न मानता हुआ सङ्कुचित संवित् को ही अपना आप समझ बैठता है। इस सङ्कोच के आभास से परिच्छिन्न बनी हुई संवित् को शून्य कहते हैं[९]। बौद्धों के शून्यवाद में शून्य आलयविज्ञानधारा के उच्छेदरूपी अभाव को कहा जाता है[१०]। विज्ञानवादी बौद्ध प्रमातृभाव और प्रमेयभाव से रहित केवल शुद्ध विज्ञानधारा को शून्य कहते हैं[११]। परन्तु शैव दर्शन इन दोनों वादों से सहमत नहीं। विशुद्धविज्ञान तो बुद्धिरूप होता हुआ जड़ होता है और उसका अभाव एक ओर से जड़ और दूसरी ओर से अवस्तुभूत होता है।

९–संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्झय विविक्तं भासते नभः।।
तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते।। (तं.आ.६–९,१०).

१०–(क) परमार्थेन संसारो निर्वाणं च न तत्त्वतः।
बुद्ध आकाशवत् तद्वत् सत्त्वा अप्येकलक्षणाः।।
(ख) दर्शनेनैव संसारो निर्वाणं च न तत्त्वतः।
निरञ्जनं निर्विकारमादिशान्तं प्रभास्वरम्।। (तदेव २२)
(म.या.वि.१६)
(ग) भावेषु निःस्वभावेषु नित्यात्मसुखसंज्ञया।
रागद्वेषतमश्छन्नस्योद्भूतोऽयं भवाम्बुधिः।।

११–अभूतपरिकल्पो हि ग्राह्यग्राहकरहितः शून्य इति न सर्वथा

अतः इन्हें प्रमाता नहीं माना जा सकता। प्रमाता एक ओर से चेतन होता है और दूसरी ओर से वस्तुभूत होता है। अतः शैव दर्शन का शून्यरूप प्रमाता अर्थात् पुरुष भी संवित्स्वरूप ही होता है। परन्तु उस शून्यरूप संवित् में एक तो संकोच का आभास ओतप्रोत होकर रहता है और दूसरे उसमें परम–ऐश्वर्यरूप परिपूर्ण स्वातन्त्र्य के चमत्कार की अनुभूति नहीं होती है। अतः संवित्स्वरूप होते हुए भी उसे शिव न कहकर शून्य कहा जाता है । ऐश्वर्यहीन होने के कारण यह शून्य पराधीन होता है। पराधीनता जड़ता होती है। माया जड़ होती है। अतः माया के प्रभाव से प्रमाता संवित्स्वरूप होता हुआ भी अपनी संवित्स्वरूपता को भूलकर शून्य नामक जड़ वस्तु को ही अपना आपं समझ बैठता है। इस तरह से माया प्रमाता की चेतनता का अपहरण करती है और ऐसा करके उसे जड़ बना देती है। परन्तु पारमेश्वरी मायाशक्ति उसे जड़ बनाकर भी काम चलाने के लिए थोडा सा चेतना का अंश दे भी देती है[१२]। वह चेतना का अंश उसे कुछ–कुछ करने की शक्ति प्रदान करता है। करना कभी जानने के बिना हो नहीं सकता । अतः करने की सिद्धि के लिए उसे थोड़ा–थोड़ा जानने की शक्ति भी दे देता है। इस तरह से प्रमाता की अपनी स्वाभाविक क्रिया–शक्ति और ज्ञानशक्ति में अत्यन्त संकोच आ जाता है। इसीलिए प्रमाता माया की दशा पर उतरकर सब कुछ न जान सकता है और न कर सकता है। प्रमाता की क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति के इस संकोच को क्रम से कला तत्त्व और अशुद्धविद्या तत्त्व कहा जाता है[१३]। माया के अनन्तर ये और दो कञ्चुक तत्त्व होते हैं जो

स्वभावतो नास्ति। द्वयं शशविषाणवन्नास्ति। अभूतकल्पश्च परमार्थतः स्वभाक्तोऽस्ति .....। इयमेव हि शून्यता या ग्राह्याग्राहकरहितता। (म.वि.सू.टी.१–२)

१२–एवं कलाविद्याकालरागनियतिभिरोतप्रोतो मायया परिगृहीतैश्वर्यसर्वस्वःसन् पुनरपि प्रतिवितीर्णतत्सर्वस्वरा–शिमध्यगतभागमात्र एवंभूतोऽयं मितः प्रमाता भाति। (ई.प्र.वि.३–१–६)

१३–अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किञ्चिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धिदर्पणसंक्रान्तं भावराशिं नीलसुखादि विविनक्ति। कला किञ्चित् कर्तृत्वोपोद्बलनमयी कार्यमुद्भावयति। किञ्चिज्जानामि किञ्चित् करोमीति। (ई.प्र.वि.३–१–६)

प्रमाता के वास्तविक स्वभाव को ढांपकर छिपा देते हैं और इस तरह से उसके ज्ञान–क्रिया–सामर्थ्य को संकुचित बना डालते हैं।

मायीय प्रमाता केवल किसी–किसी विशेष वस्तु के प्रति करने और जानने में प्रवृत्त हुआ करता है, प्रत्येक किसी वस्तु के प्रति नहीं। वह "अहं रूप" अपने आप को तथा अगली सृष्टि में अपने शरीर आदि को और उस शरीर आदि के प्रेय अर्थात् अनुकूल वस्तुओं को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया करता है। इस तरह से प्रमाता के द्वारा इन शरीर आदि पर गुणवत्ता का तथा माहात्म्य का आरोप किए जाने से ही उसकी कला और विद्या किन्हीं–किन्हीं विशेष प्रमेयों के प्रति प्रवृत्त होती रहती है, सभी के प्रति नहीं। इस तरह से उसके इन दो सामर्थ्यों में और सङ्कोच आता है। इस संकोच का कारण बना हुआ यह गुणवत्ता का आरोप राग कहलाता है,[१४] जो एक और कञ्चुक तत्त्व होता है। इस राग ही के कारण प्राणी सदैव यही चाहता रहता है कि उसके ये शरीर आदि सदैव टिके ही रहें, कभी भी उनका उच्छेद न होने पाए[१५]। द्वेष का विरोधी भाव जो राग होता है, वह तो अन्तःकरण का एक स्वभाव होता है। उसे रागतत्त्व नहीं समझना चाहिए। यह राग तो अन्तःकरण तत्त्वों से बहुत ऊपर ठहरा हुआ और मायीय प्रमाता को पुरुष तत्त्व के रूप में प्रकट करने वाला एक संकोचक तत्त्व होता है। प्राणी कभी द्वेष करने में ही प्रवृत्त हो जाता है। वहां द्वेष करने पर ही वह अनुरक्त हुआ करता है। कभी वैराग्य पर ही गुणवत्ता का आरोपण करता हुआ उसी के प्रति अनुरक्त हुआ करता है[१६]। अतः यह रागतत्त्व वैराग्य का विरोधी भाव भी

१४–अत्र चांशे तुल्येऽपि किञ्चित्त्वे, कस्मादिदमेव किञ्चित्–
इत्यर्थेऽभिष्वङ्गरूपः प्रमातरि देहादौ प्रमेये च गुणाद्यारोपणमय
इव रागो व्याप्रियते। (तदेव ३–१–६)

१५–सर्वं ममेदमुपयुज्यते। भूयासम्, मा कदाचिन्न भूवम्।
इत्येतत्पशो रागतत्त्वम्। (प.सा.टी.पृ.४८)

१६–(क) न च तद्बुद्विगतमवैराग्यमेव। तद्धि स्थूलं वृद्धस्य प्रमदायां
न भवेदपि, रागस्तु भवत्येव। (ई.प्र.वि.३–१–६)
(ख) न चावैराग्यकृतं तत्। अवैराग्यस्याप्यरक्तिदर्शनात्।
वैराग्ये धर्मादावपि च रक्तिर्दृश्यते। (तं.सा.पृ.८२)

नहीं। वह भाव भी बुद्धि का ही स्वभाव होता है। इस राग को रुचि या दिलचस्पी जैसा कोई सूक्ष्मतर भाव माना जा सकता है। प्राणी के संकुचित ज्ञान सामर्थ्य में और उसके ऐसे ही क्रिया सामर्थ्य में और अधिक संकोच को लाने वाला यह रागतत्त्व भी माया का एक और प्रकार का विस्तार होता है। कञ्चुकों में इसे तीसरा गिना जाता है।

मायीय प्रमाता के चौथे कञ्चुक और माया के चौथे प्रकार के विस्तार को नियति कहते हैं । नियति का स्फुट विकास अगले तत्त्वों में हुआ करता है। इस माया भूमिका के भीतर नियति का स्वरूप वह नियम होता है, जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य बना रहता है। मायीय प्रमाता की कला और उसकी विद्या इस नियति के प्रभाव से अधिकतर संकुचित हो जाती है। इसके प्रभाव से उनका क्षेत्र और भी सीमित हो जाता है१७। आगे अन्तःकरण भूमिका में और शरीर भूमिका में तो नियति के नियमों द्वारा प्राणियों का ज्ञान सामर्थ्य और क्रिया सामर्थ्य पद–पद पर बाधित होता हुआ अतीव संकुचित हो जाया करता है। इस तरह से नियति मायीय प्रमाता के स्वातन्त्र्य का बहुत अधिक अपहरण करती है। ब्रह्मा आदि देवाधिदेव भी नियति के घोर बन्धन में पड़े रहते हैं, साधारण प्राणियों की बात ही क्या।

कालतत्त्व

मायीय प्रमाता के पांचवें कञ्चुक तत्त्व को काल कहते हैं। यह काल प्रमाता के स्वरूप में ही संकोच को लाता है। प्रमाता वस्तुतः शुद्ध और असीम संवित् है। परन्तु माया के द्वारा जब उसके भीतर संकोच का अवभास हो जाता है, तो प्राणी उस संकोच के प्रभाव से ऐसी कल्पना करने लग जाता है, कि मैं था, मैं हूँ, मैं होऊंगा इत्यादि। प्राणी वस्तुतः संवित्स्वरूप होता हुआ एक क्रमरहित तत्त्व है। परन्तु परमशिव को उस कालशक्ति के प्रभाव से जो क्रम को आभासित करने के प्रति उन्मुख बनी

१७–अस्मिन्नेव कर्तृत्वमित्यत्रार्थे नियतेर्व्यापारः।
कार्यकारणभावेऽप्यस्या एव व्यापारः।
(तं.सा.पृ.८२)

रहती है और माया की भूमिका में अपने प्रभाव को अभिव्यक्त करती है, वह अपने ऊपर क्रम की कल्पना करता है और उस कल्पना को पक्का करके ऐसा समझ बेठता है कि मैं था, मैं हूँ, मैं होऊंगा, इत्यादि[१९]। प्रमाता की क्रमरूपता के आभास का कारण बना हुआ उसका संकोच कालतत्त्व कहलाता है। व्यवहार में तो क्रमरूपता ही काल होता है। यहां क्रियाओं के वैचित्र्य के आधार पर देशक्रम की[२१]। ये दोनों ही प्रकार के क्रम सम्बन्ध रूपता के आभास पर ठहरे हैं। सम्बन्ध भी वस्तुतः कल्पना पर ही ठहरा हुआ है। राजा पर स्वामित्व की कल्पना एक पृथक् कल्पना है और सेवक पर सेवकत्व की कल्पना एक पृथक् कल्पना है। सेवक स्वयं सेवक नहीं। वह राजा रूपी स्वामी की कल्पना की अपेक्षा से सेवक है। राजा का स्वामित्व भी राजा का अपना नैसर्गिक स्वभाव नहीं। सेवक पर सेवकत्व की कल्पना पर ही राजा पर स्वामित्व की कल्पना ठहरती है। तो किसी कल्पना करने वाले प्रमाता की संवित् जब राजा और सेवक दोनों परस्पर भिन्न पदार्थो को व्याप्त करती हुई उन दोनों की परस्पर सापेक्ष और अनुसन्धानात्मक कल्पना को आभासित करती है, जब राजा का आभास स्वामी के रूप में और सेवक का आभास सेवक के रूप में हुआ करता है[२०]। वस्तुतः देखा जाए तो राजा और सेवक दो ही वस्तुभूत पदार्थ वहां होते हैं। उनका परस्पर स्वामि–सेवक–भाव सम्बन्ध कोई भी वस्तुभूत पदार्थ नहीं। वह तो प्रमाता की कल्पना के संसार में ही प्रकट होने वाला कोई भाव है। प्रमाता जब अनेक पदार्थों को अपनी कल्पना के

१८–कालः क्रममासूत्रयन् प्रमातरि विजृम्भमाणस्तदनुसारेण
प्रमेयेऽपि प्रसरति। योऽहं कृशोऽभवंस स्थूलो वर्ते, भविष्यामि
स्थूलतरः इत्येवमात्मानं देहरूपं क्रमवन्तमिव
परामृशंस्तत्सहचारिणि प्रमेयेऽपि भूतादिरूपं क्रमं प्रकाशयति।
(ई.प्र.वि.३–१–६)

१९–मूर्त्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रमपीश्वरः।।
(ई.प्र.२–१–५)

२०–भेदाभेदात्मसम्बन्धसहसर्वार्थसाधिता।
लोकयात्रा कृतिर्यस्य स्वेच्छया तं स्तुमः शिवम्।। (सं.सि.१)

संसार में एक सूत्र में पिरो लेता है, तो उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का अवभास हो जाता है[२१]। इस तरह से अनेकों में एकता का कल्पनात्मक विशेष विमर्श ही वस्तुतः सम्बन्ध कहलाता है। तो कल्पना के संसार में कल्पना ही के प्रकाश से आभासित होती हुई काल्पनिक सम्बन्धरूपता ही के आधार पर संसार के सभी व्यवहार चलते हैं। इस सम्बन्धरूपता के दो विशेष और मुख्य प्रकार होते हैं कालक्रम और देशक्रम। स्वयं सम्बन्ध रूपता और उसके ये दो प्रकार प्राणियों के स्वरूप पर इतने आरूढ़ हो चुके हैं, कि वे इन तीन कल्पनाओं से विमुक्त किसी भी व्यवहार को करते ही नहीं। जो कुछ करते या जानते हैं, उस प्रत्येक व्यवहार में ये तीनों ओतप्रोत होकर रहते हैं। काल सम्बन्ध तो प्राणी के स्वरूप में ही ओतप्रोत होकर रहता है, परन्तु देशसम्बन्ध उसे स्थूल या सूक्ष्म शरीर के द्वारा ही व्याप्त कर लेता है। हमारे ऊपर इन तीन कल्पनाओं के इस तरह से आरूढ़ होकर रहने के कारण ही वर्तमान युग के कुछ भैतिक विज्ञान के विद्वानों ने इन तीन को नित्यसिद्ध पदार्थ माना था। परन्तु अब यह धारणा शिथिल होती जाती है।

तो परमशिव की कालशक्ति की अभिव्यक्ति के द्वारा जो क्रियावैचित्र्य का अवभास होता रहता है, उसी पर कालक्रम की कल्पना होती रहती है। लोकव्यवहार में कुछ एक घटनाओं का क्रम नियत और नियमबद्ध होता है, जैसे–सूर्योदय, सूर्यास्त, सूर्य के राशिसंक्रम, चन्द्रमा के कलाक्षय, कलावृद्धि, नक्षत्रसंक्रम आदि, ऋतु परिवर्तन, भिन्न–भिन्न पुष्पों के विकास, भिन्न–भिन्न सस्यों के परिपाक, भिन्न–भिन्न पक्षियों के गमन–आगमन, अण्डोत्पादन, शावक परिपोषण इत्यादि क्रियाओं का। परन्तु असंख्य घटनाओं का कोई भी नियत क्रम नहीं होता है,जैसे – प्राणियों के जन्म–मृत्यु, सुख–दुःख, खान–पान, गमन–आगमन, शयन–जागरण इत्यादि का। तो लोकव्यवहार में नियत क्रम वाली घटनाओं के क्रम से अनियत क्रम वाली घटनाओं को बुद्धि द्वारा मापते

२१–स्वात्मनिष्ठा विविक्ताभा भाया एकप्रमातरि।
अन्योन्यान्वयरूपैक्ययुजः सम्बन्धधीपदम्।। (ई.प्र.२–२–४)

हुए ही प्राणी कालिक व्यवहार को किया करते हैं कि बच्चा पहर भर सोया, देवदत्त सौ वर्ष जीता रहा, बिजली क्षणभर चमकी, रातभर वर्षा पड़ी इत्यादि[२२]। इस तरह से क्रमरूपता पर ही कालिक व्यवहार ठहरा हुआ है। क्रम तो संकुचित पदार्थों में ही हो सकता है। संकोच के अवभास का कारण माया होती है। काल भी माया का ही एक विस्तार है, जो प्रमाता के स्वरूप में ही संकोच लाकर उसकी कला और विद्या को भी व्यापत कर लेता है। प्रमाता अपनी कला और विद्या द्वारा अपने प्रमेयों के भीतर भी कालक्रम का संचार करता हुआ उन्हें काल के भीतर ही इस तरह से जानता और करता है कि अमुक वस्तु थी, अमुक है, अमुक होगी, अमुक कार्य को किया, अमुक को करता हूँ, अमुक को करूंगा, इत्यादि[२३]। प्रमाता पर पूरी तरह से चढ़ी हुई इस काल कल्पना का फल यह होता है कि इस माया के प्रपञ्च में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं रहती, जो कालकलित न हो। इन कला आदि पांच कञ्चुकों के समेत माया सांसारिक प्रमाता का छठा कञ्चुक बना ही रहता है।

पुरुष और प्रकृति

इन छः कञ्चुकों के भीतर लिपटी हुई और इस तरह से संकुचित बनी हुई संवित् को हो पुरुष तत्त्व कहते हैं। शून्य भी इसी का नाम है। जीव, अणु, पशु, नर, माया प्रमाता, पुंस्तत्त्व आदि इसी के नाम हैं। इस

२२—ये इयत्तया परिनिष्ठिता आभासाः सिद्धाः, तद्यथा चन्द्रसूर्यादीनां, सहकारमल्लिकाकुटजादीनां, शीतोष्णादेः, परभृतमदविलासादेः, त एव कालः। यतोऽपरिनिष्ठितं गमनपठनादि तैरियत्तया परिनिष्ठीयते, परिवर्तकैरिव कनकम्। स एव च सूर्यादीनां स्वभावविशेषस्तत्त्वतः परमार्थतः क्रमो, नान्यः कश्चित् क्रमो नाम । क्रम एव च कालो, नान्योऽसौ कश्चित्। (ई.प्र.वि.२—१—३)

२३—योऽहं बालोऽभवं, तत् सहभावी घटाभासोऽप्यभवत्। (तदेव २—१—७)

माया प्रमाता का जो सामान्य आकार केवल मात्र "इदं" इतने ही रूप में अवभासित होता हुआ प्रमेय तत्त्व होता है, उसे प्रकृति तत्त्व कहते हैं[२४]। पुरुष तत्त्व अतीव संकुचित "अहं" का नाम है और प्रकृति तत्त्व यह सामान्य आकार "इदं" होता है। समस्त विश्व इस "इदं" मात्र में उस तरह से विद्यमान रहता है जिस तरह मोर के पंखों के सभी विचित्र वर्ण उसके अण्डे के एक वर्ण वाले रस के भीतर समरस भाव से विद्यमान रहते हैं। यह "इदं" समस्त ब्रह्माण्ड का एकमात्र सामान्य आकार होता है। इस प्रपञ्च के विकास की अवस्था में यह पुरुष कहीं शून्य को, कहीं प्राण को, कहीं अन्तःकरण को और कहीं स्थूल शरीर को अपना आप अर्थात् "अहं" समझता है[२५]।

तीन गुण

अपरिमित अवस्था में, अर्थात् शिवभाव में, शुद्ध संवित्स्वरूप प्रमाता में अपरिमित ज्ञानशक्ति और अपरिमित क्रियाशक्ति के अतिरिक्त एक मायाशक्ति भी होती है, जिसके कारण वह अपने भीतर अभेदभाव से विद्यमान विश्व को भेदात्मक दशा में प्रकट करने के प्रति उन्मुख बना रहता है। जीव दशा में भी प्रमाता में ये तीनों सामर्थ्य रहते हैं। परन्तु एक तो संकोच के कारण सीमित बने रहते हैं और दूसरे भेद की दृष्टि से घेरे

२४–(क) कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्त्वं कर्तृतामयम्।
अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम्।।
(ई.प्र.२–२–११)

(ख) इदानीं विशेषभागो यः किञ्चिदित्युक्तो ज्ञेयः कार्यश्च, तं यावत् सा कला स्वात्मनः पृथक् कुरुते, तावदेष एव सुखदुःखमोहात्मकभोग्यविशेषानुस्यूतस्य सामान्यमात्रस्य तद्गुणसामान्यापरनाम्नः प्रकृतितत्त्वस्य सर्गः। इति भोक्तृभोग्ययुगलस्य सममेव कलातत्त्वायता सृष्टिः।
(तं.सा.पृ.८३)

२५–चित्तत्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः।
देह बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा।
प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात्।
विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासजः।। (ई.प्र.१–६–४,५)

रहते हैं। शक्ति और शक्तिमान परस्पर अभिन्न रहा करते हैं । इस कारण से शिवभाव में ही ये सामर्थ्य शिव की शक्तियाँ होती हैं। जीवभाव में इन्हें जीव की शक्तियाँ न कहकर जीव के गुण कहा जाता है[२६]। शिव तो अभेददृष्टि के बल से स्वात्मरूप जगत् को जानता और करता है। परन्तु जीव बेचारा अपने से भिन्न वस्तुओं को ही थोड़ा–थोड़ा जानता और करता है। शिव की ज्ञानशक्ति जब संकुचित होकर जीव में प्रकट हो जाती है, तो वहाँ वह जीव का सत्त्वगुण कहलाती है। इसी तरह से शिव की क्रियाशक्ति जीव के रजोगुण के रूप में प्रकट हो जाती है। शिव की उपरोक्त मायाशक्ति का ही संकुचित आकार जीव का तमोगुण कहलाता है। तात्पर्य यह निकला कि जीव की भेदमयी और संकुचित ज्ञानप्रवृत्ति को उसका सत्त्वगुण और इसी प्रकार की उसकी क्रियाप्रवृत्ति को उसका रजोगुण और उसकी भेददृष्टि को उसका तमोगुण कहते हैं। ये तीन गुण लोकव्यवहार में पुरुष के सुख–दुःख और मोह बन जाते हैं। इस तरह से इन तीन गुणों का बीज शिव की तीन शक्तियों के भीतर विद्यमान है।

अभेददृष्टि से देखने वाले प्रमाता को पति प्रमाता कहा जाता है और भेददृष्टि से देखने वाले को पशु[२७]। पति प्रमाता को सर्वत्र अपनी सत्ता के आनन्द का चमत्कार होता रहता है, क्योंकि वह प्रत्येक विषय को आनन्दघन स्वात्मरूप ही देखता रहता है। प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी यह आनन्दमयी स्वात्म अनुभूति उसका ज्ञान भी और उसकी क्रिया भी बनती रहती है। पशुप्रमाता को केवल उन्हीं पदार्थो के विषय में अपनी सत्ता के आनन्द का अनुभव हो सकता है, जिन पदार्थो तक वह अपने प्रति अनुकूलता की दृष्टि से अपने अहंभाव को या ममत्वभाव को फैला सकें। परन्तु गाढ़ निद्रा, मूर्छा आदि की दशाओं में उसे उस सत्ता

२६–भेदस्थितेः शक्तिमतः शक्तित्वं नोपदिश्यते।
एषां गुणानां करणकार्यत्वपरिणामिनाम्।।
(ई.प्र.४–१–५)

२७–स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये त एव पशोः सत्त्वरजस्तमः।।
(ई.प्र.४–१–४)

के आनन्द की अनुभूति का सर्वथा अभाव ही रहता है। जीवभाव की इस संकुचित दशा में उसकी अपनी सत्ता के आनन्द का यह आभास उसका सुख, अर्थात् सत्त्वगुण बन जाता है और उस आभास का यह पूरा अभाव उसका मोह, अर्थात् तमोगुण बन जाता है[२८]। परन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे अंशतः अपनी सत्ता के आनन्द का आभास भी होता है और अंशतः उसका अभाव भी। जैसे किसी को किसी परिस्थिति में अपने ममत्व के पात्र बने हुए प्रिय पुत्र का आभास तो होता हो, परन्तु जिस प्रकार से उस आभास का होना वह चाहता हो, उस प्रकार से न होकर विपरीत प्रकार से होता हो। वह अपने प्रिय पुत्र को स्वस्थ, कल्याणयुक्त और सुखसमृद्धि की दशा में देखना चाहता हो; परन्तु देखता हो उसे दीन, हीन, रोगयुक्त और शोचनीय दशा में। ऐसी अनुभूति में उसे अपने प्रियपुत्र के आभास के कारण अपनी सत्ता के आनन्द का अनुभव होता भी है, परन्तु इष्ट प्रकार से नहीं भी होता है। इस तरह से उसे एक साथ ही अपनी सत्ता के आनन्द का आभास भी होता है और उसका अभाव भी साथ ही होता है। तो उसे एक साथ सुख भी होता है और सुख का अभाव रूप मोह भी। इन दो भावों का ऐसा संसर्ग उसे चञ्चल और व्याकुल बना देता है। इस तरह का यह सत्त्वगुण और तमोगुण का मिला–जुला रूप ही जीव का रजोगुण बन जाता है, जो चाञ्चल्य के कारण दुःखात्मक हुआ करता है[२९]। इस प्रकार से जीव में सुख–दुःख और मोह स्वभाव वाले तीन गुण अभिव्यक्त हो जाते हैं।

ये तीन गुण माया की भूमिका में प्रमाता के स्वभाव बन जाते हैं। इनका प्रभाव उस पर इतना गहरा पड़ा रहता है, कि वह अपने प्रमेय को

२८–(क) सत्तानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि सा पशोः।
द्वयात्मा तद्रजो दुःखं श्लेषि सत्त्वतमोमयम्।।
(तदेव ४–१–८)

(ख) प्रियपुत्रादेरेकघन एव हि प्रकाशः सुखम्, एकघन एवाप्रकाशो मोहः। यस्तु कथञ्चित् प्रकाशो, यथा सव्याधिकदेहरूपतयाऽनभिमतया, कथञ्चिच्चाप्रकाशो, यथा गतगदकल्याणधर्मतयाभिमतया, तदेव दुःखम्।
(ई.प्र.वि.४–१–६)

२९– देखिए ऊपर अंक २८।

भी सुख–दुःख और मोह के ही रूप में देखता रहता है । इससे उसका प्रमेय तत्त्व, अर्थात् प्रकृति तत्त्व, त्रिगुणात्मक होता हुआ ही उसे आभासित होता रहता है। इस दशा में यह प्रमेय तत्त्व अभी सामान्य आकार में ही ठहरा रहता है। अभी उसमें विशेष आकार प्रकट नहीं हुए होते हैं। पुरुष का स्वरूप इस भूमिका में संकुचित संवित्स्वरूप शून्यात्मक "अहं" और प्रकृति का स्वरूप तीन गुणों का साम्य रूपी "इदं" होता है। गुणों की विषमता के हो जाने पर प्रकृति में रूप–परिवर्तन अर्थात् परिणाम हो जाता है और करण तत्त्व तथा प्रमेय तत्त्व अभिव्यक्त हो जाते हैं। गुणों की समता की अवस्था में तेईसों तत्त्व मूलप्रकृति के भीतर विलीन होकर रहते हैं। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति में उसी के रजोगुण की चञ्चलता के कारण स्वयमेव परिणाम होता रहता है, परन्तु शैव दर्शन के अनुसार भगवान् श्रीकण्ठनाथ प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करते हैं और उस क्षोभ से ही गुणवैषम्य हो जाता है। पञ्चकृत्यात्मक पारमेश्वरी लीला को अधिक स्पष्टतया चलाने के लिए भगवान् ईश्वर भट्टारक ही इस प्रकृति तत्त्व में अवताररूप में भगवान् श्रीकण्ठनाथ बनकर प्रकट होते हैं और वही जीवों के पूर्व कर्मों को दृष्टि में रखते हुए तदनुकूल परिणाम के प्रति प्रकृति का सञ्चालन करते हैं। तभी तो वह परिणाम अनन्त प्रकार के प्रयोजनों के अनुकूल ही होता रहता है और पुरुष विशेषों के प्रति विशेष प्रकार से ही होता रहता है, अन्धाधुन्ध ढंग से नहीं होता। यदि जड़ प्रकृति को परिणामों के प्रति भगवान् श्रीकण्ठनाथ सञ्चालन नहीं करते, तो प्रकृति के परिणामों में कोई नियम नहीं रहता और न ही प्रयोजनों के प्रति सदैव अनुकूलता ही उनमें रहती। साथ ही कहीं मुक्त–पुरुषों के प्रति भी वे परिणाम हो जाते। क्योंकि जड़ प्रकृति में यह विवेक कहां से आता कि कौन बद्ध है और कौन मुक्त है; किसके कर्म कैसे हैं और किसके प्रति किस प्रकार के परिणाम की आवश्यकता है; तथा किस प्रकार के परिणाम से किस प्रकार का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है[३०]। इस

२९–स्थूलतामात्रमेव स्यान्न तु लोकोपकारिणी।
रचना नियमेन स्याद् विचित्रा जातिरूपिणी।।
(ई.सि.३२,३३)

प्रकार का सोच–विचार चेतन पदार्थ ही कर सकता है, जड़ पदार्थ नहीं। इस प्रकार के सोच–विचार के बिना नियमबद्ध और विचित्र–विचित्र प्रयोजनों के अनुकूल होने वाला प्रकृति परिणाम हो नहीं सकता। परन्तु वह होता है और अबाध गति से होता है। वह तभी इस तरह से होता है, कि जब परमशिव की इच्छा के अनुसार भगवान् श्रीकण्ठनाथ उसका सञ्चालन करते हैं। यह कहा गया कि वे ईश्वर भट्टारक के अवतार हैं[३१]। उनका शरीर गुणमय होता है। वे उस केवल गुणतत्त्वमय शरीर को सूक्ष्म या स्थूल शरीर का रूप दे सकते हैं, जब चाहें। इसी गुणतत्त्व में अर्थात् प्रकृति तत्त्व में ईश्वर भट्टारक एक और अवतार के रूप में प्रकट हुए हैं। उस अवतार शरीर में उनको भगवान् उमापतिनाथ कहते हैं। स्वच्छन्दनाथ भी इन्हीं का नाम है और स्वच्छन्दनाथ के रूप को ये ही धारण करते हैं। पुराणों में और महाभारत आदि में जिन भगवान् शिव के चरित को गाया गया है और सारा संसार जिन्हें शिव समझता है, वे शिव तो ये उमापतिनाथ ही हैं। ये भगवान् श्रीकण्ठनाथ के शिष्य हैं और निग्रह तथा अनुग्रह की लीला को प्रायः ये ही निभाते रहते हैं[३२]। भगवान् अनन्तनाथ भी ईश्वर भट्टारक के ही अवतार हैं, परन्तु उनका शरीर गुणमय नहीं होता है। वे तो शुद्ध संवित्स्वरूप ही होते हैं। परन्तु उस संवित् में परमशिव की संवित् की अपेक्षा जरा सा संकोच रहता है, जिससे वे प्रपञ्च को भेददृष्टि से ही देखते हैं। वे ही माया तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व तक के आठ तत्त्वों की सृष्टि किया करते हैं।

मूलप्रकृति तत्त्व से अन्तःकरण तत्त्वों के विकास के क्रम में आ०अभिनवगुप्त बीच में एक और भूमिका को ठहराकर उसे प्रकृति तत्त्व ही के भीतर गिनते हैं। उनका विचार यह है, कि जब तक प्रकृति अक्षुब्ध और शान्त भाव में ठहरे, तब तक उसमें परिणाम नहीं आ सकता। परिणाम आये बिना अन्तःकरण तत्त्वों की सृष्टि नहीं हो सकती। इस कारण अन्तःकरण तत्त्वों की सृष्टि से पूर्व प्रकृति की एक प्रक्षुब्ध अवस्था

३१–स च क्षोभः प्रकृतेस्तत्त्वाधीशाधिष्ठानादेव।
अन्यथा नियतं पुरुषं प्रतीति न सिद्धयेत्। (तं.सा.पृ.८५)

३२–देखिए पीछे अध्या.७, अङ्क १२ ।

की सत्ता को मानना आवश्यक है। उसकी उस क्षुब्ध अवस्था को उन्होंने गुणतत्त्व कहा है[३३]। परन्तु तत्त्व अध्वा के क्रम को मानते हुए उन्होंने इसे एक अतिरिक्त तत्त्व के रूप में नहीं गिना है। प्रकृति में इस क्षोभ को उत्पन्न करने वाले और आगे के तेईस तत्त्वों की सृष्टि करने वाले भी भगवान् श्रीकण्ठनाथ ही हैं।

वेदान्त शास्त्र में प्रकृति एक अनादि और असत्य वस्तु को कहा गया है। उसके दो रूप माने गए हैं। एक उसका निर्मल रूप माना गया है, जिसे माया कहते हैं। इस माया नामक उपाधि के संसर्ग से ब्रह्म ईश्वररूप में प्रकट होकर संसार पर शासन करता है। प्रकृति के दूसरे रूप को समल माना गया है और उसे अविद्या कहते हैं। इस अविद्या नामक उपाधि के संसर्ग से ब्रह्म ही जीव के रूप में प्रकट होकर संसारचक्र में फंसा रहता है[३४]। एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता एक पारमार्थिक सत्ता है। प्रकृति,माया,अविद्या; और जीव की सत्ता का केवल आभास मात्र ही होता है। इन तत्त्वों की कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं होती है। परन्तु ये अनादिकाल से आभासमान होते हुए संसार–चक्र को बनाए रखते हैं। इस संसारचक्र में जीवों के कर्म भी अनादि ही माने गए हैं । इस तरह से वेदान्त में एक ओर से एकमात्र ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता को माना गया है, परन्तु दूसरी ओर से संसार की उपपत्ति लगाने के लिए माया, अविद्या, ईश्वर,जीव और कर्म इन पाँच अनादि तत्त्वों की भी प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। शैव दर्शन में तो अनादि और नित्य पारमार्थिक सत्ता एकमात्र परमशिव की ही मानी गई है। उस एकमात्र परम सत्य तत्त्व को यदि संसार की उपपत्ति के लिए अथवा संसार को चलाने के लिए किसी अन्य माया, अविद्या आदि वस्तु की अपेक्षा रहे, तो उसमें परमुखप्रेक्षिता का दोष आ जाएगा । परमुखप्रेक्षिता का ही दूसरा

३३–एवं क्षुब्धात् प्रधानात् कर्त्तव्यान्तरोदयः, नाक्षुब्धात्, इति क्षोभोऽवश्यमन्तरालेऽभ्युपगन्तव्य इति सिद्धं सांख्यापरिदृष्टं पृथग्भूत गुणतत्त्वम्। (त.सा.पृ.८५)

३४–चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।।
सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।। (पं.द.१–१५,१६)

नाम पराधीनता है। पराधीनता जड़ का ही स्वभाव होता है, चेतन का नहीं। इस तरह से उपरोक्त उपाधियों की कल्पना से ब्रह्म में जड़ता की आपत्ति आती है। अतः उसे सर्वथा निरपेक्ष ही मानना होगा। तो सर्वथा निरपेक्ष और पूर्ण स्वतन्त्र चैतन्यघन परमशिव अपने चैतन्यात्मक स्वातन्त्र्य के विलास से ही अपने ही भीतर शुद्ध--अशुद्ध, गुणातीत--गुणमय आदि सभी प्रकार के तत्त्वों, भुवनों और भावों को प्रतिबिम्ब के तौर पर प्रकट करता रहता है और उसके ऐसा करते रहने से ही उसकी परिपूर्ण स्वतन्त्रता, परमेश्वरता और पराद्वैतता अभिव्यक्त होती है; ऐसा काश्मीर शैव दर्शन का सिद्धान्त है।

प्रकृति को वेदान्त दर्शन में भी त्रिगुणात्मक ही माना गया है। अतः वेदान्त की माया भी त्रिगुणात्मक ही सिद्ध होती है। उसके संसर्ग से वेदान्त का ईश्वर भी सगुण ही सिद्ध होता है। उस सगुण ईश्वर के तीन रूप वेदान्त में माने गए है। वे हैं विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र। इन तीन में क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता मानी गई है। दाक्षिणात्य शैव दर्शनों और वैष्णव दर्शनों में भी इन तीन कारणों में इन्हीं तीन गुणों की प्रधानता को स्वीकार किया गया है। परन्तु शैव दर्शन की दृष्टि से देखा जाए, तो यह सिद्धान्त युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। गुणों का आविर्भाव तो पुरुष तत्त्व और प्रकृति तत्त्व में ही हुआ करता है। माया तत्त्व उन तत्त्वों से छः सीढ़िया ऊँचा तत्त्व है। अतः माया तत्त्व में गुणों का आभिर्भाव होता ही नहीं। तो माया तत्त्व गुणमय नहीं होता। यह और बात है कि सारी की सारी गुणमयी सृष्टि माया के भीतर माया ही के रूप में विद्यमान रहती है। उस दृष्टि से तो छत्तीसों तत्त्व तथा समस्त भुवन और भाव परमशिव के भीतर शिवरूप में ही विद्यमान रहते हैं। दूसरी बात यह है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर त्रिगुणात्मकता के लाञ्छन के योग्य नहीं। यदि फिर ब्रह्मा आदि तीन कारणों के साथ किसी भी प्रकार से तीन गुणों के अस्फुट मूलस्वरूपों का सम्बन्ध जोड़ने का यत्न किया भी जाए, तो रुद्र को ही सत्त्वगुण प्रधान मानना होगा और विष्णु को तमोगुण प्रधान। कारण यह कि सत्त्वगुण का स्वभाव प्रकाश और सुख होता है और तमोगुण का स्वभाव मोह और भारीपन होता है। सत्त्वगुण से मलों में शैथिल्य आता है और उसके फलस्वरूप भेदभाव विलीन होने

लगता है और अभेदभाव का उदय होने लगता है। तमोगुण के भारीपन से प्रकृति की परिणामशीलता में शैथिल्य आता है और फलस्वरूप अभिव्यक्त हुआ संसार कुछ समय के लिए टिक जाता है, अतिशीघ्र अभिनव परिणाम द्वारा मिट नहीं जाता। इस तरह से स्थिति तमोगुण के प्रभाव से ही होती है। तो स्थिति के प्रधान कारण भगवान् विष्णु को तमोगुणप्रधान माना जा सकता है। संहार में भेदात्मक संसार अभेदात्मकता की ओर अग्रसर होने लगता है। अतः संहार के देवता रुद्र को सत्त्वगुणप्रधान मानना उचित है। भगवान् रुद्र और भगवान् विष्णु के शुभ्र और श्याम वर्ण भी क्रमशः सत्त्व और तमस् की प्रधानता को सूचित करते हैं। भगवान् रुद्र संहार करते हुए समस्त प्रमेय प्रपञ्च को प्रमातृ प्रकाश में विलीन करने लगते हैं। उनका तृतीय नेत्र इसी माहात्म्य का सूचक है[३५]। प्रवृति रजोगुण का स्वभाव होता है। अतएव रजोगुणप्रधान ब्रह्मा जी सृष्टि के प्रति प्रवृत्त हुए रहते हैं। अन्य दर्शनों में संहार करने वाले एक रुद्र की सत्ता को माना गया है। परन्तु शैव दर्शन के अनुसार रुद्र अनन्त है। पृथ्वी तत्त्व से लेकर कञ्चुक तत्त्वों तक अगले–अगले तत्त्वों का पूर्व–पूर्व तत्त्वों में संहार करने वाले असंख्य रुद्र होते हैं। ऊपर–ऊपर वाले तत्त्वों में ठहरने वाले रुद्रों की महिमा निचले तत्त्वों में ठहरे हुए रुद्रों की अपेक्षा अधिक–अधिक मानी गई है। तो यदि पृथ्वी तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व तक के रुद्रों को किसी प्रकार से सगुण माना भी जाए, तो अनुचित नहीं होगा। परन्तु कञ्चुक तत्त्वों के अधिष्ठाता रुद्रों को किसी भी तरह से सगुण नहीं माना जा सकता है क्योंकि कञ्चुक तत्त्वों में गुणों का आविर्भाव होता ही नहीं। परन्तु वेदान्त आदि दर्शनों के आचार्य इन

३५–.....दशायां संहाराख्यायां तस्यामधिष्ठातृदेवतात्वं.....भजमानो भट्टारक ईश्वर एव रुद्रो भगवान्, यो मायापदेऽपि प्राणापानात्मकधर्माधर्मसूर्येन्दुदिननिशादिविमुक्त–मध्यमज्योतीरूपप्रमातृस्वरूपस्पर्शाद् उन्मीलिततृतीयनेत्रः।
(ई.प्र.वि.३–२–१)

गहराईयों तक गए ही नहीं।

तीन गुणों की कल्पना की और तत्त्वविश्लेषण की कल्पना को मूलतः सांख्य शास्त्र ही की देन माना जाता है। उस दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मक और पुरुष को निर्गुण माना गया है। वह द्वैत प्रधान दर्शन है और उस दर्शन की खोज प्रकृति और पुरुष तक ही पहुंचकर विश्रान्त हो जाती है। शैव दर्शन ने तो इन दो तत्त्वों से ऊपर भी खोज की है और तीनों गुणों के मूल को शिव की तीन शक्तियों के भीतर पाया है। फिर शैव दर्शन की दृष्टि में प्रमेय तत्त्व की कोई भी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। प्रमेय तत्त्व तभी सिद्ध होता है, जब वह प्रमाता के प्रकाश द्वारा प्रकाशित होता है। जब प्रमाता ही प्रमेय को प्रमेयता की दृष्टि से देखता है, तभी वह प्रमेय रूप में आभासित होता है[३६]। अकल वर्ग के प्रमाता–प्रमेय को भी एकमात्र प्रमाता अर्थात् "अहं" रूप अपने आप के ही रूप में देखते हैं। अतः उस भूमिका में प्रमाता ही केवल है। प्रमेय भी यदि है, तो प्रमाता ही केवल है। प्रमेय भी यदि है, तो प्रमाता ही के रूप में ठहरा हुआ है। तो प्रमेय के स्वरूप और स्वभाव के विषय में प्रमाता की दृष्टि ही मुख्यतया निर्णायक बनती है। तभी प्रमातृ भूत पुरुष ही त्रिगुणात्मक है। ऐसा शैव दर्शन की दृष्टि से दीखता है। सभी द्वैत, शैव और वैष्णव दर्शनों ने भी गुण सिद्धान्त का आश्रय लिया है, परन्तु तीन गुणों के स्वभाव का, उनके स्वरूप का तथा उनके मूल का स्पष्ट व्याख्यान केवल काश्मीर शैव दर्शन में ही किया गया है। प्रायः अन्य अनेकों शास्त्र ईश्वर के तथा ब्रह्म के विषय में सगुणता और निर्गुणता का सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं; परन्तु शैव दर्शन की दृष्टि में गुणों की चर्चा करना केवल पुरुष तत्त्व तक ही न्यायसंगत प्रतीत होता है, ईश्वर या ब्रह्म के विषय में नहीं। वह भूमिका तो गुणों की भूमिका से बहुत अधिक ऊँची भूमिका होती है। उस भूमिका के विषय में सगुणता या निर्गुणता

३६–एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः।।
(अ.प्र.सि.१३)

की चर्चा करना तो उसका बड़ा ही अपमान करना होगा।

वेदान्त दर्शन में सुषुप्ति दशा को तमोगुणप्रधान और जाग्रत् दशा को सत्त्वगुणप्रधान माना गया है। शैव दर्शन की दृष्टि से देखा जाए, तो यह बात भी अतीव अनुचित प्रतीत होती है। सबसे अधिक घने बन्धन और घने अज्ञान की दशा तो जाग्रत् दशा ही होती है। स्वप्न दशा में अज्ञान तो बना ही रहता है, परन्तु कञ्चुक तत्त्वों का बन्धन ढीला पड़ जाता है। सुषुप्ति दशा में तो सभी बन्धन अधिक ढीले पड़ते–पड़ते संस्कारक्षेप ही रह जाते हैं। इसीलिए वेदान्त शास्त्र में ही शुद्ध ज्ञान की दशा की तुलना बहुत बार सुषुप्ति के साथ की गई है[३७]। शैवदृष्टि में भी सुषुप्ति की दशा को आपेक्षिक मुक्ति की दशा में ही गिना गया है। सुषुप्ति में सभी मल अतीव शिथिल हो जाते हैं और सभी क्लेश क्षीण हो जाते हैं। अतः इसी दशा को सत्त्वगुणप्रधान दशा मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। आवरण करना तो तमोगुण का स्वभाव होता है। सबसे अधिक घना आवरण जाग्रत् अवस्था में ही हुआ करता है। भारीपन भी तमोगुण का ही स्वभाव होता है। इसीलिए जाग्रत् अवस्था में ही भारीपन होता है। फिर सत्त्वगुण का स्वभाव सुख होता है। सुख की अभिव्यक्ति सुषुप्ति में ही अधिक होती है। इसके विपरीत तमोगुण का स्वभाव मोह होता है, देहात्मभाव, ममता, राग, द्वेष, आदि मोह के फल जाग्रत् दशा में ही अधिक अभिव्यक्त हुआ करते हैं[३८]। सारांश यह है कि, हलकापन, सुख प्रकाश आदि सत्त्वगुण के स्वभाव सुषुप्ति में ही अधिक अभिव्यक्त

३७–(क) मोक्ष्यसे जन्ममरणलक्षणात् संसारात्। स्वप्नजाग्रद्दुःखं नानुभविष्यसि। (उ.सा.२–४८)

३७–(ख) स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात् स्वात्मनि प्रलीन इवेति "एवं ह्यपीतो भवति" इत्युच्यते।....। श्रुत्यन्तरं च––"प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।" इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति। (ब्र.सू.शा.भा.१–१–६)

३८–(क) प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।

.....

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।। (सां.का.१२,१३)

होते हैं, अतः उसी दशा को सत्त्वगुणप्रधान मानना उचित है। सतत प्रवृत्ति, चञ्चलता, क्लेश, दुःख आदि रजोगुण के स्वभाव स्वप्न दशा में अधिक अभिव्यक्त होते रहते हैं। अतः स्वप्न दशा को रजोगुण प्रधान दशा माना जाना चाहिए[३६]। भारीपन, आवरण, पारतन्त्र्य, शैथिल्य, मोह आदि तमोगुण के स्वभाव जाग्रत् दशा में ही अधिक अभिव्यक्त होते रहते हैं, अतः जाग्रत् दशा को तमोगुणप्रधान ही मानना न्यायसंगत है[४०]। इसमें कोई संशय नहीं कि जाग्रत् में विषय प्रकाश होता है और सुषुप्ति में नहीं होता है। परन्तु सुषुप्ति दशा आत्म प्रकाश के अतीव समीप की दशा है और जाग्रत् दशा उससे बहुत अधिक दूर की दशा है। इसीलिए सुषुप्ति के विषय में उपनिषद् में भी कहा गया है कि इस दशा में प्राणी अपने वास्तविक स्वरूप में प्रविष्ट हुआ होता है[४१]। वस्तुतः आत्म प्रकाश ही वास्तविक प्रकाश है और विषय प्रकाश आत्मा का आवरण है, जो तमोगुण का स्वभाव होता है।

(ख) प्रीतिः सत्त्वं, प्रीत्यात्मकः सत्त्वगुणः। अप्रीतिर्दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः। विषादो मोहः, विषादात्मकस्तमोगुणः इति।....प्रयोजनमाह––प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अत्रापि यथासंख्यमेव। रजः प्रवर्तकत्वात् सर्वत्र लघु सत्त्वं प्रवर्त्तयेत्, यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत। तमोनियतं तु क्वचिदेव प्रवर्त्तयतीति तमो नियमार्थम्। (सां.त.कौ.१२)

(ग) करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम्। गुरुत्वे हि (करणानि) मन्दानि स्युः। इति सत्त्व प्रकाशत्वमुक्तम्।

३६–सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वस्वकार्यप्रवृत्ति प्रत्यवसीदन्ती रजसोपष्टभ्येते। अवसादात् प्रच्याव्य स्वकार्ये ते उत्साहं प्रयत्नं कार्य्येते। तदिदमुक्तमुपष्टम्भकं रज इति । कस्मादित्युक्तं––चलमिति। (तदेव–१३)

४०–रजन्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयद् गुरुणा आवृण्वता च तमसा तत्र–तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन क्वचिदेव प्रवर्त्त्यते। इति ततस्ततो व्यावृत्त्या तमो नियामकमुक्तम्। (तदेव––१३)

४१–सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति । स्वमपीतो भवति। तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते। स्वं ह्यपीतो भवति।। (छां.उ.६–८–१)

९
गुणमयी–सृष्टि

अन्तःकरण

अवान्तर प्रलय के काल के समाप्त हो जाने पर जब भगवान् श्रीकण्ठनाथ के नए दिन का आरम्भ हो जाता है, तो वे मूलप्रकृति में पुनः क्षोभ उत्पन्न करके गुणतत्त्व को प्रकट कर देते हैं[1]। उससे प्रकृति के परिणाम द्वारा गुणों में विषमता के आ जाने से पहले–पहल मूलप्रकृति अन्तःकरणों के रूप में प्रकट हो जाती है। उनमें भी सबसे पहले सत्त्वगुणप्रधान महत् तत्त्व प्रकट हो जाता है। इस तत्त्व को बुद्धितत्त्व भी कहते हैं। यह एक स्वच्छ जड़ तत्त्व होता है। अपनी स्वच्छता के माहात्म्य से यह अगली सृष्टि में सन्निहित वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को धारण कर सकता है। यहां तक कि पुरुतत्त्व रूपी प्रमाता भी इसके भीतर प्रतिबिम्बित हो जाता है। प्रमाता के प्रतिबिम्ब को धारण करती हुई बुद्धि प्रमातृत्त्व के इस प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध से चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है और चेतन की तरह काम करने लगती है। बुद्धितत्त्व एक करणतत्त्व होता है। करण ज्ञान या क्रिया के साधन को कहते हैं। तो बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित विषय को पुरुष के प्रति प्रकाशित करती है। बुद्धि ही उस प्रतिबिम्बित विषय के नामरूप की कल्पना का साधन बनती है। इस

१–स च क्षोभः प्रकृतेः तत्त्वेशाधिष्ठानादेव।
अन्यथा नियतं पुरुषं प्रतीति न सिद्धयेत्। (तं.सा.पृ.८४)

तरह से निश्चित नाम द्वारा निश्चित रूप में प्रमेय वस्तु का स्पष्ट ज्ञान पुरुष को करा देती है। प्रमेय को प्रकाशित करने में सहायक बनती हुई बुद्धि ज्ञान का साधन बनती है और नामरूप–कल्पना का साधन बनती हुई यह क्रिया का भी साधन बनती है। बाह्य विषय के सन्निहित न होते हुए भी अपने भीतर ही विषय की नामरूपात्मक कल्पना के द्वारा उसको उत्पन्न करके उसका प्रकाशन और विमर्शन करा सकती है। इस तरह से बुद्धि ही पुरुष का सबसे प्रधान और निकटतम करण हैं इसके बिना पुरुष प्रमेय के प्रति किसी भी व्यवहार को कर ही नहीं सकता। बुद्धि इस स्थूल सृष्टि में पुरुष के शरीर के अन्तः अर्थात् भीतर रहकर ही काम करती है। अतः इसे अन्तःकरण कहा करते हैं। यह बाहिर के विषयों को चक्षु आदि बाह्य करणों की सहायता के बिना प्रकट नहीं कर सकती । इस कारण से भी यह बाह्यकरण न होकर एक अन्तःकरण ही होती है। इसी तरह से अहङ्कार और मन भी अन्तःकरण ही होते हैं। तो विषय के नामरूप कल्पना से विशिष्ट सुस्पष्ट और निश्चयात्मक ज्ञान के प्रति प्रमाता का साधन बनी हुई उसकी निश्चय करने की शक्ति ही उसकी बुद्धि होती है।

दूसरे अन्तःकरण को अहङ्कार और तीसरे को मन कहा जाता है। पुरुष को अपने शून्यात्मक स्वरूप का जो "अहं"– इस प्रकार का अनुभव होता है, वह भी कल्पनामूलक ही होता है। शरीर आदि के विषय में "अहं" की अनुभूति तो स्पष्ट ही विकल्पमयी होती है।[२] हां, शुद्ध और असीम चैतन्य की अनुभूति तो सदैव विकल्पहीन ही हुआ करती है। अतः निर्विकल्प साक्षात्कार तो वस्तुतः शुद्ध चैतन्य की प्रकाशमानता ही को कहा जा सकता है। उस साक्षात्कार में न ही मन सहायक बनता है और न ही बुद्धि। व्यावहारिक विषय ज्ञान के होने में जब इन्द्रियों के मार्ग से चित्त पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, तो प्रथम क्षण में ऐसा आभास होता है कि कोई वस्तु है। वह वस्तु क्या है, कुछ कहा नहीं जा सकता। उस क्षण में उस वस्तु के विषय में केवल वस्तुत्व ही का आभास होता

२–चित्तत्त्वस्यैवेश्वरस्य मायाशक्त्या भेदावभासिनि शरीरे बुद्धावान्तरे स्पर्शे तदुत्तीर्णे वाकाशे इव शून्य एव कल्पितेऽहमिति प्रमातृभावेन विमर्शः तत्तदाभासमानशरीरादिप्रतियोग्य–पोहनकरणाद् घटोऽयमितिवद्विकल्प एव । (ई.प्र.वृ.१–६–५)

है। वस्तुतः ऐसा आभास भी बुद्धि की कल्पना से ही होता है परन्तु इस क्षण में बुद्धि वस्तु के स्पष्ट और निश्चित नामरूप–विशेष की कल्पना नहीं कर सकती। अतः इस सूक्ष्मतर विकल्पमय आभास को व्यावहारिक तथा निर्विकल्प ज्ञान कहते है[३]। इस ज्ञान की अवस्था में मन वस्तु के विषय में अनेकों सम्भाव्यमान नामरूपों की अस्फुट कल्पना एक साथ करता है। इस प्रकार के अनेक नामरूप कल्पना के उन्मेषों को करने वाली जीव की मननशक्ति को मन कहते हैं। दूसरे क्षण में जब उन अनेकों नामरूप युगलों में से किसी एक ही युगल को ठहराया जाता है और शेष सभी युगलों को ठुकराया जाता है, तो वस्तु के विषय में निश्चित रूप से ज्ञान हो जाता है[४]। प्रथम क्षण में चित्तदर्पण पर प्रतिबिम्ब डालने वाला सन्निहित पिण्ड मानव, पशु, गाय, बैल, घोड़ा आदि कुछ भी हो सकता हैं इस–इस प्रकार के अंशतः सदृश नामरूपों की सम्भावना उसमें हो सकती हैं परन्तु स्फुट विकल्प क्षण में निश्चय हो जाता है कि यह पिण्ड एक गाय ही है, और कुछ नहीं। इस तरह से नामरूपों का उन्मेषण करने वाली जीव की मननशक्ति को उसका मन[५] और विशेष नामरूप का निश्चय करने वाली उसकी शक्ति[६] को बुद्धि कहा जाता है। विषय के प्रतिबिम्ब के इस सविकल्प या निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली उसकी शक्ति अहङ्कार कहलाती है। निश्चित या अनिश्चित दोनों प्रकार के प्रतिबम्ब बुद्धिदर्पण में पड़े रहते हैं। परन्तु

३–स्वम्––अन्याननुयायि स्वरूपसंकोचभाजि,
लक्षणं––देशकालाकाररूपं यस्य तस्याभासः––प्रकाशनम्
अन्तर्मुखं यस्मिन् बहिर्मुखीनस्वरूपधारिणि ज्ञाने, तद्
अविकल्पकं, विषयभेदेऽप्येकजातीयं स्वरूपे, तद्वैचित्र्ये
कारणाभावात्। (ई.प्र.वि.१–२–१)

४–(क) विविधा कल्पना, विविधत्वेन च शङ्कितस्य कल्पो
अन्यव्यवच्छेदनं विकल्पः। (तदेव १–६–१)

(ख) घटे हि दृष्टे घटस्थान एवाघटोऽपि..... सम्भाव्यते....।
अघटस्य सत्यारोपे निषेधनलक्षणोऽपोहनव्यापार इति
तदनु–प्राणिता विकल्परूपता घट इत्येतस्य
निश्चयस्य। (तदेव १–६–२)

५,६,७–आदौ त्रयोदश करणानि। तत्र बुद्धिरध्यवसाय
सामान्यमात्ररूपा, ग्राह्यग्राहकाभिमानरूपोऽहङ्कारः,
संकल्पादिकारणं मनः, इत्यन्तःकरणं त्रिधा। (तदेव ३–१–११)

अहंकार के प्रभाव से जीव यह समझता है कि इन्हें मैं जानता हूं। इसी प्रकार से बुद्धि या शरीर या प्राण की क्रियाओं के विषय में जीव को यह अभिमान होता रहता है, कि मैं करता[७] हूं। फिर उसे शून्य, प्राण, अन्तःकरण और देह के विषय में यह अभिमान बना रहता है कि यह मैं हूँ । जीव के इस प्रकार के इस कल्पित और सीमित अभिमान को ही उसका अहङ्कार कहा जाता है[९]। संसार के अनेकों विचारक "अहं" के विग्रह को हेय मानते हैं और इसे दूर हटाने का उपदेश करते हैं । परन्तु शैव दर्शन में प्राणी के लिए यदि परम उपादेय कोई वस्तु मानी गई है, तो वह एकमात्र "अहं" ही है । तभी तो शिव का भी वास्तविक स्वरूप शुद्ध, असीम और परिपूर्ण "अहं" ही माना गया है । यदि कोई वस्तु हेय है, तो वह केवल वह विचार है, जो "अहं" से भिन्न है । तात्पर्य यह है कि एकमात्र "अहन्ता" का विचार ही परम उपादेय है और "इदन्ता" का विचार ही हेय है । समस्त विश्व को "अहं" समझना ही जीवन्मुक्ति है और इसी को अपने से भिन्न "इदं" समझना बन्धन है[८] । "अहं" की इसी महिमा को भगवद्गीता के दसवें और ग्यारहवें अध्याय में गाया गया है। परन्तु माया के प्रभाव से पुरुष अपने "अहं" को उस रूप में नहीं समझता, जो उसका वास्तविक और पारमार्थिक रूप है । उसका पारमार्थिक रूप तो एकमात्र, असीम, परिपूर्ण और शुद्ध संवित् ही है । परन्तु जीव तो पहले शून्य को और अगली सृष्टि में प्राण आदि को "अहं" समझ बैठता है । ये सभी पदार्थ जड़ पदार्थ होते हैं । अतः इन पदार्थों के विषय में जो यह "अहं" का आभास हुआ करता है, वह वास्तविक अहं न होकर एक प्रकार का कृत्रिम "अहं" होता है । इस कृत्रिम "अहं" के दृढ़ विश्वास को इसी कारण केवल "अहं" न कहकर "अहङ्कार" कहा जाता है ।

७—आदौ त्रयोदश करणानि । तत्र बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा, ग्राह्यग्राहकाभिमानरूपोऽहङ्कारः, संकल्पादिकरणं मनः, इत्यन्तःकरणं त्रिधा। (तदेव ३—१—११)

८—त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत् तदेव तु। त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः।।(शि.स्तो.१२—१२)

९—बुद्धितत्त्वादहङ्कारो येन बुद्धि प्रतिबिम्बिते वेद्यसम्पर्के कलुषे पुंप्रकाशेऽनात्मनि आत्माभिमानः, शुक्तौ रजताभिमानवत्। अत एव कार इत्यनेन कृतकत्वमस्योक्तम्। (तं.सा.५,८६)

"कार" शब्द यहां कृत्रिमता का वाचक है[६]। तो निष्कर्ष यह निकला कि माया के प्रभाव से शून्य, प्राण, अन्तः करण और शरीर को ही अहं समझना और केवल इन्हीं के द्वारा होने वाली क्रियाओं को अपनी क्रियाएँ समझना जीव का अहङ्कार कहलाता है। मन और बुद्धि का स्फुट व्यवहार स्वप्न और जाग्रत् दशाओं में ही होता है। गाढ़ सुषुप्ति में इनकी गति रुक जाती है। परन्तु अहङ्कार का सूक्ष्मतर रूप सुषुप्ति में भी काम करता है। हां तुर्या में उसका भी क्षय हो जाता है। वहां वास्तविक "अहं" का प्रकाश उत्तरोत्तर चमक उठता है।

बाह्यकरण

अहङ्कार का भी आगे जब परिणाम हो जाता है, तो एक ओर से मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों की, दूसरी ओर से पांच कर्मेन्द्रियों की और तीसरी ओर से पांच सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की अशुद्ध विद्या की और कर्मेन्द्रियाँ उसकी कला की सहायक बन जाती हैं। ये सभी करण पुरुष के भिन्न–भिन्न प्रकार के सामर्थ्य होते हैं,और उसके भिन्न–भिन्न व्यवहारों के साधन बनते हैं। उनमें से (१)श्रोत्र शब्द और समस्त शब्दात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता हुआ उसे बुद्धि के हवाले करता रहता है। श्रोत्र पुरुष के सुनने के सामर्थ्य को कहते हैं। यह स्थूल शरीर में कान के छिद्र में ठहरता है । सूक्ष्म शरीर में भी पुरुष का साथ देता है। शेष इन्द्रियाँ भी इसी तरह स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों में रहती हैं । तभी तो सूक्ष्म शरीर में ही रहता हुआ भी जीव सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है। (२) शीत, उष्ण, नर्म, कठोर आदि स्पर्शों को जानने के पुरुष के सामर्थ्य को त्वक् या त्वचा कहते हैं । यह इन्द्रिय स्थूल शरीर में सारे अंगों में रहती हैं । (३) रूप,वर्ण, आकार आदि को जानने के पुरुष के साधन को चक्षु कहते हैं । यह इन्द्रिय स्थूल शरीर में आँखों के तारों में ठहरती हैं । (४) खट्टा, मीठा, नमकीन आदि स्वाद को जान लेने का साधन बना हुआ पुरुष का करण रसना होती है । इसका स्थान जीभ का अग्रभाग है। (५) गन्ध को जाने लेने के पुरुष के साधन को घ्राण–इन्द्रिय कहते हैं। इस शरीर में यह इन्द्रिय नाक के छिद्रों के मुख पर रहती हैं। ये पांचों इन्द्रियाँ विषयों के प्रतिबिम्बों को लेकर बुद्धि के दर्पण में डाल लेती हैं। बुद्धि उन

प्रतिबिम्बों को विशेष आकार में प्रकट करती है और बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष अपनी क्षुद्र चेतना के बल से उन निर्विकल्प या सविकल्प आकारों को विषय के रूप में जान लेता है। पुरुष के इस संकुचित ज्ञान सामर्थ्य को ही उसकी अशुद्ध विद्या कहा गया है।

पुरुष की कला में उपयुक्त होने वाली उसकी इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। उनमें से (१) वाक् उसके बोलने का साधन बनती है । स्थूल शरीर में यह जीव के मुख में रहती है । प्राण वायु के आघात से वाक् अभिव्यक्त होती है। इस नादात्मक वाक् को वैखरी वाणी कहते हैं। मध्यमा, पश्यन्ती और पदा नामक वाणियाँ इस वाक्इन्द्रिय के अधिकार से बाहर की वाणियाँ हैं । वाक् तथा अन्य चारों कर्मेन्द्रियां जीव को सूक्ष्म शरीर में भी साथ देती हैं। इसीलिए सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ भी जीव कला के सभी व्यापारों को कर सकता है। (२) पुरुष के ग्रहण करने की क्रिया के सामर्थ्य को उसका पाणि इन्द्रिय कहते हैं। इसका मुख्य स्थान हाथ है। परन्तु पुरुष का यह सामर्थ्य अंशतः और–और अंङ्गों में भी रहता है। तभी तो प्राणी बगल में, मुख में टांगों के बीच, ठोडी और गले के बीच और टांगों को सिकोड़कर भी वस्तुओं का ग्रहण कर सकते हैं। हाथी सूंड से ग्रहण करता है । सभी पशु पक्षी मुख से ही ग्रहण करते हैं। इन समस्त अङ्गों में पाणि नामक इन्द्रिय का अवस्थान रहता है[१०]। (३) इधर–उधर गमन करने, अर्थात्, आने–जाने, चलने–फिरने, उछलने–कूदने, गिरने–फैलने, सिकुड़ने आदि की क्रियाओं का साधन जो इन्द्रिय होती है, उसे पाद कहते हैं। इस इन्द्रिय का मुख्य स्थान पैर है। परन्तु पक्षी पंखों से उड़ते हैं। जलजन्तु कई प्रकार से संचरण करते हैं। लूले–लंगड़े घुटनों, हाथों आदि के द्वारा चलते हैं । रींगने वाले जन्तु पेट के बल चलते हैं। इन सभी अंगों में गमन सामर्थ्यरूपी पाद इन्द्रिय ठहरती हैं। (४) विसर्जन, अर्थात् मलत्याग की क्रिया का साधन बनी हुई इन्द्रिय पायु कहलाती है। इसका मुख्य स्थान गुदा होता है। परन्तु मूत्रत्याग जननेन्द्रिय से ही किया जाता है । नाक, आंख, मुख, त्वचा के

१०–सर्वदेहव्यापकानि च कर्मेन्द्रियाणि अहङ्कारविशेषात्मकानि ।
तेन विच्छिन्नहस्तो बाहुभ्यामाददानः पाणिनैवादत्ते ।
एवमन्यत् । (ई.प्र.वि.३–१–११)

छिद्र आदि भी मलत्याग के साधन बनते रहते हैं । ये सभी अंग मल–उत्सर्ग के सामर्थ्य के, अर्थात् पायु–इन्द्रिय के अधिष्ठान हैं। (५) विषय–आनन्द को अभिव्यक्त करने की क्रियां का साधन बनने वाली इन्द्रिय उपस्थ कहलाती हैं। इसका प्रमुख स्थान जननेन्द्रिय होता है, परन्तु मुख, छाती, ओष्ठ, आंख, त्वचा आदि में भी यह सामर्थ्य अंशतः रहता ही है। अतः इन सभी अंगों में आनन्दन नामक उपस्थ इन्द्रिय का निवास रहता है।

प्रमेय तत्त्व

अहङ्कार जब सत्त्वगुणप्रधान बनकर परिणाम को प्राप्त करता है, तो उससे मन और पांच ज्ञान–इन्द्रियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं। वही रजोगुणप्रधान बनकर पांच कर्मेन्द्रियों के रूप में परिणत हो जाता है। तमोगुणप्रधान बने हुए अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियों के पांच सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति हो जाती है। ये विषय अतिसूक्ष्म होते हैं और विशेषाकारों में अभी प्रकट नहीं होते। ये पांच विषय पांच तन्मात्र कहलाते हैं। उनके पृथक्–पृथक्नाम हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। "तन्मात्र" का शब्दार्थ होता है "केवल उतना ही" और तात्पर्य है केवल सामान्याकार सूक्ष्म विषया जैसे शब्द तन्मात्र का तात्पर्य अवान्तर भेदों से रहित, सूक्ष्मतर, एकाकार शब्द मात्र ही हैं, नाद, ध्वनि, प्रतिध्वनि आदि, संयोगज, विभागज आदि, वर्ण, पद, वाक्य आदि और तार, मन्द्र–मन्द आदि, तथा रोचक, आह्लादक, दीपक आदि और सार्थक–निरर्थक आदि भिन्न–भिन्न आकार–प्रकार के शब्दात्मक विषय तन्मात्र में गिने नहीं जा सकते । तन्मात्र तो सर्वथा प्रविभाग से रहित सूक्ष्मतर विषय मात्र होता है । ये सूक्ष्म विषय ही जब परिणाम द्वारा स्थूल बन जाते हैं, तो आकाश, वायु, अग्नि,जल और पृथ्वी नामक स्थूल भूतों की अभिव्यक्ति हो जाती है । आकाश उसी पदार्थ को कहते हैं, जिसे वर्तमान भौतिक विज्ञान में ईथर कहा जाता है। इसी भूत के भीतर शब्द की तरङ्गें चलती हैं। वायु स्पर्शगुणप्रधान भूत होता है, अग्नि रूपप्रधान, जल रसप्रधान और पृथ्वी गन्धप्रधान। आकाश से लेकर पृथ्वी तक क्रम से स्थूलता अधिक–अधिक हुआ करती है । जो–जो भूत जितना–जितना अधिक स्थूल होता है,

वह परिणाम में उतना ही उतना थोड़ा विशाल होता है । सबसे कम स्थूलता आकाश में होती है और सबसे अधिक विशाल उसी का परिमाण होता है। सबसे थोडा परिमाण पृथ्वी का होता है और सबसे अधिक स्थूलता भी उसी में होती है। इन गुणमय तत्त्वों के विकास के विषय में सांख्य दर्शन और शैव दर्शन लगभग पूरी तरह से सहमत हैं। वेदान्त दर्शन के साथ इस विषय में इन दोनों का पर्याप्त मतभेद हैं। इन तेईस तत्त्वों की सृष्टि को गुणमयी सृष्टि कहते हैं। भगवान् ईश्वर भट्टारक इस सृष्टि के काम को चलाने के लिए प्रकृति तत्त्व में श्री श्रीकण्ठनाथ के रूप में अवतार बनकर प्रकट हो जाते हैं। वे भगवान् श्रीकण्ठनाथ ही श्रीस्वच्छन्दनाथ की सहायता से इस गुणमयी सृष्टि के लिए प्रकृति को परिणाम के विषय में प्रेरणा करते हैं। यह सृष्टि पूर्व कल्प में किए हुए जीवों के कर्मो के अनुसार ही की जाती है। सांख्य आदि दर्शनों में इस गुणमयी सृष्टि को ही मूल सृष्टि माना गया है। यह सृष्टि भी परतन्त्र सृष्टि ही होती है । इसे स्वतन्त्र सृष्टि नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्र सृष्टि तो शिवनाथ की शुद्ध सृष्टि ही हुआ करती है। शेष सृष्टियाँ परतन्त्र होती हैं और स्वतन्त्र सृष्टि ही के आधार पर चलती रहती हैं।

लोक सृष्टि

पृथ्वीतत्त्व तक की सृष्टि के पूरा हो जाने पर परमाणु और आकाश आदि नित्य द्रव्य उत्पन्न हो जाते हैं। इतना कुछ हो जाने के अनन्तर ही ब्रह्मा जी परमाणुओं को अनन्त प्रकार से जोड़–जोड़कर पृथ्वी, चांद, सूर्य, तारे आदि लोकों की सृष्टि करते हैं। फिर वे ही उन लोगों के भीतर जीवों के लिए शरीरों और विषयों की सृष्टि करते रहते हैं। इनके द्वारा की जाती हुई सृष्टि भी जीवों के कर्मों के अनुसार ही चलती है। ब्रह्मा जी के अधीन दक्ष, कश्यप, मनु आदि प्रजापति भी सृष्टि करने में उनके सहायक बन जाते हैं। ब्रह्मा जी द्वारा की जाने वाली सृष्टि ही के साक्षात्कार के आधार पर न्यायवैशेषिक दर्शनों के आचार्यो ने आरम्भवाद का उपदेश किया। परिणामवाद की कल्पना भगवान् श्रीकण्ठनाथ के द्वारा की जाने वाली गुणमयी सृष्टि के आधार पर और विवर्त्तवाद की कल्पना भगवान् अनन्तनाथ के द्वारा की जाती

हुई अशुद्ध सृष्टि क्रे आधार पर उन–उन दर्शनों के आचार्यों ने की है। परन्तु परमशिव द्वारा की जाती हुई शुद्ध सृष्टि तक उनमें से किसी की भी कला नहीं पहुंच सकी। उस सृष्टि के तथ्य स्वरूप का साक्षात्कार परमेश्वर के तीव्रतर अनुग्रह के पात्र बने हुए परिपूर्ण सिद्ध महानुभावों को ही हुआ और उन्होंने ही आगम शास्त्रों द्वारा उनका उपदेश किया। इसीलिए तो महाराष्ट्र के नाथ सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसे "सैद्धं मतम्" ऐसा कहा है[११]। काश्मीर शैव दर्शन के मुख्य ग्रन्थों में उसी सैद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का स्फुट विवेचन किया गया है।

इन छत्तीस तत्त्वों का उदय और लय जिस तत्त्व में हुआ करता है, उस अनुत्तर तत्त्व को सैंतीसवां परमशिव नामक तत्त्व माना जाता है। त्रिक आचार की साधना के क्रम में इस सैतीसवें तत्त्व के विषय में समझ–बूझ के साक्षी के रूप में अठत्तीसवें तत्त्व की सत्ता को भी माना गया है[१२]। उस अठत्तीसवें तत्त्व के विषय में जो समझ–बूझ होती है, उसका साक्षी पूर्वोक्त सैंतीसवां तत्त्व ही बनता है, क्योंकि बुद्धि के स्तर पर समझे जाते हुए इन दो तत्त्वों के स्वरूप और स्वभाव में कोई भी अन्तर प्रतीत नहीं होता। आणव–उपाय की तत्त्व–अध्वा की धारणा में परमशिव को आलम्बन नहीं बनाया जाता। वह धारणा शिव तत्त्व तक ही चलती है। अतः साधारणतः तत्त्वों की संख्या छत्तीस ही मानी गई है। इन छत्तीस तत्त्वों को तीन वर्गों में भी बांटा गया है। एक वर्ग पृथ्वी से माया तक का है। उसे आत्मतत्त्व कहते हैं। दूसरा वर्ग शुद्ध विद्या से सदाशिव तत्त्व तक का होता है। उसे विद्या तत्त्व कहते हैं । तीसरे शक्ति और शिव के वर्ग को शिव तत्त्व कहते हैं[१३]। यह वर्गी–

११–तस्मात्तयोर् (ज्ञानक्रिययोः) यमलतैव मतं हि सैद्धम्।।
(मा.च.वि.१–१६)

१२–सर्वविच्छेदशून्यं शिवतत्त्वं षट्त्रिंशम् । तद्यदोपदिश्यते भाव्यते वा यत्तत्प्रतिष्ठास्पदं, तत् सप्तत्रिंशम्। तस्मिन्नपि भाव्यमानेऽष्टात्रिंशम् । न चानवस्था । तस्य भाव्यमानस्यानवच्छिन्नस्वातन्त्र्ययोगिनो वेद्यीकरणे सप्तत्रिंश एव पर्यवसानात्।
(त.सा.पृ.१११)

१३–(क) विज्ञानाकलपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम्।
ईश्वरान्तं च विद्याह्वं शेषं शिवपदं विदुः। (मा.वि.तं.२–४७)

करण दाक्षिणात्य शैव शास्त्र में अधिक प्रचलित है। कश्मीर के त्रिक शास्त्र में नर, शक्ति और शिव ये तीन तत्त्व प्रसिद्ध हैं। नर जीव और उसके समस्त जड़ प्रपञ्च को कहते हैं और शिव परतत्त्व को बीच का तत्त्व शक्ति कहलाता है [१४]। अपनी शक्ति को अभिव्यक्त करने की उमंग में आता हुआ शिव अपनी शक्ति ही के विलास के द्वारा जीवदशा पर उतरता रहता है । जीव भी अपनी भूली हुई शक्ति ही को पुनः अभिव्यक्त करता हुआ अपने स्वभावभूत शिवभाव को पहचान लेता है। इस तरह से शक्ति वह तत्त्व है, जो शिव के जीवभाव पर उतरने का मार्ग बनता है और जीव के शिवभाव पर पुनः चढ़ने का भी मार्ग बनता है।

पांच कलाएं

त्रिक शास्त्र में इन छत्तीस तत्त्वों का वर्गीकरण और दो प्रकार से भी होता है। एक होता है पञ्चकलात्मक वर्गीकरण और दूसरा अण्डचतुष्टयात्मक। तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं, और स्थूल रूपों को भुवन। एक–एक कला प्रायः कई एक तत्त्वों को व्याप्त कर लेती है। पृथ्वी तत्त्व को व्याप्त करने वाली कला को निवृत्ति कला कहा जाता है। यहां तक पहुंचते ही तो परमेश्वर की तत्त्व सृष्टि की लीला निवृत्त होती है, अर्थात् यहीं पर रुक जाती हुई आगे नए–नए तत्त्वों की सृष्टि नहीं करती [१५]। जल तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व तक के प्रपञ्च को व्याप्त करने वाली कला का नाम प्रतिष्ठा कला है। इसी

(ख) मायान्तमात्मतत्त्वस्य सदाशिवान्तं विद्यातत्त्वस्य,
शिवान्तं च शक्तितत्त्वस्य व्याप्तिः। (तं.आ.वि.खं.१,पृ.२६७)

१४–(क) नरशक्तिशिवावेशि विश्वमेतत् सदा स्थितम्।
(प.त्री.वि.पृ.७०)

(ख) नरशक्तिशिवात्मकं हीदं सर्व त्रिकरूपमेव ।
(तदेव पृ. ७४)

१५–पृथिव्यां निवृत्तिः । निवर्तते यतस्तत्त्वसर्गः।
(तं.सा.पृ.१०६)

कला पर तो सारी की सारी स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि प्रतिष्ठित रहती है। यही कला उसकी आधार है[१६]। पुरुष तत्त्व से माया तत्त्व तक व्यापक भाव से ठहरने वाली कला का नाम विद्या है। इस क्षेत्र में तो वेद्यभाव छिपा सा रहता है और वेदक भाव ही प्रधानतया चमकता रहता है। इस कला के सभी तत्त्वों का विशेष सम्बन्ध पुरुष अर्थात् जीव ही के साथ होता है[१७]। शुद्धविद्या से लेकर शक्ति तत्त्व तक व्याप्त होकर ठहरने वाली कला को शान्ति या शान्ता कला कहा जाता है। इस कला के भीतर पहुंचकर तो माया आदि कञ्चुकों का आभास देने वाला प्रभाव शान्त हो जाता है[१८]। इस कला से भी पार जाकर ठहरी हुई शिवतत्त्वरूपिणी कला को शान्त्यतीता कला कहा जाता है । आणव–उपाय की कला–अध्वा की धारणा में इन पांच कलाओं का आश्रय लेते हुए ही शिवभाव के आणव समावेश का अभ्यास किया जाता है। शान्ता कला को शाक्त अण्ड भी कहते हैं। इसी तरह से विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति नामक कलाओं को क्रम से मायीय, प्राकृत और पार्थिव अण्ड कहते हैं[१९]। शिव तत्त्व अण्डकल्पना से ऊपर का तत्त्व होता है। उससे ऊपर वाला सैंतीसवां परमशिव तत्त्व तो कलाओं की कल्पना से भी परे ठहरता है। अतः उसे कलातीत कहते हैं।

इन्हीं तत्त्वों को जोड़–जोड़कर ब्रह्मा जी लोकों की सृष्टि करते हैं। कश्यप आदि उनके सहायक बनते हैं। उन लोकों को भगवान् नारायण इन्द्र आदि देवताओं की सहायता से टिकाए रखते हैं और कर्मफलभोग के नियम के अनुसार उन पर शासन करते हैं। भगवान्

१६–जलादिप्रधानान्ते वर्गे प्रतिष्ठा ।
कारणतयाप्यायनपूरणकारित्वात् । (तं.सा.पृ.१०६)

१७–पुमांदिमायान्ते विद्या ।
वेद्यतिरोभावे संविदाधिक्यात् ।
(तदेव पृ. १०६)

१८–शुद्धविद्यादिशक्त्यन्ते शान्ता ।
कञ्चुकतरङ्गोपशमात् ।.....शिवतत्त्वे शान्त्यतीता ।
(तदेव पृ. ११०)

१९–एतदेवाण्डचतुष्टयम्––पार्थिव–प्राकृत–मायीय–
शाक्ताभिधानम् । (तदेव पृ. ११०)

रुद्र अपने नन्दी, वीरभद्र आदि रुद्रगणों की सहायता से समय–समय पर लोकों का संहार करते हैं। मूलप्रकृतितत्त्व से नीचे पृथ्वी–तत्त्व तक तथा आगे सूर्य चन्द्र आदि लोकों, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों, दिव्य और सांसारिक भोग्य विषयों तथा समस्त अन्य भावों की यह सारी की सारी सृष्टि गुणमयी सृष्टि कहलाती है। इसके स्रष्टा ऊपर–ऊपर तत्त्व सृष्टि के क्षेत्र में तो भगवान् श्रीकण्ठनाथ हैं और नीचे–नीचे लोक लोकान्तर आदि की सृष्टि में ब्रह्मा जी और उनके सहायक दक्ष, कश्यप आदि प्रजापति हैं।

प्रमातृ–वर्ग

छत्तीस तत्त्वों के भीतर ११८ भुवनों की स्थिति त्रिकशास्त्र के भुवन–अध्वा की धारणा के क्रम में मानी गई है। उन भुवनों और तत्त्वों के भीतर जो प्राणी निवास करते हैं, उन्हें प्रमातृगण कहते हैं। प्रमाता जानने वाले और करने वाले को कहते हैं। भिन्न–भिन्न स्तरों पर भिन्न–भिन्न प्रकार के ही प्रमातृगण हुआ करते हैं। कोई प्रमाता शुद्ध होते हैं और कोई समल। किन्हीं में मल की स्थूलता होती है और किन्हीं में उसकी सूक्ष्मता। मल की विरलता और घनता ही के कारण उनके ज्ञानक्रिया के प्रकार में भेद आता है। अतः मल के तारतम्य के आधार पर ही प्रामतृगणों का वर्गीकरण किया जाता है। इसलिए इस अध्याय में पहले मल और उसके प्रकारों का ही निरूपण करना आवश्यक प्रतीत होता है। तदनन्तर तदनुसार ही प्रमातृवर्गों का निरूपण किया जाएगा।

मल

मल अज्ञान को कहते हैं[१]। शैवदर्शन में अज्ञान, ज्ञान के अभाव को न कहते हुए अधूरे अर्थात् संकुचित ज्ञान को ही कहते हैं। तो फलतः ज्ञानसंकोच ही मल होता है[२]। परन्तु जिस भूमिका में आत्मा के संकोच के हो जाने के प्रति उसमें उन्मुखता का संरम्भ रहता है और

१– मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्। (मा.वि.तं.१–२३)

२–अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः।।
अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्।। (तं.आ.१–२५,२६)

जिस भूमिका में वह ज्ञानसंकोच होने लगता है, उन दो अवस्थाओं में आत्मा के अनुसन्धान मात्र में ठहरे हुए उस मल को मल नहीं कहते । हां, जिस भूमिका में उसका स्फुट आविर्भाव हो जाता है, उसी भूमिका में उसे मल कहते हैं।

वस्तुतः आत्मा का अर्थात् प्रमाता का स्वरूप असीम, शुद्ध, असंकुचित, परिपूर्ण और सर्वथा स्वतन्त्र संवित् ही होता है। वह स्वातन्त्र्य के स्वभाव से ही सब कुछ जानने और करने में स्वतन्त्र तथा समर्थ होता है। एक मात्र परिपूर्ण और अद्वैत संवित् की दशा में वह स्वयं अपनी ही महिमा से उस रूप में चमकता अर्थात् अभिव्यक्त होता रहता है, यह उसका ज्ञान–स्वातन्त्र्य है। वह उस प्रकार से अभिव्यक्त होता हुआ अपने स्वरूप और स्वभाव का विमर्शन भी करता है। यह उसका क्रियास्वातन्त्र्य है । वस्तुतः प्रमाता शुद्ध, असीम और परिपूर्ण अहं–प्रकाश ही होता है; परन्तु उसमें शुद्ध, असीम और परिपूर्ण अहंविमर्श भी सदैव चलता ही रहता है । यह प्रकाशरूपता उसका पूर्ण ज्ञातृत्व है और यह विमर्शरूपता उसका पूर्ण कर्तृत्व होता है[३]। यह पूर्णकर्तृत्व ही उसकी स्वभावभूत परमेश्वरता होती है। इस पूर्णकर्तृत्व ही की महिमा से उसे परमेश्वर कहा और समझा जाता है। सब कुछ वही है। उससे भिन्न कोई भी वस्तु है ही नहीं। यह उसका परम–अद्वैत है। विश्वभर की जितनी भी क्रियाएं हैं, वह सभी उसी की क्रियाएं हैं। इस तरह से भी वह पूर्ण कर्त्ता है। वह सीमित और संकुचित कर्त्ता नहीं है। ऐसा होता हुआ भी वह अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य के विलास की उमंगों के प्रभाव से झूमता हुआ अपने स्वभाव को छिपाकर उसे फिर अभिमुखभाव में लाकर पुनः पहचानने का स्वाद लेना चाहता है। इसीलिए अपनी परा–मायाशक्ति के द्वारा अपनी प्रकाशरूपता को, विमर्शरूपता को, अद्वैतरूपता को और पूर्ण कर्तृत्व को विलासपूर्वक भुला डालता है।

३–स एव ह्यहम्भावात्मा विमर्शो देवस्य क्रीडादिमयस्य शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये । प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः क्रिया ।
(ई.प्र.वि.१–८–११)

अपने स्वभाव की इन विशेषताओं को भुला डालने से ही उसके ज्ञान में संकोच प्रकट हो जाता है। उसका वह ज्ञानसंकोच ही मल कहलाता है, जिसे अज्ञान अर्थात् अपूर्णज्ञान कहते हैं। वह अज्ञान सूक्ष्मतर आकार में प्रकट होकर सृष्टिक्रम में आगे–आगे विकास को प्राप्त करता हुआ विकास की तीन भूमिकाओं, में तीन मलों के रूप को धारण करता है।

तीन मल

परमेश्वर अपनी प्रकाशरूपता को भूलकर कहीं शून्य को, कहीं प्राण को, कहीं बुद्धि को और कहीं शरीर को ही "अहं" अर्थात् अपना आप समझ बैठता है। इन जड़ भावों में ही अपने कर्तृत्व को ठहराता है। इस तरह से अपने आपको असीम प्रकाशरूप न समझते हुए उसे सीमित शून्य आदि ही के रूप में समझना एक प्रकार का आणवमल होता है[४]। अणु संकुचित को कहते हैं। तो अपनी पूर्णता को भूल जाता हुआ प्रमाता संकुचित वस्तु को ही अपना आप समझता हुआ इस प्रकार के आणवमल का पात्र बन जाता है।

कोई–कोई प्रमाता ऐसे भी होते हैं, जो अपनी शुद्ध प्रकाशरूपता को भूलते तो नहीं, परन्तु अपने स्वतन्त्र क्रियाशक्तिरूप ऐश्वर्य को भूल कर अपने आप को आकाश सदृश निष्क्रिय और ऐश्वर्यहीन शुद्ध और शून्य प्रकाश मात्र ही समझते रहते हैं। यह दूसरे ढंग का स्वरूपसङ्कोच दूसरे प्रकार का आणवमल होता है[५]। पहले प्रकार के आणवमल की दशा में प्रमाता अपनी कर्तृता को सर्वथा भूलता नहीं। अपने आप को शून्य आदि जड़ वस्तु समझता हुआ भी अपने भीतर कर्तृत्व का अनुभव करता ही रहता है।

कोई–कोई प्रमाता अपने वास्तविक विलास की लीला के प्रभाव से संसार को, परमेश्वर को तथा अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न समझता रहता है। प्रमाता के भेदमय दृष्टिकोण का यह संकोच मायीय मल कहलाता है[६]। माया शैवदर्शन में भेदभूमिका का नाम

४,५–स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।। (ई.प्र.२–२–४)

६–भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्.....। (तदेव २–२–५)

होता है। इसीलिए भेदमय दृष्टिकोण के इस मल को मायीय मल कहते हैं। केवल यही मल माया का विकार नहीं होता है,७ क्योंकि शेष दो मल भी तो उसी के विकार होते हैं। फिर माया से ऊपर महामाया में ठहरे हुए मन्त्र प्राणियों में भी भेददृष्टिरूप मायीय मल होता ही है।

वस्तुतः स[illegible]न क्रियाओं का कर्ता स्वयं शिव ही होता है, परन्तु संकोच की प्रगति क प्रभाव से जीवरूप में प्रकट होकर उसे अपनी सर्वकर्तृता भूल जाती है। फलतः जीव को एकमात्र विशेष शरीर, विशेष मन, विशेष वाणी आदि के ही द्वारा किए जाने वाले कर्मों के विषय में अपने कर्तृत्व का अभिमान होता है। वस्तुतः उन परिमित कर्मों का कर्त्ता भी स्वयं शिव ही होता है; क्योंकि जीव शिव की इच्छा के अनुसार और शिव के ही द्वारा बनाए हुए विधान के अनुसार उसी की अन्तः प्रेरणा से सभी कर्मों को करता रहता है। तो वस्तुतः जीव उन कर्मों का करने वाला होता ही नहीं[८]। यदि होता है, तो समस्त विश्व के सारे के सारे कर्मों का वही एकमात्र कर्त्ता होता है। परन्तु संकोच के विकास के कारण उसे उन विशेष कर्मों ही के प्रति अपनी कर्तृता का अभिमान हुआ करता है। फिर उन कर्मों के संस्कार का भी वह पात्र बना रहता है। उससे उसमें परिमित कर्मों की वासनाएं छाई रहती हैं। कर्तृत्व के झूठे अभिमान से वह कर्मों के फल के उत्तरदायित्व का पात्र बना रहता है[९] और कर्मवासना उसे भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने के लिए बाध्य करती हुई संसृति के चक्कर में फंसाए रखती है। यह संकुचित

७–मायीयमिति संज्ञामात्रम्। मायाकृतत्वेन मायीयता मलत्रयस्यापि।
(ई.प्र.वि.२–२–५)

८–तस्य या एवमिति विचित्ररूपेच्छा सैव क्रिया इति सम्बन्धः। तेन महेश्वर एव भगवान् विश्वकर्ता ।
(तदेव–२–४–२१)

९–(क) नन्वेवं कुम्भकृतो नास्ति कर्तृत्वम्,इति समुत्सीदेद् धर्माधर्मव्यवस्था।' यदि प्रत्येषि युक्त्यागमयोस्तदेवमेव तथापि समस्तेतरनिर्माणमध्य एवेदमपि परमेश्वरेणैव निर्मितं यदविचलस्तस्य कुम्भकारपशोर्मिथ्याकर्तृत्वाभिमानः प्रतिभुव इवाधमर्णताभिमानः।'
(ई.प्र.वि.२–४–६)

कर्तृत्व का अभिमान तथा यह कर्मवासना जीव का कर्ममल कहलाते हैं। कोई प्राणी किसी एक ही मल का पात्र बना रहता है, कोई किन्हीं दो का और कोई तीनों का। (१) कोई प्राणी निर्मल ही होता है (२) किसी प्राणी में मल के आविर्भाव के प्रति केवल उन्मुखता ही रहती है (३) किसी में मल के अङ्कुरित होने की सी दशा अभिव्यक्त होती है (४) किसी में मल का आविर्भाव मात्र होता है (५) किसी में उसका थोड़ा सा विकास (६) किसी में कुछ अधिक विकास और (७) किसी में पूरा विकास। इस तरह से मल के इस तारतम्य के आधार पर सात प्रकार से प्राणियों का वर्गीकरण किया जाता है।

अकल

सब से ऊँची श्रेणी के प्राणी अकल प्राणी कहलाते हैं। ये प्राणी पूर्ण अभेद की भूमिका पर ठहरे रहते हैं। इन को सदैव अपनी अपरिमित, परिपूर्ण, अद्वैत और शुद्ध संवितद्रूपता का सतत आभास भी होता रहता है और अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता का सतत विमर्श भी होता ही रहता है। ये परिपूर्ण जगदानन्द के समुद्र जैसे होते हैं और इनमें उस आनन्द की अनन्त लहरें असंख्य प्रकार से बहिर्मुख और अन्तर्मुख उभयाकार स्पन्दन करती रहती हैं। इनके ठहरने का स्थान तत्त्व और शक्तितत्त्व होता है। शिवतत्त्व में ठहरने वाले अकल प्राणी शाम्भव प्राणी कहलाते हैं[१०]। इन्हें अपनी प्रकाशरूपता का चमत्कार

(ख) एवमेवैतदायुष्मंस्तथा ह्येवं विजानताम्।
न किञ्चन फलं क्वापि शुभाशुभसमुद्भवम्।।
इत्थं ये तु न जानन्ति भुञ्जते तेऽविपश्चितः।
तदेव कर्मसंज्ञं तु मलमज्ञानमूलकम्।।

(मा.वि.वा.१–३१४,१५)

१०–अत्र च तत्त्वेश्वराः–शिवशक्तिसदाशिवेश्वरानन्ताः। ब्रह्मेव निवृत्तौ। एषां सामान्यरूपाणामनुगतिविषयाः पञ्च। तद्यथा–– शाम्भवाः, शाक्ताः,मन्त्रमहेश्वराः,मन्त्रेश्वराः,मन्त्राः,(विद्येश्वराः) इति शुद्धोऽध्वा।

(तं.सा.पृ.७४,७५)

अधिक प्रधानता से होता रहता है। शक्तितत्त्व में ठहरने वाले अकल प्राणियों को शाक्त प्राणी कहते हैं। इन्हें अपनी विमर्शरूपता का ही चमत्कार अधिक प्रधानतया होता रहता है। दोनों प्रकार के इन अकल प्राणियों को सदैव ही अपने परिपूर्ण "अहं" ही का आभास होता रहता है। उस "अहं" के भीतर "इदं" का अंश इस तरह से विलीन होकर और "अहं" ही बनकर रहता है, जिस तरह से एक बीज के भीतर उसका अंकुर बीज बनकर ही छिपा रहता है। अतः "इदं" अंश का वहां किसी भी प्रकार से जरा भर भी आभास नहीं होता। कला जीव के परिमित क्रियासामार्थ्य को कहते हैं। कलातत्त्व से ही अन्य मायीय तत्त्वों की उत्पत्ति मानी गयी है। अतः शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि सभी बन्धन कला ही के विकार होते हैं। ये शुद्ध प्राणी कला और उसके इन विकारों से सर्वथा मुक्त रहते हैं। इसी लिए उन्हें अकल नाम दिया गया है । इन अकल प्राणियों में किसी भी प्रकार का, किसी भी अवस्था का कोई भी मल नहीं होता है। इसी लिए ये प्राणी सर्वथा शुद्ध और पूर्ण निर्मल प्राणी माने गए हैं। इन्हें सतत गति से अपने अपरिमित और परिपूर्ण ऐश्वर्य के आनन्द के चमत्कार की अनुभूति अपने ही द्वारा होती रहती है और ये प्राणी एकमात्र शुद्ध परिपूर्ण और असीम संवित् को ही "अहं" समझते रहते हैं।

मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर

अकल प्राणियों से नीचे वाली श्रेणी के प्राणी सदाशिवतत्त्व में रहने वाले मन्त्रमहेश्वर हुआ करते हैं। वे भेद की छाया से युक्त अभेद के दृष्टिकोण से देखते हैं। उन्हें प्रमेय के विषय में "अहम् इदम्" अर्थात्, "मैं ही यह प्रमेय तत्त्व हूं।", ऐसा आभास होता रहता है[११] ।

११–ततश्च शुद्धचैतन्यवर्गो यो मन्त्रमहेश्वराख्यः,तस्य प्रथमसृष्टावस्मा–कमन्तः–करणैकवेद्यमिव श्यामलप्रायमुन्मीलितमात्रचित्रकल्पं यद्भावचक्रम् , तथा संहारे ध्वंसोन्मुखतया तथाभूतमेव चकास्ति प्रतिबिम्बप्रायतया, तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशि भावराशौ तथा प्रथनं नाम यच्चिद्विशेषत्वं तत् सदाशिवतत्त्वम्। (ई.प्र.वि.३–१–२)।

वे भी अपने आप को शुद्ध तथा ऐश्वर्यशाली संवित् ही तो समझते रहते हैं। परन्तु अपने शुद्ध प्रमातृभाव के प्रकाश के भीतर प्रमेय भाव के एक धीमे से प्रतिबिम्ब को भी धारण करते हैं। प्रमेयता का वह प्रतिबिम्ब प्रमातृभाव के प्रकाश के किरणसमूह के भीतर प्रायः खोया सा रहता है। अतः उसका स्फुट आभास होने नहीं पाता। तीसरी श्रेणी में ईश्वरतत्त्व में ठहरने वाले मन्त्रेश्वर नाम के प्राणी आते हैं। वे भी प्रमेय अंश को भेदाभेद की ही दृष्टि से देखते हैं। परन्तु उन्हें प्रमेयभाव का आभास स्फुटतया हुआ करता है और प्रमातृभाव उस स्फुट प्रमेयभाव का विशेषण सा बना रहता है । उन्हें "इदम् अहम्" अर्थात्, "यह प्रमेय पदार्थ मैं हूं", ऐसा आभास होता रहता है[१२]। मन्त्रमहेश्वरों में "अहं" का अंश प्रधानतया चमकता हुआ उद्देश बना रहता है और "इदं" का अंश अप्रधान होकर विधेय रूप में आभासित होता है। परन्तु मन्त्रेश्वरों में इसके विपरीत "इदं" का ही अंश प्रधान और उद्देश बना रहता है और "अहं" का "अंश" अप्रधान बनकर विधेय के रूप में प्रकाशित होता है । इन दोनों प्रकार के प्राणियों की अवस्था में "अहंरूप" प्रमातृभाव और "इदंरूप" प्रमेयभाव दोनों का अवभास होता रहता है। अतः यह भूमिका भेद की भूमिका होनी चाहिए। परन्तु इस भूमिका में ये दोनों भाव परस्पर विशेषण–विशेष्य भाव के जैसे सम्बन्ध से परस्पर अभिन्न जैसे ही प्रतीत हुआ करते हैं; क्योंकि इनका ऐसा आभास होता है कि जो "अहं" है वही "इदं" है और जो "इदं" है वह "अहं" ही है। इस तरह से इस भूमिका में प्रमातृभाव और प्रमेयभाव में परस्पर अभेद का भी अवभास होता ही रहता है। अतः इस शुद्धविद्या–भूमिका के दोनों प्रकार के ये प्राणी भेदाभेदभूमि के प्राणी होते

१२–मन्त्रेश्वरादिरूपस्य तु चैतन्यराशेःस्फुटीभूतमस्मद्बहिष्करण–सरणिसम्प्राप्तभाववर्गप्रतिमं विश्वं प्रतिबिम्बकल्पतया भाति। तस्य तु तत् तथा प्रथनमीश्वरतत्त्वम्।

(तदेव ३–१–२)

हैं। इनको शुद्धा शुद्ध प्राणी माना जाता है [१३]। अभेदभाव ही इनकी शुद्धता है और भेदभाव का अवभास ही इनकी अशुद्धता है। इन प्राणियों में कोई भी मल विकास को प्राप्त नहीं हुआ होता है। स्फुट भेद के अवभास के न होने के कारण इनमें मायीय मल होता ही नहीं। कार्ममल के होने की तो कोई बात ही नहीं। दो में से किसी एक भी प्रकार के आणवमल की भी सत्ता इन में नहीं होती है। हां, स्वरूप के संकोच का बीज तथा भेददृष्टि का बीज जो अकल प्राणियों में सोए पड़े रहते हैं, वे इस शुद्ध विद्याभूमि के प्राणियों में अङ्कुरित से होने लगते हैं। तो मल के विकास के प्रति एक प्रकार की उन्मुखता जैसी मन्त्रमहेश्वरों में मानी जा सकती है। मन्त्रेश्वरों में मानो मल के बीजों के अङ्कुर जैसे निकलने लगते हैं। इसीलिए इन दोनों प्रकार के प्राणियों को न ही पूरे समल और न ही पूरे निर्मल माना जा सकता है। तभी तो इन्हें शुद्धाशुद्धप्राणी कहा जाता है।

मन्त्रमहेश्वर प्रायः सतत गति से शिवसमावेश के चमत्कार में ही मस्त रहते हैं। मन्त्रेश्वरों में इस समावेश की मस्ती के साथ ही साथ निग्रह और अनुग्रह के व्यवहार के प्रति उन्मुखता भी बनी रहती है। परन्तु इन दोनों प्रकार के प्राणियों के शरीर और इन्द्रिय आदि होते ही नहीं। अतः इनके द्वारा कोई भी व्यवहार स्फुटतया नहीं किया जा सकता। इन का स्वरूप तो केवल शुद्ध संवित् ही होता है। अतः इनका व्यवहार केवल इच्छामात्र से ही होता है। इनकी इच्छा निचली भूमिकाओं में वहां के प्राणियों द्वारा सफल बना दी जाती है। जिस तरह शिव की इच्छा अनिरुद्ध और सदा सफल बनी रहती है, उसी तरह से इन दोनों श्रेणियों के प्राणियों की भी। मन्त्रेश्वरों को जो व्यवहार के प्रति उन्मुखता रहती है, उसके कारण वे कभी–कभी महामाया की भूमिका पर अवतार रूप में उतर आते हैं और वहां मन्त्रप्राणियों के रूप में प्रकट होकर

१३–(क) समभवन्ति हि मायागर्भाधिकारिणो विष्णुविरिञ्च्याद्यास्तदुत्तीर्णा अपि महामायाधिकृताः शुद्धाशुद्धा मन्त्रतदीशतन्महेशात्मानः ।
(ई.प्र.वि.१–१–१)

(ख) अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताऽहन्तयाच्छादात् परापरदशा हि सा।।
(ई.प्र.३–१–५)

परमेश्वरता के व्यवहारों को निभाते हैं। वे मन्त्रप्राणी व्यवहार को निभाने के लिए अपनी इच्छा के अनुसार कभी–कभी सूक्ष्मशरीरों को भी धारण कर लेते हैं। वे इच्छानुसार उन शरीरों की सृष्टि भी कर सकते हैं और लय भी । अतः सशरीर भी प्रकट हो सकते हैं और अशरीर भी। वस्तुतः उनका स्वरूप शुद्धसंवित् ही होता है। उनके भी अन्तःकरण और इन्द्रियाँ नहीं होती हैं। परन्तु सूक्ष्म शरीर वाले प्राणियों की भूमिका के कुछ समीप होते हुए वे कभी–कभी सूक्ष्मशरीरधारी रूपों में भी प्रकट होते हुए ऐश्वर्य के व्यवहारों को स्फुटतया निभाते हैं ।

मन्त्र या विद्येश्वर

चतुर्थ कोटि के प्राणी ये मन्त्रनामक प्राणी ही होते हैं। ये विद्येश्वर भी कहलाते हैं। ये प्राणी उस शुद्धविद्या में ठहरते हैं, जिसे महामाया भी कहा जाता है। ये शुद्ध प्रकाश को अपना स्वरूप और शुद्ध विमर्श के ऐश्वर्य को अपना स्वभाव समझते हैं। अतः अपने "अहं" के विषय में इन्हें दो में से किसी एक भी प्रकार का संकोच नहीं होता। इसीलिए ये स्फुट आणव मल से रहित होते हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी ये दूसरे प्राणियों को, परमेश्वर को तथा प्रमेय जगत् को, अर्थात् "इदं" अंश को अपने से भिन्न रूप में ही देखते हैं । इन्हें प्रमेय के विषय में इस तरह से आभास होता है कि "अहम् अहम् इदम् इदम्" अर्थात् मैं मैं हूं और यह यह है। तात्पर्य यह है कि मैं और हूं और यह प्रमेय जगत् और है। इनमें स्वरूपशुद्धि के होते हुए भी इस प्रकार की स्फुट भेददृष्टि अवश्य ही रहती है। भेददृष्टि को मायीय मल कहा जाता है। अतः एकमात्र मायीय मल इन प्राणियों में अवश्य रहता है[१४]। माया स्वरूप का आवरण करती है । परन्तु इनको स्वरूप का आवरण नहीं होता है। अतः इन की इस अविकसित माया को महामाया कहा जाता है[१५]। एकमात्र

१४–येन प्रकारेण विद्येश्वरा भगवन्तोऽनन्ताद्या वर्तन्ते । ते हि शुद्धचैतन्यमात्रगृहीतात्मभावाः स्वतस्तु भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति, यथा द्वैतवादिनामीश्वरः।। (ई.प्र.वि.३–१–६)

मल के होते हुए और स्वरूपतः शुद्ध होते हुए इन प्राणियों को भी शुद्धाशुद्ध कोटि में ही गिना जाता है । स्फुट भेददृष्टि के होने से ही ये प्राणी पञ्चकृत्यरूपी परमेश्वरता के व्यवहारों को स्फुट रूप से चला सकते हैं।

अकल से लेकर मन्त्र तक के इन चार वर्गों के प्राणियों की, उन प्राणियों के निवासभूत शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक पांच तत्त्वों की तथा इन पांच तत्त्वों के प्राणियों पर शासन करने वाले शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और अनन्तनाथ नामक पांच तत्त्वेश्वरों की सृष्टि आदि को स्वयं परमशिव अपने स्वभावभूत स्वातन्त्र्य के विलास से अपनी अनिरुद्ध इच्छा ही के द्वारा करते रहते हैं[१६]। उनके अपरिमित स्वातन्त्र्य के समुद्र में प्रतिक्षण अनन्त कोटि शुद्ध और शुद्धाशुद्ध प्रमातृ गणों, तत्त्वों और तत्त्वेश्वरों का उदय और लय होता ही रहता है। यह उनकी स्पन्दशीलता की महिमा है और यही उनकी परमेश्वरता है। यदि यह स्पन्दशीलता उनमें नहीं होती, तो कुछ भी नहीं होता। एक मात्र वे ही होते । वे भी होते या नहीं होते कुछ कहा ही नहीं जा सकता। यदि होते भी तो शून्य गगन की तरह एक जड़ पदार्थ मात्र ही होते। परमेश्वर तो किसी भी प्रकार से नहीं होते। परन्तु वे हैं और उनका स्वभाव ही परमेश्वरता है। अतः उस परमेश्वरता के विलास की महिमा से और भी सब कुछ है। परमेश्वरता की ही लीला के विलास से वे स्वयमेव अपने ही भीतर अपने ही बल से तथा अपनी ही स्वतन्त्र, क्रीड़ाशील और अविरुद्ध इच्छा के द्वारा वे उपरोक्त तत्त्वों, तत्त्वेश्वरों और प्राणिवर्गों के सृष्टि संहार आदि सदैव करते ही रहते हैं। जिस तरह से समुद्र में लहरों का उदय और लय होता रहता है, उसी तरह से परमशिव में भी इनका उदय और लय सदैव होता ही रहता है। यहां तक कि सृष्टि आदि के कार्य को वे किसी को नहीं सौंपते। स्वयमेव अपनी इच्छा के विलास ही के द्वारा उसके अनुसार करते रहते हैं। इन चार वर्गों के प्रमातृगण केवल शुद्ध चैतन्य ही के बने होते

१५–तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वान्महामायेयं श्रीरौरवादिगुरुभिरुपदिष्टा। (तदेव ३–१–६)

१६–इति शुद्धोऽध्वा। इयति साक्षात् शिवः कर्ता। (तं.सा.पृ०७५)

"अहंरूप" संवित् अर्थात् शुद्ध चैतन्य ही उनका स्वरूप होता है। स्थूल शरीर अन्तःकरण, बाह्य इन्द्रिय, स्थूल प्राण आदि द्वारा वे काम नहीं करते। केवल एक मात्र चैतन्य के स्पन्दन से ही व्यवहार करते हैं। ये सभी प्राणी प्रकाश–विमर्शरूप होते हुए ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न होते हैं। इन्हें सदैव "अहं" या "अहमिदं" या "इदमहं" या "अहम् अहम् इदम् इदम्" इस प्रकार का प्रकाश या अवभास होता रहता है। यह इनका ज्ञान होता है। इस ज्ञान के साथ ही इन्हें इस प्रकार से विमर्श भी होता है। यह इनकी क्रिया होती है। ज्ञान और क्रिया ही जीवनशक्ति के दो रूप होते हैं[१७]। जीवन शक्ति को ही वस्तुतः प्राण कहते हैं। तो जीवन शक्ति की महिमा से ही इन प्रमातृगणों को प्राणी कहा जा सकता है। तो यहां "प्राणी" शब्द से स्थूल प्राण वाला, ऐसा नहीं समझना चाहिए। उस स्थूल प्राण का स्थूलरूप श्वास–प्रश्वास होता है। उसके धर्म अर्थात् स्वभाव क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जागृति आदि होते हैं। इन चार वर्गों के प्राणी इन विकारों से सदा मुक्त ही रहते हैं। ये शुद्धज्ञान और शुद्धक्रिया रूपी प्राणनशक्ति के क्षेत्र के अधिकारी होते हैं।

विज्ञानाकल

पांचवी श्रेणी के प्राणी विज्ञानाकल कहलाते हैं। ये प्राणी भी महामाया ही के भीतर ठहरते हैं। परन्तु उनकी स्थिति महामाया की उस अवान्तर भूमिका में होती है, जो विद्येश्वरों की महामाया–भूमिका की अपेक्षा बहुत ही निचली कोटि की हुआ करती है[१८]। विज्ञानकलों को प्रमेयरूप जगत् का आभास नहीं होता है। इन्हें "इदं रूपता" की कोई भी प्रतीति नहीं होती। अतः स्फुटमायीय मल के अधिकारी ये

१७–ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्।। (ई.प्र.१–१–५)

१८–मायातत्त्वस्योपरि विद्यातत्त्वाधश्चावश्यं तत्त्वान्तरेण भवितव्यम्। यत्र विज्ञानाकलानां स्थितिः। यथोक्तम्––मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः। इति

(प.त्री.वि.पृ.११८)

नहीं होते। ये अपने आप को शुद्ध और शून्य प्रकाशात्मक ही समझते हैं। परन्तु अपनी विमर्शरूपता के ऐश्वर्य की अनुभूति इन्हें नहीं होती [१९]। आत्मा की केवल ज्ञानरूपता का अनुभव इन्हें होता है, उसकी क्रियारूपता का नहीं। अपने स्वभाव का क्रियात्मकता का अंश इनमें परमेश्वर ने छिपा कर रखा होता है। अतः इनके अपने स्वरूप में एक प्रकार का संकोच रहता है, जिसे आणवमल का एक प्रकार माना गया है। इन प्राणियों में परस्पर भेद का भी अवभास होता है[२०]। अतः मायीय मल के भी थोड़े से अंश की स्थिति इनमें माननी पड़ेगी। हां, इनका कार्ममल सुषुप्त ही पड़ा रहता है। इस कारण ये प्राणी प्रायः संसृति में नहीं आते। महाशून्य पद पर, अर्थात् क्रियात्मक ऐश्वर्य से रहित केवल प्रकाशरूपता पर ही चिरकाल तक ठहरे रहते हैं। शिव की अनुग्रहलीला के विलास से कभी किसी मन्त्रेश्वर या मन्त्रमहेश्वर कोटि के प्राणी की सहायता से उस महाशून्य के समुद्र से उभर कर उच्चतर शुद्धविद्या के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। शून्य ब्रह्मवाद, अर्थात् शान्त ब्रह्मवाद के उपासक वेदान्ती महापुरुष प्रायः इस विज्ञानाकल भूमि में पहुंचकर चिरकाल तक वहीं विश्राम करते रहते हैं। अद्वैत वेदान्त की निरोधसमाधि ऐसी ही दशा का एक चित्र प्रतीत होता है[२१]। इन विज्ञानाकल प्राणियों को ऐश्वर्य की अनुभूति के न होने के कारण किसी भी भावात्मक आत्म–आनन्द का आस्वाद प्रायः प्राप्त नहीं होता। इनका परम शान्तिमय आनन्द क्लेश, कर्म, विपाक, वासना आदि के कारण होने वाले दुःखों का अभावमात्र ही होता है। तो इसे शान्त और शून्य गगन की जैसी अवस्था समझिए।

१९–विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यविरहितमेषामिति।

(ई.प्र.वि.३–२–७)

२०–बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः।।

(ई.प्र.वि.३–२–७)

२१–तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिदवशिष्यते।।

(पं.द.२–४०)

भावात्मक आनन्द का स्रोत तो अपना ऐश्वर्य होता है। उस ऐश्वर्य की अनुभूति ऊपर के चार वर्गों के ही प्राणियों को हुआ करती है। विज्ञानाकलों को वह नहीं होती है। वे तो शून्यप्राय स्वभाव के ही अभिमानी होते हैं। परन्तु अपने को शून्य न समझ कर शून्यप्राय प्रकाशस्वरूप ही समझते हैं। इसी कारण इन्हें सर्वथा शून्यात्मक नहीं कहा जा सकता। अपने आपको शुद्ध विज्ञानस्वरूप समझते हुए उस विज्ञानात्मकता के माहात्म्य से ये प्राणी कलातत्त्व से और उस तत्त्व के कई एक विकारों से, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से चिरकाल तक विमुक्त रहते हुए "विज्ञान" से ही "अकल" बने रहते हैं। इसीलिए विज्ञानाकल कहलाते हैं[२२]। इन्हें विज्ञान केवल भी कहते हैं, क्योंकि स्वातन्त्र्य से रहित केवल विज्ञान ही इनका स्वरूप होता है।

प्रलयाकल

छठी श्रेणी के प्राणी प्रलयाकल कहलाते हैं। ये प्राणी भी अपने को शून्यप्राय ही समझते हैं। परन्तु शुद्ध प्रकाश को अपना आप न समझकर ये जड़ात्मक शून्य को ही "अहं" समझ बैठते हैं। अतः इनमें दूसरे प्रकार का आणवमल भी होता है[२३]। ये प्राणी प्रायः सुषुप्ति की दशा में पड़े रहते हैं। सुषुप्ति दो मुख्य प्रकार के होते हैं। एक प्रकार की सुषुप्ति में प्राणी या तो बुद्धितत्त्व में या प्राणतत्त्व में विलीन होकर रहता है। उस दशा में सूक्ष्मतर सुख–दुःख आदि की या तन्द्रा, श्रम आदि की अस्फुट सी अनुभूति भी साथ रहती है। उस सुषुप्ति से जागकर प्राणी को यह स्मृति होती है कि –'"मैं बड़े सुख से सोया, मेरे सभी अंग हल्के थे, या मेरा शरीर बड़ा भारी सा था, इत्यादि इत्यादि।" इस प्रकार की सुषुप्ति को सवेद्य सुषुप्ति कहा करते हैं। दूसरे प्रकार की सुषुप्ति में प्राणी शून्य में ही विलीन होकर रहता है। उस सुषुप्ति से जागकर उसे ऐसी स्मृति होती है कि इतनी गाढ़ी निद्रा मे सोया कि कुछ भी पता नही

२२–विज्ञानेनात्मस्वरूपस्याविपर्यस्तेन विशिष्टेन ज्ञानेनाकलाः––कलया तत् कार्यभूतैश्चान्तर्बहिष्करणदेहादिभी रहिता इति निर्वचनम्।

२३–शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।
तेषां कार्मो मलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पतः।।
(ई.प्र.३–२–८)

रहा, कोई भी स्वप्न नहीं देखा, इत्यादि। इस सुषुप्ति को अपवेद्य सुषुप्ति कहा जाता है। अपवेद्य सुषुप्ति में पड़े हुए प्राणियों में स्फुट मायीय मल नहीं होता। परन्तु सवेद्य सुषुप्ति में सोये हुए प्रलयाकलों में मायीय मल भी रहता ही है। कार्ममल तो दोनों प्रकार के प्रलयाकलों में कुछ काल के लिए सोया हुआ पड़ा ही रहता है। सामान्यतः न्याय–वैशेषिक की अपवर्गदशा, सांख्ययोग की कैवल्यदशा और बौद्धबाद की निर्वाणदशा सुषुप्ति ही की भिन्न–भिन्न भूमिकाएं सिद्ध होती हैं। इन भूमिकाओं को प्राप्त करने वाले साधकों को कुछ समय के लिए शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि का प्रलय हो जाता है। उससे वे कलातत्त्व के अनेकों विकारों से छुटकारा पा जाते हैं[२४]। उसे पाकर वे शून्य गगन की जैसी शान्त और जड़तुल्य अवस्था में चिरकाल तक पड़े ही रहते हैं । भगवान् श्रीकण्ठनाथ अवान्तर प्रलय के आरम्भ में सभी कार्यतत्त्वों और करण तत्त्वों को मूलप्रकृति में विलीन कर देते हैं। उस समय से उनकी रात्रि आरम्भ होती है। उस रात्रि में तो समस्त बद्ध प्राणी भी सुषुप्ति में ही विलीन होकर पड़े रहते हैं। उस प्रलयकाल में प्राणी प्रलय ही के कारण कलातत्त्व के अनेकों विकारों से छूटे रहते हैं। उस काल में वे सभी प्रलयाकल दशा में ही पड़े रहते हैं। परन्तु मुख्य प्रलयाकल तो कार्यतत्त्वों और करणतत्त्वों की स्थिति के काल से ही, अर्थात् भगवान्, श्रीकण्ठनाथ के दिन से ही कलातत्त्व के उन विकारों से छूटे हुए थे। इस प्रकार के ये दो प्रलयाकल सदा के लिए इस दशा में नहीं रहते। अपितु अवान्तर प्रलय के काल तक ही, अर्थात् भगवान् श्रीकण्ठनाथ की रात्रि के अन्त तक ही कलातत्त्व के दुष्प्रभावों से छूटे रहते हैं। जब उनके नए दिन का आरम्भ हो जाता है, तो वे अन्य बद्ध प्राणियों के समेत ही इन अस्थाई तौर से मुक्त बने हुए प्रलयाकलों को भी जगाकर सुषुप्ति में से निकाल देते हैं[२५]। तदनन्तर पूर्व कर्मों के अनुसार उन्हें कलातत्त्व के विकार पुनः घेर लेते हैं । इस तरह से ये प्राणी प्रलयकाल तक ही अकल रहने के

२४–प्रलयेन कृता अकलाः, कलातत्त्वोपलक्षितकरणकार्यरहिता अबोधरूपाः कर्तारश्च। (ई.प्र.वि.३–१–८)

२५–सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी।। (तं.आ.६–१५२)

कारण भी प्रलयाकल कहलाते हैं।

सकल

सबसे निचली अर्थात् सातवीं श्रेणी के प्राणी सकल कहलाते हैं। इन्हें अपने आपके विषय में शुद्ध प्रकाशरूपता का अभिमान नहीं होता । ये संसार की भेददृष्टि से सदा देखते रहते हैं। संकुचित कर्तृत्व के अभिमान से तथा कर्मवासना से घेरे ही रहते हैं। इस तरह से इनमें पूरे विकास को प्राप्त हुए तीनों मल रहते हैं[२६]। सकल प्राणियों में सभी वृक्ष–पौधे, कीड़े–मकौड़े, जलचर, पशु–पक्षी, रींगने वाले जीव, मानव–देवगण आदि समस्त मर्त्यलोकों और स्वर्ग आदि लोकों के निवासी, स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को धारण करने वाले प्राणी गिने जाते हैं। ये सभी प्राणी संसारी जीव होते हैं। ये जाग्रत् संसार और स्वप्नात्मक सूक्ष्म सृष्टि के लोकों में सदैव वासनाओं के अनुसार कर्म करते हुए और कर्मों के अनुसार सुख–दुःख आदि का भोग करते हुए क्रम से भिन्न–भिन्न योनियों में जन्मते और मरते रहते हैं।

२६–देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसार–कारणम्।। (ई.प्र.३–२–१०)

११

बन्धन और मुक्ति

शैव दर्शन की दृष्टि में जो कुछ भी है, स्वयं परमेश्वर ही है। नहीं होना, अर्थात् अभाव भी परमेश्वर ही है। एक मिट्टी का ढेला भी परमेश्वर ही है। ठीक उसी तरह से और उतनी ही परिपूर्णता से परमेश्वर है, जिस तरह से और जितनी मात्रा में शुद्ध अपरिमित और परिपूर्ण संवित् परमेश्वर है। सब कुछ सत्य है और पूर्ण परमशिव है। विद्या भी परमशिव है और अविद्या भी। बन्धन भी वही है और मुक्ति भी। द्वैत भी वही है और अद्वैत भी। सावधान साधकों को सर्वत्र परमशिव भाव की ही अनुभूति हुआ करती है[१]। इस सुविशाल और सर्वव्यापक परमेश्वरता की दृष्टि को ही शैव दर्शन के आचार्यों ने पराद्वैत दर्शन कहा है। परद्वैत उस दृष्टि को उन्होंने कहा है, जिसमें द्वैत–अद्वैत, बन्धन–मुक्ति, जड़–चेतन आदि सभी प्रकार के द्वन्द्व समान रूप से परमशिव ही प्रतीत होते हैं[२]। इस पराद्वैत के अनुसार बन्धन और मुक्ति की कल्पना केवल व्यवहार मात्र ही है । दोनों तभी तक इस परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व के आकार में प्रतीत होते हैं, जब तक पराद्वैत की दृष्टि खुलती नहीं। उसके खुल

१– एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते ।
तेन सर्वगतं सर्वं शिवरूपं निरूपितम्।। (शि.दृ.५–११०)

२–नीलं पीतं सुखमिति प्रकाशः केवलः शिवः।
प्रमुष्मिन् परमाद्वैते प्रकाशात्मनि कोऽपरः।।
उपायोपेयभावः स्यात् प्रकाशः केवलं हि सः।
इदं द्वैतमयं भेद इदमद्वैतमित्यपि।।
प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः।
अस्यां भूमौ सुखं–दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः।।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च।। (तं.आ.२–१६ तः१६)

जाने पर समस्त विश्व को समान रूप से परमशिव ही जाना जाता है[३]।

लीलाविलास

बन्धन और मुक्ति का, तथा अन्य समस्त आभासों का व्यवहार तो परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का विलास ही है और कुछ भी नहीं है। उस विलास के मुख्य दो भाग होते हैं, एक को उसका पूर्वाङ्ग और दूसरे को उसका उत्तराङ्ग कहा जा सकता है। श्रीभट्टनारायण ने उन्हें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष कहा है[४]। ऐसा प्रतीत होता है, कि मानो परमशिव अपनी विश्वोत्तीर्ण शुद्ध संविद्रूपता में पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं होता हुआ विश्वरूपता में प्रकट होकर और अपनी परमेश्वरता को भुला डालकर तथा जीव बनकर अपनी परमेश्वरता को पुनः पहचान लेने की इस दिव्य लीला का अभिनय करता हुआ ही कृतकृत्य होता रहता है। परमशिव की संवित् को चैतन्य का अपार समुद्र ही समझिए। चैतन्य का स्वभाव आनन्द होता है। वह आनन्द एक सतत गतिशीलता के आवेश से आविष्ट हुआ रहता है। यह गतिशीलता चैतन्य की स्वतन्त्र और अनिरुद्ध इच्छा कहलाती है। इसकी अन्तर्मुखगति को ज्ञान और बहिर्मुख गति को क्रिया कहते हैं। यह गतिशीलता रूपिणी इच्छा ही चैतन्य के स्वातन्त्र्य का विलास है। उस विलास के आवेश से परमशिव अपने स्वरूप और अपने स्वभाव को अपने ही स्वातन्त्र्य से जब भुला डालता है, तो एक ओर से जीव के रूप में और दूसरी ओर से जगत् के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है । फिर जीव के रूप में ठहर कर उपायों द्वारा अपने भुलाए

३–(क) भवदावेशतः पश्यन् भावं भावं भवन्मयम्।
विचरेयं निराकांक्षः प्रहर्षपरिपूरितः।। (शि.स्तो.६–५)
(ख) भगवन् भवता पूर्णं पश्येयमखिलं जगत्।
तावतैवास्मि सन्तुष्टस्ततो न परिखिद्यसे।। (तदेव ६–'६)

४–पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्यभेदतः।
अभेदोत्तरपक्षान्तर्नीयते तं स्तुमःशिवम्।। (ई.प्र.वि.१–२–१)

हुए परमेश्वरात्मक स्वभाव को पुनः अभिमुखता की दशा में लाकर उसे पुनः पहचान लेता हुआ ही पूरी तरह से मानो कृतकृत्य होता रहता है। विश्वोत्तीर्णता की दशा में सदैव अवस्थित रहना परमशिव की परमेश्वरता का मानो एक मुख है । विश्वमयता की दशा में प्रकट होकर अपने इन दोनों विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय स्वरूपों को उपायों को साधना से अभिमुखतया साक्षात्कार के द्वारा पुनः पहचान लेना परमशिव की परमेश्वरता का मानो दूसरा मुख है। इस दूसरे मुख को अभिव्यक्त करना ही तो परमशिव का मुख्य स्वभाव होता है। इसी स्वभाव की महिमा से तो वह परमेश्वर है। उसका यही स्वभाव तो उसकी कूटस्थ और अचल विश्वोत्तीर्णता को भी सिद्ध करता है। उसका यही स्वभाव उसका विलास कहलाता है। उस विलास के पूर्वाङ्ग में परमेश्वर अपने शुद्ध प्रकाश के भीतर अपने स्वातन्त्र्य के विलास की महिमा से, अपनी अनिरुद्ध इच्छा के बल से अपनी स्पन्दशीलता के द्वारा अनन्त प्रकार के प्रमातृवर्गों और प्रमेयवर्गों को प्रतिबम्ब के न्याय से प्रकट करता रहता है। उन प्रतिबिम्बों के आकार में प्रकट होता हुआ ही अपनी परमेश्वरता को भुला डालता है और जीवरूप बनकर उन प्रतिबिम्बों को प्रतिबिम्ब न समझता हुआ, अपितु उनको उन कल्पित रूपों में ही सर्वथा यथार्थ समझता हुआ, तीन प्रकार के मलों से घिर जाता है। ऐसा होते हुए वह बन्धन का पात्र बन जाता है। पुनः जीव को शिव ही के अनुग्रह के प्रभाव से गुरु और शास्त्र की उपासना करते हुए रहस्य योग के अभ्यास के द्वारा फिर से अपने भुला डाले हुए वास्तविक स्वरूप और स्वभाव की पहचान आ जाती है। उस पहचान के हो जाने से वह समस्त विश्व को अपने स्वातन्त्र्य के विलास से ही कल्पित किया हुआ और केवल प्रतिबिम्बन्याय से ही आभासमान होता हुआ जब समझने लगता है, तो वह मुक्ति का पात्र बन जाता है । वस्तुतः अपने स्वरूप और स्वभाव को भूल डालना और इन्हें पुनः पहचान लेना, दोनों ही आत्मदेव परमशिव के विलास हैं [५]। इन्हें स्वयं संचालित स्वविलास न

५—एवं देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद्विभुः।। (बो.प.६)

समझकर सर्वथा परसञ्चालित और अपने से भिन्न तथा आभासमान रूपों में ही यथार्थ समझना बन्धन होता है। इसके विपरीत इन्हें अपना ही स्वतन्त्र विलास और अपनी ही शक्तियों का प्रतिबिम्ब समझना मोक्ष कहलाता है[६]। इस तरह से बन्धन और मोक्ष दोनों का तत्त्व तो विशेष प्रकार का अभिमनन ही है । जीव भाव का अभिमनन ही बन्धन होता है और शिवभाव का अभिमनन ही मोक्ष होता है[७]। दोनों ही पारमेश्वरी लीला के व्यवहार मात्र हैं। तभी तक दोनों भिन्न–भिन्न रूपों में यथार्थ हैं, जब तक स्वात्म परमेश्वर के विलसन रूपी स्वभाव की साक्षात् पहचान नहीं होती है। उसके हो जाने पर जब पराद्वैत दृष्टि खुल जाती है, तो उस अवस्था में भी सब कुछ यथार्थ ही है, परन्तु सब कुछ वस्तुतः शिव ही है और सब कुछ का स्वभाव परिपूर्ण परमेश्वरता ही है[८]। परमशिव यथार्थ तथा सत्य तत्त्व है, तो उसकी परमेश्वरता भी यथार्थ ही है। यथार्थ परमेश्वरता का विलास भी यथार्थ ही होना चाहिए। क्योंकि वह उससे अभिन्न होता है। उस यथार्थ विलास का फल बना हुआ यह सब कुछ भी यथार्थ ही हो सकता है। इसे बन्ध्यापुत्र या शशशृङ्ग या आकाशपुष्प के समान मिथ्या नहीं माना जा सकता। शैव दर्शन की सूक्ष्मतर दृष्टि में तो बन्ध्यापुत्र आदि

६– यदेतस्यापरिज्ञानं तत् स्वातन्त्र्यं हि वर्णितम्।
स एव खलु संसारो जडानां यो विभीषिका।।
तत्प्रसादवशादेव गुर्वागमत एव वा।
शास्त्राद्वा परमेशस्य यस्मात् कस्मादुपायतः।।
यत्तत्त्वस्य परिज्ञानं स मोक्षः परमेशता।
तत् पूर्णत्वं प्रबुद्धानां जीवन्मुक्तिश्च सा स्मृता।।
(बो.पं.११ तः १३)

७– प्रकाशमान एवं यद् "न प्रकाशते" इत्यभिमननं, तदपसार्यते।
तदपसरणमेव हि परमेश्वरतालाभो मुक्तिः, तदनपसरणमेव संसारः।।
अभिमननमात्रसारं ह्येतद् द्वयम्। उभयमपि चेदं भगवद्विजृम्भितमेव।।
(ई.प्र.वि.२–३–१७)

८– एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे।। (बो.पं.१४)

भी व्यवहार क्षण में यथार्थ ही होते हैं। सर्वथा मिथ्या कोई भी वस्तु होती ही नहीं। इस प्रपञ्च को यथार्थ मानकर ही तो संसार का अशुद्ध व्यवहार और शास्त्र सम्बन्धी शुद्ध व्यवहार भी चलता है। तभी तो पठन–पाठन, उपदेश, अभ्यास आदि सब कुछ निर्बाध गति से चलता रहता है। यदि प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या होता, तो कोई भी व्यवहार नहीं चलता। अतः संसार न तो सर्वथा मिथ्या ही है और न परमार्थतया सत्य ही है। इसे शैव शास्त्र में संवृति सत्य माना गया है और उस संवृति सत्यता को सत्यता का ही एक प्रकार माना गया है, असत्यता का नहीं [९]। शैव दर्शन की इस प्रकार के यथार्थवाद की इस दृष्टि के अनुसार स्वरूपविस्मृतिरूप बन्धन भी व्यवहार की भूमिका में यथार्थ ही है और स्वरूप प्रत्यभिज्ञा (पहचान) रूपी मोक्ष भी यथार्थ ही है।

अज्ञान

शैव दर्शन में बन्धन का लक्षण अज्ञान और मुक्ति का लक्षण ज्ञान कहा गया है[१०]। अज्ञान को इस दर्शन में ज्ञान का अभाव नहीं माना जाता। यहां ज्ञान के संकोच को अज्ञान कहा जाता है[११]। इस "अज्ञान" शब्द में "न" निषेधार्थक न होकर अल्पार्थक ही होता है। आत्मदेव वस्तुतः अपरिमित और शुद्ध प्रकाश है, परन्तु ज्ञान संकोच के कारण जीव दशा में परिमित और जड़ वस्तु को अर्थात् शरीर आदि को ही अपना आप समझ बैठता है। आत्मदेव की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों ही वस्तुतः असीम होती हैं, परन्तु माया के प्रभाव से अभिव्यक्त हुए जीवभाव में वह अपने को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान न समझता हुआ अल्पज्ञ और अल्पशक्ति ही समझ बैठता है। इस तरह

९–एवं संवृतिर्विकल्पबुद्धिस्तद्वशादुच्यतां संवृतिसत्यत्वं, सत्यत्वस्यैव तु प्रकारस्तत्। इति द्विचन्द्रवन्नासत्यता।

(ई.प्र.वि.२–२–३)

१०–इह तावत् समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।
अज्ञानं संसृतेर्मूलं ज्ञानं मोक्षैककारणम्।।

(तं.आ.१–२२)

११–देखिए पीछे अध्या. १०, अंक २।

से इसके अपने स्वरूप और अपने स्वभाव के ज्ञान में अतीव संकोच का अवभास होता है। यही इसका अज्ञान है। इस अज्ञान के दो आश्रय होते हैं । जिनसे यह दो प्रकार का हो जाता है। एक आश्रय तो स्वयं पुरुष या जीव ही होता है। वही आणव आदि मलों का पात्र बना रहता है [१२]। यह मल ही उसका अज्ञान होता है । अज्ञान का दूसरा आश्रय होता है पुरुष की बुद्धि। पौरुष अज्ञान से प्रभावित जीव की बुद्धि भी ज्ञान संकोच का आश्रय बनकर तदनुसार ही समझती रहती है और तदनुसार ही अशुद्ध विकल्पों की कल्पना करती रहती है। वस्तु को शिवरूप में समझना शुद्ध विकल्प होता है और उसे प्रमेय रूप में ही समझना अशुद्ध विकल्प होता है। जीव के इस अशुद्ध विकल्पों को करते रहने के स्वभाव को बौद्ध अज्ञान कहते हैं[१३]। बौद्ध अज्ञान समझ का अज्ञान होता है और पौरुष अज्ञान मूल अज्ञान होता है। पौरुष अज्ञान के कारण जीव पर जीवभाव का पक्का संस्कार जागता हुआ जमा रहता है और शिवभाव का संस्कार विलीन हुआ सा और सुषुप्त होकर ही पड़ा रहता है। बौद्ध अज्ञान के कारण जीव अपनी बुद्धि के द्वारा अपने शरीर आदि जड़ पदार्थ को ही निश्चयपूर्वक अपना आप समझता हुआ सांसारिक व्यवहार को चलाता रहता है। वह सङ्कुचित अहंभाव और सीमित ममत्व से ही

१२–ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः।
द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने।।
तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ।
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम्।।
संकोचि यत्क्रियारूपं तत् पशोरविकल्पितम्।
तदज्ञानं न बुद्धयंशोऽध्यवसायाद्यभावतः।।
(तं.आ.१–३६ त.३८)

१३–अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी।
षट्कञ्चुकाविलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा।।
धीर्जायते तदा तादृग् ज्ञानमज्ञानशब्दितम्।
बौद्धं तस्य च तत् पौस्नं पोषणीयं च पोष्टृ च।।
(तदेव १–३६,४०)

प्रेरित होता हुआ सब कुछ करता है। संसार के पदार्थों को शिवात्मक न समझता हुआ उन्हें निश्चयपूर्वक घर आदि जड़ वस्तु के ही रूप में समझता रहता है। अपने सीमित कर्तृत्व के अभिमान का निश्चय भी उसे बुद्धि ही के द्वारा होता रहता है। इस तरह से अपने स्वरूप के विषय में, अपने स्वभाव के विषय में तथा प्रमेय जगत् के विषय में जीव की बुद्धि के इस–इस प्रकार के अशुद्ध विकल्पज्ञानों की कल्पना ही जीव का बौद्ध अज्ञान कहलाता है।

ज्ञान

यह दोनों प्रकार का अज्ञान बन्धन होता है। गुरु के उपदेश से और शास्त्रों के अभ्यास से जीव की बुद्धि का अज्ञान दूर हो जाता है । वह बुद्धि के स्तर पर समझ लेता है, कि. मैं असीम और परिपूर्ण तथा शुद्ध संवित् ही हूं , तथा स्वभाव से ही सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान परमेश्वर हूं। परन्तु मूल अज्ञान के स्थिर रहते हुए यह बौद्ध ज्ञान निष्फल होता रहता है[१४]। मानव का सारा व्यवहार मूल अज्ञान के आधार पर ही चलता रहता है। बौद्ध ज्ञान केवल कहने–सुनने, समझने–समझाने, लिखने–लिखाने, पढ़ने–पढ़ाने आदि में ही काम आता है। उस पौरुष अज्ञान का नाश पौरुष ज्ञान से ही होता है। पौरुष ज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक मलों को धोया न जाए। मल केवल गुरुकृपा से ही धुले जा सकते हैं। अतः गुरु जिस समय यथावत् दीक्षा के द्वारा शिष्य को अनुगृहीत करता है, उसी समय शिष्य के पौरुष मल शिथिल होने लग जाते हैं और गुरु द्वारा सिखाए हुए रहस्यमय उपायों के अभ्यास से धीरे–धीरे पूरी तरह से धुल जाते हैं। ऐसा हो जाने पर ही बौद्ध ज्ञान भी यथार्थ रूप में ज्ञान बन जाता है। पौरुष मल के धुल जाने पर भी यदि बुद्धिगत संशय और विपर्यय टिके ही रहें, तो उससे पौरुष मल के पुनः

१४--न चाप्रध्वस्तपौरुषाज्ञानस्यानेन (बौद्धेन ज्ञानेन) किञ्चिद्भवतीत्युक्त–प्रायम्। अन्यथा हि प्रेक्षावतां दीक्षायां प्रवृत्तिरेव न स्यात् ।
(तं.आ.वि.१–४४)

१५–दीक्षया गलितेऽप्यन्तरज्ञाने पौरुषात्मनि।
धीगतस्यानिवृत्तत्वाद्विकल्पोऽपि हि सम्भवेत्।।
देहसद्भावपर्यन्तमात्मभावो यतो धियि।
देहान्तेऽपि न मोक्षःस्यात् पौरुषाज्ञानहानितः।। (तं.आ.१–४८,४९)

अंकुरित हो जाने का भी भय रहता है[१५]। बौद्ध ज्ञान से रहित साधक को अपने पौरुष ज्ञान की यथार्थता पर पक्का विश्वास नहीं बैठता। वह अपने साक्षात्कारात्मक ज्ञान के यथार्थ तात्पर्य को यथार्थ बौद्ध ज्ञान ही के द्वारा समझ सकता है । उस ज्ञान के बिना वह प्रायः संशयग्रस्त ही रहता है। अतः पौरुष और बौद्ध, दोनों ही प्रकार का ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति के लिए अतीव आवश्यक होता है। पुरुष की आत्मा भी मलरहित बननी चाहिए और उसकी बुद्धि भी निर्मल बन जानी चाहिए। तभी उसका ज्ञान परिपूर्ण बनकर अज्ञान को पूरी तरह से नष्ट कर सकता है। अतः शास्त्रों के सिद्धान्तों को कुशाग्र बुद्धि के द्वारा समझना तथा रहस्यमय उपायों का अभ्यास करना, ये दोनों ही साधन मुक्ति पाने के लिए आवश्यक होते हैं । इनमें से केवल एक ही के द्वारा काम नहीं चल सकता। फिर यथार्थ वस्तुस्थिति को केवल जानना ही पर्याप्त नहीं होता है। उसे क्रियात्मकतया अपने ऊपर घटाना भी आवश्यक होता है। जभी कोई साधक क्रियात्मकतया अपने शिवभाव का साक्षात् अनुभव करे, तभी उसे उस शिवता पर पक्का विश्वास हो सकता है। ज्ञान की इसी क्रियात्मक सफलता को विज्ञान कहते हैं[१६]। तो बौद्ध ज्ञान और पौरुष ज्ञान दोनों ही विज्ञान बनते हुए ही परिपक्वता को प्राप्त करके यथार्थ मोक्ष को दे सकते हैं । इसी कारण भगवद् गीता में भी ज्ञान और विज्ञान दोनों को आवश्यक कहा गया है।

जीवन्मुक्ति

जिस साधक को दोनों प्रकार से यह निश्चय पक्का हो जाए, कि उसका वास्तविक स्वरूप शुद्ध संवित् ही है, और परमेश्वरता उसका नैसर्गिक स्वभाव ही है, तथा जिसे क्रियात्मकतया भी अपनी परमेश्वरता का आंशिक अनुभव हो जाए, वह साधक सिद्ध पदवी को प्राप्त करता हुआ इस समस्त संसार को अपनी परमेश्वरता का विलास ही समझ

१६—देखिए पीछे अध्या.६,अङ्क ७।

लेता है। ऐसा समझने से वह संसार के बन्धनों में नहीं फंस जाता। इन्द्रजाल के तत्त्व को जानने वाले मानव को मदारी का खेल देखते हुए भी कभी मोह नहीं होता। वह उसे खेल ही समझता हुआ उससे केवल अपना आनन्द ही ले लेता है। उसी तरह से ज्ञानवान पुरुष इस संसार को आत्म परमेश्वर नामक महान् मदारी का खेल जैसा ही समझता हुआ इसके अनुकूल या प्रतिकूल दृश्यों से प्रभावित नहीं होता[१७]। शीत–उष्ण, क्षुधा–पिपासा, सुख–दुःख, आश्चर्य, घृणा, हास, क्रोध आदि भावों का अनुभव उसे होता तो है, क्योंकि ऐसा अनुभव होना इन्द्रियों, प्राणों और अन्तःकरणों के सम्बन्ध से अनिवार्य होता है। परन्तु सांसारिक घटनाओं का गहरा प्रभाव उसके हृदय पर पड़ता नहीं। घटनाएं घटती हैं। एक ओर से आती हैं और दूसरी ओर को चली जाती हैं। वह क्षण भर उनका अनुभव करता हुआ उनके कारण हर्ष–शोक आदि के संवेदन का पात्र बन जाता है । परन्तु उन घटनाओं या उनसे होने वाले हर्ष–शोक आदि का प्रभाव उसके अन्तः करण में जड़ें नहीं जमा सकता। जब तक प्रारब्ध कर्म के अनुसार उसका शरीर ठहरता है, तब तक वह इस संसार रूपी महानाटक के दृश्यों का आस्वाद लेता हुआ लोकव्यवहार को भी चलाता रहता है। साथ ही अधिकारी साधकों को मोक्ष का मार्ग दिखाता हुआ उन पर अनुग्रह भी करता रहता है। यह उसकी जीवन्मुक्ति की दशा कहलाती है। शरीर को छोड़ देने के अनन्तर ऐसा महापुरुष परिपूर्ण शिवभाव के साथ प्रायः सर्वथा एक हो जाता है[१८]। एक क्या हो जाता

१७–तदेवं व्यपोहिते व्यामोहे,स्थितेऽपि तत्संस्कारमात्रविधृते शरीरादौ, अनात्मताभिमानपुरःसर एवात्मताभिमाने, घटादौ च प्रकाशमान एवानात्मताभिमाने, ज्ञातेन्द्रजालतत्त्वस्य पश्यतोऽपीन्द्रजालं यथा न तत्त्वतो व्यामोहस्तथा प्रत्यभिज्ञातात्मस्वरूपस्य । (ई.प्र.वि.२–३–१७)

१८–(क) ततो निवृत्ते, प्रयाणप्रापितपर्यन्ते देहे परमेश्वरतैव। (तदेव २–३–१७)

(ख) देहपाते तु परमेश्वर एवैकरस इति कः कुत्र समाविशेत् । (तदेव ३–२–१२)

है ? स्वभावतः उसके साथ एक होता हुआ ही कल्पित भेद को सर्वथा मिटा देता है। इस तरह से भेद का सर्वथा मिट जाना ही अशरीर मुक्ति या विदेह मुक्ति कहलाती है।

मुक्तशिव

कभी–कभी ऐसे महापुरुष को इस मर्त्यदेह को छोड़ देने के अनन्तर दिव्य सूक्ष्म शरीर अथवा दिव्यातिदिव्य शुद्ध सत्त्वात्मक शरीर मिल जाता है। उस शरीर में चिरकाल तक ठहरते हुए उसे ईश्वर की इच्छा के अनुसार संसार पर निग्रह और अनुग्रह की लीला को चलाना होता है। उसे चिरकाल तक चलाने के अनन्तर, अन्ततोगत्वा, उसका वह शरीर भी जब छूट जाता है, तब वह परिपूर्ण अभेद में विलीन हो जाता है। यह दिव्य शरीरों वाली उत्कृष्ट जीवन्मुक्ति बहुत ही अधिक आनन्दप्रद हुआ करती है। इस दशा में प्राणी सृष्टि, स्थिति, संहार आदि पारमेश्वरी क्रीड़ाओं का अंशतः उपभोग करता हुआ अपने वास्तविक स्वभाव के आनन्द के चमत्कार का पर्याप्त अनुभव करता रहता है। ऐसा कर लेने पर उस सिद्ध पुरुष को अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता पर सर्वथा पक्का विश्वास हो जाता है। ऐसे मुक्त प्राणियों को मुक्तशिव कहा करते हैं। ये मुक्तशिव तीन श्रेणियों के हुआ करते हैं। शैव शास्त्र भी वस्तुतः तीन प्रकारों का है। भगवान् शिव ने इस शास्त्र को भेद, भेदाभेद और अभेद, इन तीन दृष्टिकोणों का आश्रय लेकर ही संसार के विविध अधिकार वाले प्राणियों के हित के लिए प्रकट किया है। अतः साधक गण अपने–अपने अधिकार के अनुसार इन तीन में से किसी एक दृष्टिकोण का आश्रय लेकर साधना करते हैं। साधना के सफल अभ्यास से सिद्ध बनकर भी वे अपने–अपने दृष्टिकोण को प्रायः बनाए ही रखते हैं। भेददृष्टिप्रधान सिद्ध शिव कहलाते हैं। ये विद्येश्वर श्रेणी के सिद्ध होते हैं। मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर श्रेणियों के भेदाभेद दृष्टि वाले सिद्ध रुद्र कहलाते हैं। अभेद दृष्टिप्रधान सिद्ध भैरव कहलाते हैं। ये अकल भूमिका के सिद्ध होते हैं[१६]। भेदनिष्ठ और भेदाभेदनिष्ठ मुक्तशिवों को भी

१६–इत्थं तन्त्रं रुद्रशिवभैरवाख्यं स्थितं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।।
भेदाभेदेन भेदेन तथा चाभेदसन्धिना।। (मा.वि.वा.१–३६१,६२)

परिपूर्ण मोक्ष की प्राप्ति के लिए अभेदनिष्ठ अकल प्राणियों, अर्थात् भैरवों के अनुग्रह की अपेक्षा रहती है। उस अनुग्रह के प्रभाव से ही इनका दृष्टिकोण बदल जाता है। तभी वे परिपूर्ण अभेद के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं।

देहस्थ शिव

मर्त्य शरीरों के होते हुए ही कभी–कभी किसी–किसी साधक में सृष्टि–संहार आदि की आंशिक शक्ति अभिव्यक्त हो उठती है। उस शक्ति के सक्रिय अनुभव से उसे मर्त्य शरीर में रहते हुए ही ज्ञान और विज्ञान की प्राप्ति हो जाने से अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता पर पूरा विश्वास हो जाता है। ऐसे सिद्धजन मर्त्य शरीरों में रहते हुए ही मुक्तशिवों के तुल्य बन जाते हैं। इन सिद्धों की यह जीवन्मुक्ति अतीव आह्लादप्रद होती है। इस दशा में ये सिद्धजन अपने वर्तमान शिवभाव को अपने प्राक्तन जीवभाव के साथ तोल लेते हैं। उससे शिवभाव का चमत्कार अधिक बढ़ जाता है। नागार्जुन नामक किसी शैव आचार्य की चित्तसन्तोष त्रिंशिका में इस तुलना का सुन्दर वर्णन मिलता है। इस प्रकार के इन पारमेश्वरी शक्ति से सम्पन्न जीवन्मुक्तों में से कोई–कोई सिद्ध प्रारब्ध की समाप्ति पर वर्तमान शरीर को छोड़कर विदेहमुक्त हो जाते हैं। कोई पूर्ववर्णित दिव्य शरीरों को प्राप्त करके मुक्तशिव बन जाते हैं। कोई मानव शरीरों में ही चिरञ्जीवी बनकर चिरकाल तक टिके रहते हैं और अनुग्रह तथा निग्रह द्वारा लोककल्याण करते रहते हैं। अद्वैत शैवदर्शन के मुख्य प्रवर्तक महामुनि भगवान दुर्वासा भी ऐसे ही चिरञ्जीवी हैं। वे ही काश्मीर शैव दर्शन के प्रथम उपदेशक हैं। अति प्राचीन काल में उन्होंने ही भगवान् श्रीकृष्ण को शाम्भव दर्शन के सिद्धान्तों और उपासना रहस्यों का उपदेश किया था। उसी के फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से गीता का उपदेश हुआ । वर्तमान काल के इस घोर कलियुग में भी भगवान् दुर्वासा योग्य पात्रों पर अनुग्रह करते ही रहते हैं। भगवान् दत्तात्रेय, परशुराम आदि श्रीविद्या के उपदेशक महापुरुष भी ऐसे ही जीवन्मुक्त चिरञ्जीवी हैं । इन चिरञ्जीवी महापुरुषों की महिमा भी लगभग मुक्तशिवों की जैसी ही होती है । इन सभी चिरञ्जीवियों और मुक्तशिवों को मुक्ति के आस्वाद के साथ–साथ मुक्ति का आस्वाद भी

प्राप्त होता रहता है। वे अपने ऐश्वर्य के उपभोग के साथ ही साथ शिवभाव की अनुभूति रूपी मुक्ति का आस्वाद लेते रहते हैं। वेदान्त शास्त्र और पातञ्जल योगशास्त्र में ऐश्वर्य की मुक्ति को मुक्ति के प्रति विघ्न और बाधा कहा गया है। परन्तु शैव दर्शन में इसे मुक्ति के उत्कृष्ट उपायों में ही गिना गया है।

विदेह मुक्ति

समस्त चिरञ्जीवी और सारे के सारे मुक्तशिव भी अन्ततोगत्वा अपने अदिव्य और दिव्य शरीरों को छोड़कर विदेह मुक्त हो जाते हैं। जीवन्मुक्ति में अपने ऐश्वर्य का अंशतः आस्वाद आ सकता है, परन्तु विदेह मुक्ति में अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के विषय में सतत गति से चलते हुए पांचों पारमेश्वरी कृत्यों के ऐश्वर्य के आस्वाद का असीम चमत्कार होने लग जाता है। वह चमत्कार सर्वतः,सर्वदा और सर्वथा असीम और परिपूर्ण होता है। उसका वर्णन कौन कर सके? उसकी उपमा किससे दी जा सके? उसका अनुभव करने वाला तो एकमात्र स्वयं परिपूर्ण परमशिव ही होता है। मुक्तशिवों के ऐश्वर्य के साथ उसकी तुलना करना तो उसका महान् अपमान ही करना होगा। कहां जगदानन्द के चमत्कार का विशालतम और असीम समुद्र और कहां उसे समुद्र की लहरों से छिटकने वाली बूंदें[२०]। तो इस प्रकार की असीम तथा परिपूर्ण चमत्कार से भरी हुई विदेह मुक्ति को पाना ही जीवन का चरम लक्ष्य होता है। प्रत्येक प्राणी को किसी न किसी समय इस लक्ष्य तक पहुंचकर ही कृतकृत्य हो जाना होता है । स्वयं परमेश्वर ही तो अपने विलास की क्रीड़ा के पूर्वाङ्ग में जीवभाव में प्रकट हुआ है, तो इसी क्रीड़ा के उत्तराङ्ग में उस ने जीवन के इस चरम लक्ष्य पर पहुंच ही जाना है। तभी तो उसकी यह क्रीड़ा पूरी हो सकती है।

शक्तिपात

कौन प्राणी किस समय किस प्रकार से साधना के मार्ग में प्रवृत्त

२०—ते तु यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिरीश्वरीभूताः स भगवाननवच्छिन्नप्रकाशा—नन्दस्वरूपस्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः। (ई.प्र.वि१—१—१)

होवे, तथा इस मार्ग पर किस प्रकार की और कितनी तीव्र गति से चले, कौन साधक किस समय, किस प्रकार से, जीवन के इस चरम लक्ष्य पर पहुंच जाए, यह सब कुछ स्वयं परमशिव के ही बस की बातें हैं। परमशिव जिसे जैसी अन्तःप्रेरणा करे, वह वैसे ही चलता है। उसकी इस अन्तःप्रेरणा को शक्तिपात कहते हैं[२१]। मुख्यतया शक्तिपात के तीन प्रकार होते हैं–तीव्र, मध्य और मन्द। फिर तीव्र के तीव्र–तीव्र, मध्य–तीव्र और मन्द्र–तीव्र, ये तीन प्रकार बनते हैं। इसी तरह से मध्य और मन्द के भी तीन–तीन प्रकार बनते हैं। इन नौ में से प्रत्येक की गति त्वरित, मध्यम और मन्द होती है। उस गतिभेद के कारण शक्तिपात के सत्ताईस प्रकार बन जाते हैं। उनमें भी अनन्त–अनन्त प्रकार का वैचित्र्य होता है। तभी तो यह संसार की लीला अतिविचित्र बनी हुई है। शक्तिपात के इन अनन्त वैचित्र्यों के विषय में परमशिव सर्वथा स्वतन्त्र हैं। वे किसी भी कारण के या नियम के अधीन नहीं। तभी तो परमेश्वर हैं। यदि उन्हें नियम के अधीन रहना पड़ता, तो परमेश्वर काहे के होते[२२]। उनकी पराद्वैत दृष्टि में कोई भी प्राणी उनसे भिन्न नहीं। सब कोई वे स्वयं ही तो हैं। स्व और पर, ऐसा विभाग उनकी दृष्टि में नहीं। अतः उनके इस स्वतन्त्र शक्तिपात में वैषम्य, नैर्घृण्य, पक्षपात आदि के दोष नहीं आते। ऐसा आ.

२१–(क) स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिवः शक्तेः पातयिता,
इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः।
(तं.सा.पृ.११८)

(ख) तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
(मा.वि.वा.१–६६८)

(ग) शक्तिपातात् सद्गुरुविषया पिपासा भवति ।
असद्गुरुविषयायां तु तिरोभाव एव। असद्गुरुतस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव।
(तं.सा.पृ.१२२)

२२–इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी।
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता।। (मा.वि.वा.१–६६८)

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त है[२३]। अन्य शास्त्रों में शक्तिपात के कई एक कारण माने गए हैं। परन्तु वे उनका खण्डन करते हुए परमशिव के पूर्ण स्वातन्त्र्य को ही ठहराते हैं[२४]। तो शक्तिपात करने में शिव सर्वथा स्वतन्त्र है। अपनी इच्छा के अनुसार अनन्त रूपों में अनन्त प्रकारों से अनन्त वैचित्र्य का प्रदर्शन करते हुए परमेश्वर ही सदैव इस बन्ध–मोक्ष की क्रीड़ा का अभिनय अनन्त रूपों में करते रहते हैं। यही उनकी परिपूर्ण परमेश्वरता है, जो उनका अपना नैसर्गिक स्वभाव है।

अन्य शास्त्रों के अभ्यास से प्राप्त होने वाली मुक्ति शैव दर्शन की दृष्टि में पारमार्थिक मुक्ति नहीं होती। वह तो व्यावहारिक और स्वल्प काल तक ठहरने वाली मुक्ति होती है। यदि कहीं चिरस्थायिनी भी हो, फिर भी वह किसी–किसी ही मल से मुक्ति होती है, सर्वतः मुक्ति नहीं होती। पारमार्थिक और परिपूर्ण मुक्ति तो एकमात्र सैद्ध दर्शन के अद्वैत सिद्धान्त के यथार्थ ज्ञान से तथा सैद्ध–योग की सफल उपासना से हुआ करती है। जो साधक अन्य शास्त्रों में ही रुचि रखते हैं, वे माया के प्रभाव से अमोक्ष को ही मोक्ष समझते हुए मध्यभूमि में ही कुछ समय के लिए टिके रहते हैं[२५]। वहां से वे या तो पुनः संसरणशील मर्त्यसंसार को लौट आते हैं, या किसी मुक्तशिव के अनुग्रह से उस मध्य भूमिका से ही ऊपर

२३–न च वाच्यं कस्मात् कस्मिंश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति । स एव परमेश्वरस्तथा भातीति सतत्त्वे कोऽसौ पुमान् नाम यदुद्देशेन विषयकृता चोदनेयम् ।। (तं.सा.पृ.११६)

२४–अनिमित्तस्तथा चायं शक्तिपातो महेशितुः।।
तेन रागक्षयात् कर्मसाम्यात् सुकृतगौरवात्।
मलपाकात् सुहृद्योगाद् भक्तेर्भावाच्च सेवनात्।।
अभ्यासाद्वासनोद्भेदात् संस्कारपरिपाकतः।
मिथ्याज्ञानक्षयात् कर्मसन्न्यासात् काम्यविच्युतेः।।
साम्याच्चित्तस्य सा शक्तिः पततीति यदुच्यते।
तदसन्ननु तत्रापि निमित्तान्तरमार्गणात्।।
अनवस्थातिप्रसङ्गसम्भवाभावयोगतः।
अन्योन्याश्रयनिःश्रेणिचक्रकाद्युपपाततः।।
(मा.वि.वा.१–६८८ तः६९२)

संक्रमण करते हैं। इन दोनों प्रकार की गतियों के प्रति प्ररेणा भी शिव के शक्तिपात पर ही निर्भर रहती है।

सुषुप्ति वाली मुक्ति

न्याय वैशेशिक दर्शनों की अपवर्ग नामक मुक्ति में जीव को ज्ञान, सुख–दुःख, इच्छा–द्वेष, प्रयत्न, धर्म–अधर्म आदि के प्रति सामर्थ्य तो रहता है, परन्तु उसे इनके प्रति प्रवृत्ति के न होने के कारण उसमें इनका उदय ही नहीं होता। वह सर्वथा तटस्थ होकर शून्य गगन की तरह जड़तुल्य बना–सा पड़ा रहता है। वह प्रवृत्ति का परित्याग करता है, सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाता है और कोई भी क्रिया नहीं करता[२६]। शैव दर्शन की दृष्टि में सुख–दुःख आदि के प्रति योग्यता का आधार बुद्धि तत्त्व होता है। अतः अपवर्ग के भागी जीव प्रायः बुद्धि तत्त्व में ही पड़े रहते हैं। उन्हें तो अपनी शुद्ध प्रकाशरूपता का भी स्फुट आभास नहीं होता। उनकी यह दशा सुषुप्ति अवस्था की एक निचली भूमिका हो सकती है। सांख्य योग की कैवल्यदशा में ठहरे हुए प्राणियों में केवल अपनी चेतना का अस्फुट सा ही आभास माना गया है। उन्हें स्फुट रूप में "अहं" का भी आभास नहीं होता। न ही उनमें कुछ जानने या करने ही की शक्ति अभिव्यक्त होती है। वे बुद्धि के विविध परिणामों के प्रति अपने साक्षीपन से छूटकर सर्वथा तटस्थ और उदासीन होकर अकेलेपन की शान्ति की अवस्था में पड़े रहते हैं [ख]। अतः यह कैवल्य नाम की मुक्ति भी जड़ता जैसी ही कोई शून्य गगन की सी अवस्था सिद्ध होती है। तो इसे भी सुषुप्ति अवस्था की ही

२५–भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।
(तं.आ.खं.१ पृ.५४)

२६–(क) अपवर्गस्त्यागमोक्षयोः क्रियावसाने साकल्ये इति हैमः।

(ख) अशेषविशेषगुणध्वंसावधिकंदुःखप्रागभावो वा मुक्तिः।
(वै.द.उप.१–१–४)

(ग) यदि निरवधेर्दुःखस्यान्तं चिकीर्षसि सर्वथा।
परिहर मनोवाक्कायानां प्रवृत्तिमनर्गलाम्।। (न्या.मं.१–१–१७)

(घ) देखिए पीछे अध्या.४,अङ्क ७ ख।

एक अवान्तर भूमिका माना जा सकता है। बौद्धों की निर्वाण दशा तो सर्वथा ही अपवेद्य सुषुप्ति को कह सकते हैं। इन तीनों प्रकारों की मुक्ति के भागी प्राणी सुषुप्त दशा में प्रलयाकल बनकर पड़े रहते हैं। अतः तब तक इसी दशा में पड़े रहते हैं, जब तक सारी गुणमयी सृष्टि मूल प्रकृति में विलीन हो जाती है। उस समय भी ये पुरुष तत्त्व में पड़े रहते हैं। जितनी आयु इस गुणमयी सृष्टि की होती है, उतनी ही आयु इसके प्रलय की भी होती है। इन दोनों आयुओं को भगवान् श्रीकण्ठनाथ का दिन और उनकी रात माना जाता है। तो अपनी पूरी रात को बिताकर जब भगवान् श्रीकण्ठनाथ अपने नए दिन के आरम्भ में नई गुणमयी सृष्टि के प्रति प्रकृति तत्त्व में पुनः क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, तो ये अपवर्ग, कैवल्य और निर्वाण नामक मुक्ति के भागी प्रलयाकल प्राणी भी उस सुषुप्ति में से निकल आते हैं और अपनी प्राक्तन कर्म वासनाओं के अनुसार नई सृष्टि में पुनः जन्म और मरण के चक्कर में प्रविष्ट होकर सकल नामक प्राणियों की अवस्था पर ही उतर आते हैं[२८]। कैवल्य दशा में जीव प्रकृति के संसर्ग को छोड़कर अकेलेपन में पड़ा रहता है। उसमें ज्ञानक्रिया के सामर्थ्य भी नहीं रहते। जड़ सा बना रहता है। उसकी चेतना भी केवल नाम की ही चेतना होती है, काम की नहीं। निर्वाण बुझने को कहते हैं। बौद्धवाद के अनुसार निर्वाण की दशा में जीव कहलाने वाली आलयविज्ञान की ज्योति का प्रवाह बुझ ही जाता है[२९]। वस्तुतः वह

२७–दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।।
सम्यज्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमविद्धृतशरीरः।।
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।। (सां.का.६६ तः६८)

२८–सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी।। (तं.आ.६–१५२)

२९–एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिंनं गच्छति मान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।
(सौं.न.१६–२६)

शून्यभाव में विलीन होकर पुरुषतत्त्व के रूप में ठहरने लगता है[३०]। इसीलिए इस दशा को शून्य प्रलयाकलों की अपवेद्य सुषुप्ति कहा जा सकता है। तो इन तीनों प्रकारों की यह मुक्ति किसी नियत समय तक ही ठहरने वाली मुक्ति होती है, चिरस्थायिनी नहीं होती। फिर केवल कला तत्त्व और उसके विकारों से ही ये प्रलयाकल मुक्त रहते हैं, आणव आदि मलों से नहीं। अतः इस मुक्ति को न ही सर्वदा के लिए मुक्ति कहा जा सकता है और न ही सर्वतः तथा सर्वथा मुक्ति इसे कह सकते हैं।

मुक्ति का आभास

शान्त ब्रह्मवाद, या अजातवाद नामक अद्वैत वेदान्तवाद के उपासक प्राणी ब्रह्म निर्वाण नामक मुक्ति में प्रायः विज्ञानाकल दशा को प्राप्त करके वहीं टिके रहते हैं। उनकी इस मुक्ति में जीवभाव बुझकर सर्वथा अभावरूप या शून्यरूप नहीं बनता। वह ब्रह्मभाव में विलीन हो जाता है। परन्तु उनका ब्रह्मभाव शैव दर्शन के ब्रह्मभाव से सर्वथा भिन्न होता है। शैव दर्शन में ब्रह्मभाव उस स्थिति को कहते हैं, जो विकासशील और सृष्टि संहारशील है। उसका स्वभाव "बृंहण" भी होता है, केवल "बृहत्" ही नहीं [३१]। परन्तु वेदान्त का ब्रह्म शान्त और निष्क्रिय होता है। अतः वह किसी भी वस्तु का "बृंहण" नहीं कर सकता।

३०–(क) अवस्था युगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम्।।
कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्रलुप्यते।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते।
(स्पं.का.१४,१५)

(ख) तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः।। (तदेव २५)

३१–अन्तर्गतविश्ववीर्यसमुच्छलत्तात्मकविसर्गविश्लेषानन्दशक्त्येकघनं ब्रह्म,बृहद्,व्यापकं, बृंहितं च। न तु वेदान्तपाठकाङ्गीकृतकेवल–शून्यवादाविदूरवर्तिब्रह्मदर्शन इव। (प.त्री.वि.पृ.२२१)

"बृह्" धातु का अर्थ वृद्धि होता है। वृद्धि से तात्पर्य जगत् सृष्टि है। वेदान्त में ब्रह्म असीम चेतना के अपरिमित प्रकाशमात्र को कहते हैं। उसमें किसी भी प्रकार की क्रिया, स्पन्द या ऐश्वर्य नहीं होता। वह आकाशवत् सर्वथा शान्त होता है[३२]। शैव दर्शन की दृष्टि में इस प्रकार का ब्रह्म बौद्धवाद के शून्य के अधिक समीप का पदार्थ हो सकता है। शून्य संकुचित प्रकाश को कहते हैं। परन्तु वेदान्त का ब्रह्म अपरिमित प्रकाशमात्र होता है। विमर्शात्मक क्रिया से शून्य होता हुआ वह ऐश्वर्यहीन होने के कारण परमेश्वरभाव की अपेक्षा शून्यभाव के ही अधिक समीप आ जाता है। उस क्रियाशक्ति से रहित प्रकाशमात्र को महाशून्य कहा जा सकता है। तो इस क्रियाशक्तिहीन और जड़तुल्य प्रकाशमात्र की यह अवस्था तुर्या के उदय की प्रारम्भिक भूमिका की दशा हो सकती है। उस तुर्या को सुषुप्ति के संस्कार को धारण करने वाली तुर्या माना जा सकता है। ब्रह्मनिर्वाण की दशा में ठहरने वाले जीव ऐश्वर्यहीनता के कारण एक प्रकार के आणवमल के पात्र बने ही रहते हैं। स्फुट मायीयमल इनमें नहीं होता। इन्हें विज्ञानाकलों में गिना जा सकता है। दाक्षिणात्य शैवशास्त्रों में इन विज्ञानाकलों को भी बद्ध जीवों में ही गिना गया है[३३]। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में तुर्या दशा यहीं से आरम्भ होती है। फिर कार्ममल से छूटे रहने के कारण ये जीव संसृति के चक्कर में पुनः नहीं भटकते। तुर्या

३२–ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम्।।
(गौ.पा.का.३–३८)

३३–विज्ञानाकलनामैको द्वितीयः प्रलयाकलः।
तृतीयः सकलः शास्त्रेऽनुग्राह्यस्त्रिविधो मतः।
(स.द.सं.पृ.७०)

दशा की आंशिक अनुभूति के प्रभाव से प्रायः पुनः नीचे नहीं आते[३४]। अतः महामाया के निचले स्तर में ही चिरकाल तक पड़े रहते हैं। हां, शिव की इच्छा के अनुसार किसी ऊपर की श्रेणी के प्राणी के अनुग्रह से कभी भेदाभेद की भूमिका पर आरोहण भी कर जाते हैं[३५]। यद्यपि ये प्राणी सकल प्राणियों के जैसे बन्धन में नहीं रहते, फिर भी ऐश्वर्यहीनता के कारण जडतुल्य से बने रहते हैं और इसी कारण से आणवमल के पात्र बने रहते हुए सर्वथा मुक्त नहीं रहते । इन्हें पारमार्थिक मुक्ति की ओर जाने वाले जीव माना जा सकता है।

प्राचीन भागवत, पाशुपत आदि दर्शनों के उपासक विद्येश्वर भूमिका को प्राप्त कर सकते हैं। यह भूमिका भी आंशिक मुक्ति की ही भूमिका होती है। इस भूमिका के इन प्राणियों में भेददृष्टि का मायीयमल तो बना ही रहता है। उस मल से मुक्त न होने के कारण इन प्राणियों की मुक्ति भी सर्वतः मुक्ति नहीं होती। परन्तु ये प्राणी उच्चस्तर की महामाया में ही ठहरते हैं[३६]। माया में पुनः नहीं उतर आते। अपि तु शुद्धविद्या में उत्तरोत्तर आरोहण ही करते रहते हैं। शुद्धविद्या के उच्चतर प्राणी अर्थात् मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर तो उत्कृष्टतर

३४–आणवमायामलौ तु यद्यपि न कारणं संसारे, तथापि कार्मेण विना तौ देहादिविचित्रभावाभिनिर्वर्तनशक्तिशून्यौ विज्ञानाकलादिषु।
(ई.प्र.वि.३–२–१०)

३५–(क) विज्ञानकेवलानष्टो बोधयामास पुद्गलान्।
(मा.वि.तं.१–१६)

(ख) मन्त्रमन्त्रेश्वरेशत्वे सन्नियोज्य ततः पुनः। (तदेव १–२१)

(ग) विज्ञानकेवली प्रोक्तः शुद्धचिन्मात्रसंस्थितः।।
स पुनः शाम्भवेच्छातः शिवाभेदं परामृशन्।
क्रमान् मन्त्रेशतन्त्रेतृरूपो याति शिवात्मताम्।।
(तं.आ.६–६२,६३)

३६–(क) बोधानामपि कर्तृत्वजुषां कार्ममलक्षतौ।
भिन्नवेद्यजुषां मायामलो विद्येश्वराश्च ते।।
(ई.प्र.३–२–६)

(ख) भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा।। (तदेव ३–१–६)

समावेशात्मक मुक्ति के आनन्द में मस्त रहते हैं। उनकी मुक्ति में भेदावभास का अंश रहता ही है। अतः अकल प्राणियों की अपेक्षा उनकी मुक्तिदशा में ज़रा भर सी न्यूनता रहती है। अकल प्राणियों की दशा तो विदेहमुक्ति के लगभग तुल्य प्रकार की होती है। अकल दशा पर पहुंचकर ही परमशिव अपनी परमेश्वरता की क्रीड़ा के दोनों अङ्गों को पूरी तरह से खेलकर सर्वथा कृतकृत्य सा हो जाया करता है। द्वैताद्वैत शैव दर्शनों के उपासक प्राणी चिरकाल तक मन्त्रेश्वरों और मन्त्रमहेश्वरों की अवस्था में ठहरकर शिव समावेश के आनन्द का उपभोग करके अकल दशा पर आरोहण करते हैं। अद्वैत शैव दर्शन के उपासक शाम्भवयोग के अभ्यास के द्वारा सीधे ही अकल दशा में प्रवेश कर जाते हैं। इन प्राणियों की मुक्ति को सर्वथा और सर्वतः तथा सर्वदा परिपूर्ण मुक्ति कहा जा सकता है। उनकी मुक्ति में अंशतः भी न्यूनता नहीं रहती। उस दशा में इन्हें अपने ऐश्वर्य का, स्वातन्त्र्य का, शुद्ध प्रमातृत्व का और पराद्वैतभाव का साक्षात् स्फुट चमत्कार होता रहता है। ये प्राणी जब कभी परिपूर्ण परमशिव में उसी की इच्छा के अनुसार विलीन हो जाते हैं, तो सर्वथा विदेहमुक्ति को पा जाते हैं। उससे पहले भैरव नाम के मुक्तशिव ही बने रहते हैं। विदेहमुक्ति में तो सर्वथा परिपूर्ण परमशिव ही मानो हो जाते हैं।

वैष्णवों और द्वैतप्रधान शैवों की सालोक्य, सायुज्य आदि मुक्ति में मुक्त प्राणियों के शरीर भी होते हैं, और इन्द्रियाँ भी, अन्तः करण भी, विषय भी, भोग भी और लोक भी होते ही हैं। अतः उस मुक्ति को मुक्ति नहीं कहा जा सकता। उसे एक उत्कृष्ट प्रकार की मुक्ति कहा जा सकता है। ये दशाएं उत्कृष्टतर स्वर्गसुख की दशाएँ हो सकती हैं। जैन दर्शन के तीर्थङ्करों का अलोक आकाश और उस आकाश का सिद्धशील नामक उच्चतम भाग भी एक शुद्धलोक ही हो सकता है। शरीर, विषय, अन्तःकरण आदि वहां भी होते ही हैं । व्यवहार भी होता ही है। अतः उस सिद्धशील आकाश में निवास करना भी एक शम प्रधान स्वर्गलोक में वास करने के ही समान हो सकता है। तो इस वास

(ग)–तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वान्महामायेयंश्रीरौरवादिगुरुभिरुपदिष्टा।
(ई.प्र.वि.३–१–६)

की दशा भी मुक्ति न होकर भुक्ति ही हो सकती है। इन्द्र आदि देवताओं के स्वर्गलोक तथा वैकुण्ठलोक, रुद्रलोक, सिद्धशील आदि स्थान स्वप्न सृष्टि के भिन्न–भिन्न स्तर सिद्ध होते हैं । इन लोकों में कुछ समय के लिए निवास करके भी पुनः मर्त्यलोकों में ही जन्म लेना पड़ता है। अतः इन लोकों की प्राप्ति को भुक्ति ही कह सकते हैं, मुक्ति नहीं।

१२
शैव–धर्म

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, काश्मीर शैव दर्शन एक शुद्ध आगमिक दर्शन है और अपनी आगमिकता को स्पष्टतया निभाता है। उसे वैदिक रंग में नहीं रंगता। परन्तु ऐसा होता हुआ भी यह दर्शन वेद से विरोध नहीं करता है। इस दर्शन की दृष्टि में लोकधर्म के विषय में वेद ही सब से बड़ा प्रमाण हे। शैव दर्शन के अनुसार हमें गर्भाधान संस्कार से लेकर विवाह संस्कार तक के सभी धार्मिक कार्य वैदिक रीति से ही अवश्य करने चाहिएँ। कुलधर्मों और जातिधर्मों का अनुष्ठान भी वैदिक विधान ही के अनुसार किया जाना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था भी वेदविहित ढंग से ही की जानी चाहिए। संक्षेपतः पारिवारिक, सामाजिक, प्रशासनिक आदि क्षेत्रों में शैव आचार्यों ने वैदिक धर्म की ही सराहना की है। अतः शैव दर्शन वर्ण–आश्रम–धर्म का समर्थक है। परन्तु इस दर्शन की दृष्टि में वैंदिक धर्म के द्वारा बहुत अधिक आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं। उसके लिए शैव साधना अधिक उपयुक्त हो सकती है। वेदोक्त दर्शन सिद्धान्त भी शैव दृष्टि में प्रायः निचले स्तर के ही अधिकारियों के योग्य है, उत्तम अधिकारियों के योग्य नहीं। इस दर्शन के अनुसार वैदिक धर्मप्राणी के अधिक से अधिक पुरुष तत्त्व तक ले जा सकता है।[१] फिर शैव आगमों में यह भी कहा गया है, कि साधक को वैदिक धर्म का अनुष्ठान लोक संग्रह ही के लिए करना चाहिए, मुख्यतया नहीं करना चाहिए।[२] वैदिक धर्म से प्राप्य स्वर्ग आदि तो वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों की दृष्टि में भी तुच्छ ही वस्तुएँ हैं।

१–बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वप्यार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेदविदः पुम्सि त्वव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः।।
(तं.आ.खं.४,पृ.१३१)

२–न मुख्यवृत्त्या वै स्कन्दलोकधर्मान् समाचरेत्।
(तदेव खं. ३,पृ.२७६)

बाह्य–पूजा

शैवी जनता में प्रायः वैदिक यज्ञ याग आदि की अपेक्षा शिवपूजन अधिक प्रचलित है। शैव लोग शिव और शक्ति की, गणेश और कुमार की तथा नन्दी आदि गणों और भैरवों की प्रतिमाओं का तथा शिवलिंग और पार्थिवेश्वर का पूजन अधिक करते हैं। सिन्धु घाटी के प्राचीनतम शैव भी इनका पूजन किया करते थे। शिवपूजा की प्रचलित पद्धतियां अंशतः वैदिक हैं और अंशतः आगमिक। उनके विधान तो आगमिक हैं, परन्तु मन्त्र प्रायः वैदिक हैं। शिवपूजा के इस क्रम की पर्याप्त लोकप्रियता शैवधर्म कहलाता है। शैवधर्म में पूजा के अतिरिक्त षडक्षर शिवमन्त्र के जप का, रूद्राक्ष और भस्म त्रिपुण्ड्र को धारण करने का, शिवस्तोत्रों के पाठ का तथा कीर्त्तन, नर्त्तन आदि का भी विशेष महत्त्व है काश्मीर शैव तो लोकधर्म में पूरे वैदिक और उपासना धर्म अर्थात् पूजा–पाठ जप आदि में पूरें शैव होते है। परन्तु उनकी अन्तः साधना शुद्ध आगमिक ही होती है। दक्षिण के लिङ्गायत वीर शैव तो लोकधर्म के विषय में भी अनेकों अवैदिक परम्पराओं का अनुसरण करते हैं। वे वर्ण आश्रम धर्म को नहीं मानते हैं। उनमें आगमिक रहस्य साधनाओं का भी उतना अधिक प्रचार नहीं है, जितना लिंगपूजा आदि बाह्य साधनाओं का। वे छोटे–छोटे शिवलिंगों को सदा पहनकर ही रखते हैं। उनकी अन्त्येष्टि क्रिया भी आर्य परम्परा का अनुसरण नहीं करती है। दक्षिण देश के कापालिक शैवों का धार्मिक आचार तो सर्वथा ही वेदविरूद्ध होता है पाशुपतों की निष्ठा शिवपूजन, भस्ममर्दन, रूद्राक्षधारण, लोकभाषामय भजन–कीर्त्तन, तथा शैव सन्तों के पूजन आदि में ही होती है।

काश्मीर शैवों की अन्त्येष्टि क्रिया में तथा आगे के सभी पितृकार्यों में वैदिक क्रियाकलाप के अतिरिक्त अनेकों कृत्य तांत्रिक विधान के अनुसार किये जाते हैं। काश्मीर शैव वेदोक्त क्रियाकलाप के फल को तुच्छ समझते हुए भी उसे हेय नहीं ठहराते हैं। उनके विचार में यदि जीव वैदिक धर्म के अनुष्ठान के द्वारा इस मर्त्य संसार से ऊपर उभर उठे, तो आगे स्वर्ग आदि लोकों में दिव्य शरीरों के द्वारा शैवी साधना में शीघ्र प्रगति कर सकता है। इस तरह से वेदान्तियों की अपेक्षा काश्मीर शैव वैदिक कर्मकलाप के अधिक पक्षपाती होते हैं। महाराष्ट्र के नाथ

सम्प्रदाय, दक्षिण के श्रीकण्ठमत और कश्मीर के शैवशास्त्र के अनुयायियों में श्रीविद्या का प्रचार भी है। इन सम्प्रदायों के अनेकों साधक श्रीविद्या की दीक्षा लेते हैं। कोई–कोई श्रीचक्र की पूजा भी करते हैं। परन्तु केवल किसी एक महाविद्या के किसी मन्त्र के ही द्वारा उपासना करने वाले इनमें बहुत होते हैं। शैव दर्शन के रहस्यमय योग की साधना से पहले श्रीविद्या के किसी मन्त्र की दीक्षा को प्रायः आवश्यक समझा जाता है। उन मन्त्रों की देवियों के स्थान तो कश्मीर में जगह–जगह पाये जेते हैं। कश्मीर में प्रत्येक घर की एक कुलदेवी होती है। उसकी विशेष उपासना उस घर में की जाती है। इन देवियों में से अधिक प्रसिद्ध श्री महाराज्ञी, श्रीशारिका और श्रीज्वालामुखी हैं। श्रीशैलपुत्री, श्रीत्रिपुरा, श्रीकाली, श्रीबाला, श्रीत्रिपुरसुन्दरी, श्रीशिवा, श्रीभद्रकाली, श्रीभुवनेश्वरी और श्रीशारदा भी काफी प्रसिद्ध हैं। काश्मीर में देवियों के अतिरिक्त भैरवों की भी उपासना की जाती है। इनकी पूजा प्रायः वृक्षरूप में की जाती है। यह वृक्षपूजा सिन्धु घाटी के अति प्राचीन शैवों के समय से अभी तक चली आ रही है। भारत की वैदिक जनता भी पीपल देव की पूजा करती है। काश्मीर में कहीं–कहीं जलरूप में भी और शिलारूप में भी देवियों और भैरवों की पूजा होती है। इन देवियों और भैरवों की पूजा यहां अतीव लोकप्रिय है और सद्यः फल देती है।

साधना

अन्तःसाधना के विषय में कश्मीर के शैवों के विचार किसी भी प्रकार से संकुचित नहीं है। इस दर्शन का यह सिद्धान्त है कि जिस तरह से मानवों के रोग अनेकों प्रकारों के होते हैं और इसी कारण से औषध भी उन्हें अनेकों प्रकारों के उपयुक्त होते है, तथा जिस तरह से एक ही औषध के द्वारा कोई भी वैद्य सभी रोगियों की चिकित्सा नहीं कर सकता है, उसी तरह से योग्य गुरु भी एक ही उपाय से सभी शिष्यों का उद्धार नहीं करता , तथा मानवों के चित्तों के वैचित्र्य के अनुसार ही उनके लिए अनेक प्रकार के शास्त्र उपयुक्त होते हैं जैसे योग्य वैद्य किसी रोगी की सर्वाङ्ग परीक्षा करके ही यह निश्चय कर सकता है कि उसके लिए कौन सी औषधि उपयुक्त हो सकती है, उसी तरह से योग्य

गुरु भी शिष्य के चित्त आदि की परीक्षा करके ही उसे उसके लिए उपयुक्त साधना का उपदेश करता है। वह सभी शिष्यों को एक ही साधना का उपदेश नहीं देता है।[३] इसीलिए तो परमेश्वर ने भी सब प्रकार के मानवों का हित करने के लिए संसार में अनेक शास्त्रों को प्रकट किया है। कुछ एक पाश्चात्य लेखक हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप करते हैं कि इस धर्म का कोई एक धर्मोपदेष्टा, कोई एक ईश्वरीय शास्त्र और कोई एक उपासना पद्धति नहीं है, इस कारण से मानव इस धर्म के भीतर खो जाता है। वर्तमान युग के अनेक हिन्दू नवयुवक भी ऐसी ही आलोचना करते हैं। परन्तु शैव दर्शन के उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू धर्म का यह एक महान् गुण ही है, दोष नहीं है। इस विचित्रता के होते हुए भी प्रत्येक हिन्दू को अपनी शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुकूल रहने वाले साधनों के मार्ग को चुन लेने और पसन्द करने का अवसर मिल जाता हैं। अनन्त मानवों के अन्तःकरणों की स्थिति अनन्त प्रकार की ही होती है। इस वैचित्र्य के होते हुए करोड़ों मानवों को एक ही साधनामार्ग पर कैसे चलाया जा सकता है। यदि चलाया भी जाए, तो सभी को सफलता कैसे मिले। अतः साधनाक्रम में वैचित्र्य और भेद मानवों के लिए अनिवार्य है और इसी कारण से काश्मीर शैव दर्शन में उसकी सराहना की गई है।

काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में शास्त्र कई एक स्तरों के हाते हैं। निचले स्तरों के शास्त्रों के नियम ऊपर के स्तरों के शास्त्रों पर लागू नहीं होते हैं। संसार को भेददृष्टि से देखने वाले और देह आदि जड़ पदार्थ को ही अपना आप समझने वाले प्राणी पशुप्रमाता कहलाते हैं। परन्तु शुद्ध संवित् को ही अपना आप समझने वाले और संसार को स्वशरीरवत् समझने वाले प्राणी पतिप्रमाता कहलाते हैं।[४] पशुप्रमाता घरेलू पशुओं की तरह बांधे हुए ही रहते हैं, परन्तु पतिप्रमाता मुक्तशिवों की

३–चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने ।

(तं.आ.खं.३,पृ५५)

४–स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः।।

(ई.प्र.३–२–३)

अवस्था में रहते हैं। पशु तो चौपाए पशुओं की तरह केवल देखते ही रहते हैं, तत्त्व को समझते नहीं। पति तत्त्वज्ञ होते हुए पशुओं की पालना करते रहते[५] हैं। उन्हें सन्मार्ग का प्रदर्शन करना और उस पर चलने की प्रेरणा करना ही उनकी पालना होती है। पशुओं के लिए निचले स्तरों के शास्त्र उपयुक्त होते हैं। उनरमें विधि–निषेध, शुद्धि–अशुद्धि, भक्ष्यता,–अभक्ष्यता आदि के झमेले बहुत अधिक होते हैं। परन्तु पतिभाव की ओर जाने वाले प्रमाताओं के लिए ऊपर–ऊपर के स्तरों के शास्त्र होते हैं। पशु शास्त्रों में संकोच अधिक होता है और पति शास्त्रों में उत्तरोत्तर शिवभाव का विकास होता जाता है[६]। साधक की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की स्वाभाविक असीमता और परिपूर्णता को अधिक–अधिक अभिव्यक्त करना उन शास्त्रों का ध्येय होता है। उन शास्त्रों में भक्ष्यता, शुद्धि–अशुद्धि आदि की चिन्ताएं नहीं होती हैं[७]। उन शास्त्रों के अधिकारियों को जिस किसी भी उपाय से, साधन से, विषय से या क्रिया से अपरिमित और परिपूर्ण ज्ञानशक्ति और वैसी ही क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाए, वे ही उपाय आदि उनके लिए विधि बन जाते हैं। परन्तु निचले स्तरों के अधिकारियों को इन उत्कृष्टतर प्राणियों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। शैवशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है, कि साधारण प्राणियों को वही करना चाहिए, जो ऐसे उत्कृष्ट महापुरुष उन्हें करने को कहे, जो–

५–पाश्यत इति पशुः। अथवा पश्यत्येव न विजानातीति पशुः। पातीति च पतिः। इति निर्वचनम्।

६–यतो यद्यपि देवेन वेदाद्यपि निरूपितम्।
तथापि किल संकोचभावाभावविकल्पतः।।
संकोचतारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितम्।
विकासतारतम्येन पतिज्ञानं तु बाधकम्।।
(तं.आ.४–२५२,५३)

७–एवं विधे यागादौ योगान्ते च पञ्चके निरूढिर्यथा भवति तथैवाचरेत्। न तु भक्ष्याभक्ष्यशुद्धयशुद्धयादिविवेचनया वस्तु–धर्मोज्झितया कल्पनामात्रसारया स्वात्मा खेदनीय इत्युक्तंश्रीपूर्वादौ।
(तं.आ.पृ.३१)

जो कार्य वे स्वयं करें, उन–उन सभी कार्यों को करने का अधिकार उन्हें ही है, साधारण प्राणियों को नहीं[८]।

भक्ति

इसी कारण से काश्मीर शैव दर्शन के आचार्य जनसाधारण को श्रुति, स्मृति और सदाचार ही के मार्ग पर चलाते रहे। इसे वैदिक मार्ग कहा जाता है। इसमें विधि और निषेध ही की प्रधानता रहती है। इससें ऊंचा मार्ग भक्तजनों का मार्ग होता है। वह प्रेमाभक्ति के द्वारा पूजा–पाठ, स्तुति, जप, कीर्त्तन आदि का मार्ग होता है। विधि की अपेक्षा भक्ति जीव को ईश्वर के समीप अधिक शीघ्र पहुँचा सकती है। विधि कठिन, कठोर और कष्टसाध्य होती है। भक्ति सरल, सुगम और सुख साध्य होती है विधि के लिए साधन सम्पदा को जुटाना बड़ा दुष्कर होता है। भक्ति की साधन सम्पदा अनायास ही जुट सकती है। विधि में प्रायश्चित्तों की बड़ी आशंका रहती है। भक्ति में ऐसा नहीं होता। विधि में कोई त्रुटि आ जाए, तो साधना निष्फल हो जाती है। भक्ति में त्रुटि क्षम्य होती है। विधि के वश में आकर देवगण साधक की अभीष्ट कामना को पूरा करने को विवश हो जाते हैं। भक्ति से रीझकर वे उसकी अभिलाषा को पूरा करने के लिए स्वयं उत्सुक हो उठते हैं। विधि एक प्रकार का लेन–देन का व्यापार होता है। भक्ति एक प्रकार के स्नेह से सना हुआ हार्दिक सम्बन्ध होता है। वैदिक धर्म विधिप्रधान होता है और शैव धर्म भक्तिप्रधान। अतः शैव शास्त्र में शैव धर्म को वैदिक धर्म से उत्कृष्ट माना गया है। शैव धर्म से यहां उपरोक्त भक्ति–धर्म ही मानना चाहिए, शैवी योग साधना नहीं। उसका निरूपण आगे किया जाएगा।

समावेश

शैवी रहस्य साधना की कई एक प्रक्रियाएँ शैव दर्शन में स्थान पा चुकी हैं। शैवी साधना में इस बात की ओर अधिक ध्यान रखा जाता

८–यत्ते कुर्युर्न तत् कुर्याद् यद् ब्रूयुस्तत् समाचरेत्।
(नं आ.खं.३,पृ.२७०)

है कि प्राणी मानव शरीर में रहता हुआ ही मुक्तशिवों की अवस्था का अनुभव करे, उसे मर्त्यशरीर में ठहरते हुए ही अपनी शिवता के ऐश्वर्य की साक्षात् अनुभूति होती रहे। उससे वह सद्यः जीवन्मुक्त भी हो जाए और साथ ही उसे अपनी शिवता पर पक्का विश्वास भी आ जाएं। जीवभाव के भीतर ही अपने स्वाभाविक शिवभाव की इस साक्षात् अनुभूति को समावेश कहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन की साधना में इस समावेश को ही मुख्य प्रयोजन ठहराया गया है। समावेश की अवस्था में परतन्त्र जीवभाव स्वतन्त्र शिवभाव के भीतर निमग्न हो जाता है। और जीव को अपना आप साक्षात् शिव ही भासता है[६]। शैवी साधना की यह नीति है कि साधक सांसारिक व्यवहार में चलता हुआ ही परमार्थ की अनुभूति को प्राप्त करता रहे। वह संसार से भागे नहीं, छिपे नहीं। सांसारिक विषयों से डरे भी नहीं और उनसे अधिक आसक्त भी नहीं रहे। उनका परित्याग न करे। अपितु संसार में रहता हुआ ही और न्यायपूर्वक तथा मर्यादा में रहते हुए सांसारिक विषयों का सेवन करता हुआ ही संसार में ही और उन विषयों में ही शिव भाव को पहचानता रहे। वह शिव की विश्वोत्तीर्णता का और विश्वमयता का साथ ही साथ अनुभव करता रहे।

वेदान्त आदि शास्त्रों के उपासक संसार के मधुर विषयों से बहुत डरते हैं, परन्तु शैव यह चाहते हैं कि क्यों न इन मधुर विषयों के भीतर ही शिवता का साक्षात् अनुभव किया जाए। फिर शैवों को यह विचार भी रहता है, कि मधुर विषयों का सेवन करते हुए ही शिवभाव का अनुसंधान करना अधिक उपयुक्त होता है। ऐसा करते हुए साधक के चित्त की साथ–साथ परीक्षा भी होती है। जब अत्यन्त मधुर विषय भी उसे शिवभाव के अनुसन्धान में बाधक न बनें, तब संसार का कोई भी विषय उसे उससे विचलित नहीं कर सकता। भक्ष्य–अभक्ष्य, शुद्ध–अशुद्ध आदि का नियम जनता के लिए हितकर तो है, परन्तु सारे जीवन को इसी चिन्ता पर न्योछावर करना उचित नहीं ऐसा आ० अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है। फिर उनका विचार यह भी है कि जहां–जहां तक मन

६–आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात्।
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्याविभागिनः।।

(तं.आ.१–१७३)

का तथा इन्द्रियों का दमन किया जाए, वहां–वहां तक उनमें अधिक–अधिक विकार होते रहेंगे। अतः मानव ने समाज के नियमों के अनुसार विषयों का सवेन करते हुए ही शैवी साधना के द्वारा शिवभाव के समावेश को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। एक बार भी शिवभाव की अभिव्यक्ति हो उठे, तो वह आगे–आगे बढ़ती ही जाती हैं। उसके बढ़ने के साथ ही साथ उसके दिव्यातिदिव्य आस्वाद के सामने इन्द्रियों के विषयों को स्वाद स्वयं फीका पड़ जाता है। आगे बिना किसी दमन के स्वयमेव छूट जाता हैं[१०] इसी कारण से कश्मीर के शैवों ने न तो वैरागियों की टोलियों की और न ही सन्यासियों के गणों की योजनाएँ कभी चलाई। आ० सोमानन्द, उतपलदेव, भट्टकल्लट आदि शैव दर्शन के प्रधान गुरु प्रायः सभी गृहस्थ थे। आ० अभिनवगुप्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हुए भी अपने घर में ही रहते रहे। डोगरा शासन के युग में कश्मीर में कश्मीरी साधुओं की टोलियां और उन टोलियों के आश्रम बनने लगे थे; परन्तु धीरे–धीरे वह सभी टोलियाँ समाप्तप्राय हो गई। वर्तमान युग में भी इस देश में साधु और साधक अवश्य हैं; परन्तु वे प्रायः गृहस्थ ही हैं और अपने घरों में ही रहते हैं।

चर्या

संसार के मधुर विषयों में सबसे अधिक मधुर चार विषय माने गए हैं और उन्हें चार मकार कहते हैं। उन चार मकारों का सेवन करते हुए ही पच्चम मकार अर्थात् मुद्रा का भी सेवन शैव साधक करते रहे हैं। ये चार मधुर मकार साधक के चित्त को मुद्रा से विचलित न करें, इसी विषय में साधक और उसका सामर्थ्यवान् गुरु, दोनों सावधान रहते

१०–स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धते।।
तेषां तत्खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः।
किं स्विदेतदिति प्रायो दुःखेऽप्युत्कण्ठते मनः।।
सुखादपि विरज्येत ज्ञानादेतदिदं त्विति।
तथाहि गुरुरादिश्यद् बहुधा स्वकशासने।।
अनादरविरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृत्तयः।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते।।
(मा.वि.वा.२–१०६ तः११२)

हैं। इस अभ्यास में साधक सफल हो जाए, तो उसे शाक्त उपाय में और शाम्भव उपाय में सद्यः सफलता प्राप्त होती है। मुद्रा के अभ्यास के साथ–साथ इन चार मदिरा आदि मकारों के उपयोग को चर्या कहते हैं। शैवशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार जो कोई भी चमत्कारमय आनन्द होता है, चाहे क्षणिक ही क्यों न हो, उसमें शिवभाव की अभिव्यक्ति अवश्य ही होती है। अतः विषय–आनन्द में भी विषयता के अंश को दबाकर और शिवता की अभिव्यक्ति के अंश को ही सावधानतया पकड़कर, उसी के द्वारा सद्यः परिपूर्ण और असीम शिवता में प्रवेश किया जा सकता है। इस युक्ति से "शिवता के सद्यः साक्षात्कार के लिए वीर और धीर साधक इस चर्याक्रम का अभ्यास करते" रहे हैं। परन्तु यह मार्ग केवल वीरों और धीरों का ही है। यह चर्या दक्षिण में, आसाम में और कश्मीर में शैव साधकों के भीतर पर्याप्त मात्रा में चलती रही है। ईरान के सूफ़ियों में भी इसका पर्याप्त प्रचार रहा है यदि भौतिक विज्ञान की प्रगति द्वारा कभी सारा संसार सुखी और समृद्ध बन जाए, तो बहुत सम्भव है कि शैवों का यह चर्या मार्ग संसार भर में लोकप्रिय बने। यह आनन्दमय साधना क्रम सर्वाङ्ग समृद्धि में ही शोभा पाता है, दीनता, हीनता और दरिद्रता में नहीं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, श्रीजगन्नाथपुरी के अति प्राचीन मन्दिर की भीतरी प्रस्तर कला, दक्षिण के कई एक मन्दिरों की यह कला और अजन्ता आदि गुफाओं की चित्रकला, जो सारी की सारी श्रृंङ्गारभाव से ही भरपूर हैं, वे सभी कलाएँ सम्भवतः इसी शैवी साधना के चर्याक्रम की लोकप्रियता की समृति करवा रही हैं। परन्तु इस विषय में एक बात विशेष ध्यान के योग्य

११–स एव भगवान्नन्तर्नित्यं प्रस्फुरदात्मकः।।
अन्तःस्थसर्वभावौघपूर्णमध्यमशक्तिकः।
स्वेच्छाक्षोभस्वभावोद्यज्जदानन्दसुन्दरः।।
नित्यं स्फुरति सम्पूर्णविसर्गरसनिर्भरः।
शिवशक्त्योः स संघट्टः स्नेह इत्यभिधीयते।।
अत्रैव पूर्णवैसर्गपदे लब्धुं प्रवेशनम्।
लेहनामन्थनेत्यादिसम्प्रदायमुपासते'। (मा.वि.वा.८६३ तः८६६)

होती है। वह यह है कि इस चर्याक्रम के अधिकारी सभी नहीं होते। जैसा कि ऊपर कहा गया, यह मार्ग वीरों और धीरों का होता है। लाखों में से कोई एक इसका अधिकारी होता है। प्राचीन काल में उन विशिष्ट अधिकारियों को ही इसकी दीक्षा दी जाती थी। उससे उन्हें सद्यः सिद्धि मिल जाती थी। पुस्तकें भी उस युग में अधिकारियों को ही मिलती थी; क्योंकि वर्तमान युग की तरह बाजारों में नहीं बिकती थीं। एक और विचारणीय बात यह भी है, कि काश्मीर शैव दर्शन के त्रिक आचार में इस चर्याक्रम को परम आवश्यक भी नहीं माना गया है और इसका निषेध भी नहीं किया गया है। सामर्थ्यशाली गुरु के अनुग्रह से साधक चर्चा के अभ्यास के बिना भी सुखपूर्वक शाम्भव समावेश को प्राप्त कर सकता है।

आचार भेद

पूजा, पाठ आदि बाह्य साधनों बाले शैव आचार से उत्कृष्ट आचार एक चर्या–प्रधान आचार होता है। उस आचार को वाम–आचार कहते हैं। 'वाम' 'शब्द' का अर्थ होता है 'सुन्दर'। यह चर्या–प्रधान आचार मधुर विषयों के उपभोग के कारण सुन्दर तो हाता ही है। इस वामाचार के उपासक साधक प्रायः द्वैतदृष्टि का ही आश्रय लेते रहे और चारों मकारों का सेवन निर्लज्जतापूर्वक और बहुत अधिक मात्रा में करते रहे। कापालिकों की एक शाखा के भीतर इसका बड़ा ही प्रचार रहा। मत्तविलास नामक एक प्राचीन प्रहसन (एक प्रकार के नाटक) में इसका वर्णन मिलता है[१२]। काल के क्रम से यह वामाचार मुक्तिमार्ग को छोड़कर सांसारिक मारण, मोहन, उच्चाटन आदि सिद्धियों की ओर मुड़ता गया। पश्चात् प्रायः वास्तविक साधना क्रम को छोड़ कर केवल विषय–भोग ही के लिए इस वाममार्ग के चर्याक्रम का बहुधा उपयोग

१२–पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
धार्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदर्शयत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः।।
(म.वि.प्र.५.१)

होने लगा। इसके इस प्रकार के दुरुपयोग ही के कारण तन्त्र शास्त्र, तांत्रिक साधना तथा तांत्रिक साधक वर्तमान युग में निन्दा और घृणा के पात्र बन गए। अस्तु।

वामाचार से उत्कृष्ट आचार को दक्षिणाचर कहते हैं। वह आचार चर्या से हीन है और बाह्यपूजा की तथा योग साधन की उसमें प्रधानता है। बहुत अंशों में यह शैव आचार से भी मिलता है। दक्षिण भारत के श्रीकण्ठमत और पाशुपत शैव मत में इन्हीं दो आचारों का अधिक प्रचार है। तामिल देश के सिद्धान्त शैव में भी ये ही दो आचार अधिक चलते हैं। दक्षिणाचारी बाह्यपूजा और अन्तः–साधना दोनों ही का आश्रय लेते रहे। इस आचार से भी उत्कृष्ट कौलाचार को माना गया है। इस आचार से सदासिद्धि मिल सकती है। इस आचार को कलियुग में पहले–पहल आसाम देश में सिद्ध मत्सयेन्द्रनाथ ने चलाया। इसका प्रकार महाराष्ट्र और गुजरात में भी रहा। महेश्वरानन्द आदि गुरु कौल ही थे। शेष भारत में भी इसके अभ्यास की परम्परा चलती ही रही और वर्तमान युग में भी चल ही रही है। आ० अभिनवगुप्त के ज्ञान विज्ञानदाता महागुरु, जालन्धरपीठ (कांगड़ा) के निवासी, सिद्ध श्रीशम्भुनाथ कौलाचार ही के अभ्यासी थे। इस आचार में भी चर्याक्रम का उायोग होता है, परन्तु न तो निर्लज्जतापूर्वक और न ही निर्मलतापूर्वक होता है। कौल साधक अपने कुलचक्र के भीतर ही और चक्रयाग के अवसर पर ही मकारों का सेवन करते है, अन्यत्र नहीं। यह चक्रयाग घर के भीतर ही और जनसाधरण की दीष्ट से ओझल रखते हुए ही किया जाता है। चर्या के उपयोग के बिना यह याग पूरा नहीं होता और इस याग द्वारा साधक का चित्त शाम्भवयोग में अनायास ठहर जाता है। कौलमार्ग के साधकों के चर्याक्रम का कोई भी दुष्प्रभाव जनसाधरण पर प्रायः नहीं पड़ता; क्योंकि उसका प्रयोग गुप्त रीति से ही किया जाता है। कश्मीर में इस आचार का पर्याप्त प्रचार था। यहां औरंगज़ेब जैसे कट्टर मद्यपानविरोधी सम्राट् भी इस आचार के अभ्यास पर नियन्त्रण नहीं कर सके।

कौलाचार से उत्कृष्ट मताचार को माना गया है। इस मताचार का न तो कोई ग्रन्थ ही मिल रहा है और न कोई अभ्यास की परम्परा ही कहीं देखने में आ रही है। तो इसका आकार–प्रकार क्या था, कुछ कहा नहीं जा सका। तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख आता है।

वहां ऐसा कहा गया है, कि "समयाचार में जो विधि निषेध के पालन करने के उपदेश है, वे उचित नहीं; क्योंकि असीम और अनवच्छिन्न परमेश्वर को विधि निषेध की सीमा में बाँधना उचित नहीं। अतः उस असीम और परिपूर्ण तथा मर्यादारहित तत्त्व को ही पहचान लेना चाहिए।१३ ऐसा मतशास्त्र में कहा गया है।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मतशास्त्र में भी चर्याक्रम का प्रचार रहा होगा। दक्षिण देश में समयाचार नाम के एक और आचार का प्रचार था। आ० शङ्कर जैसे महापुरूष इसी आचार के अनुयायी थे। समयाचार में मकारों का सेवन केवल भावना के ही द्वारा किया जाता है। स्थूल द्रव्यों का उपयोग इस आचार में नहीं किया जाता। इस आचार को कश्मीर के आगमशास्त्रों में आचारों में गिना ही नहीं गया है। बहुत सम्भव है कि उन आगमों के आविर्भाव से पूर्व कश्मीर में इस समयाचार का कोई भी प्रभाव नहीं रहा हो और न ही इस आचार की ख्याति कश्मीर में पर्याप्त मात्रा में फैली हो। तदनन्तर ग्यारहवीं शातब्दी में आ० अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में प्रसङ्गवश इसका उल्लेख किया है। टीकाकार जयरथ ने बारहवीं शाताब्दी में इसका थोड़ा–सा स्पष्टीकरण भी किया है तदनुसार यह आचार विधिनिषेध के नियमों पर ही अधिक जोर डालने वाला है। इसी कारण से मतशास्त्रों में इस आचार की आलोचना उपरोक्त ढंग से की गई है।

इन सभी आचारों से उत्कृष्ट आचार त्रिक आचार होता है। इस आचार को वाम, दक्षिण, कौल, मत, तथा समय सभी की अपेक्षा से उत्कृष्ट माना गया है। आगमों में स्पष्ट कहा गया है, कि त्रिक से बढ़ कर कोई भी आचार नहीं हैं इस त्रिक के विषय में पहले भी थोड़ा–सा कहा जा चुका है। आगे भी इसके विषय में विस्तारपूर्वक काफी कहना है। यहां इतना की कहना पर्याप्त होगा, कि इस आचार में चर्या के उपयोग को न ही अनिवार्य माना गया है और न ही निषिद्ध कहा गया है कौलाचार में तो चक्रयाग के बिना काम नहीं चल सकता और चक्रयाग में चर्या का प्रयोग अनिवार्य होता हैं। त्रिक आचार में चक्रयाग

१३–समयादिनिषेधस्तु मतशास्त्रेषु कथ्यते।
निर्मर्यादं स्वसम्बोधं सम्पूर्णं बुद्धयतामिति।।
(तं.आ.४–२६३)

की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अतः चर्या का प्रयोग न भी किया जाए तो कोई हानि नहीं। यदि किया भी जाए तो भी कोई हानि नहीं। कश्मीर में गत शताब्दी के शैव साधक मांस और मत्स्य का उपयोग निःशङ्कतापूर्वक करते रहे। कोई–कोई कभी–कभी मद्य का भी उपयोग करते रहे; परन्तु मद्यपों की तरह नहीं। अपने विलास की उमङ्ग में आकर स्वचित्त परीक्षण ही के लिए करते रहे। कभी–कभी चित्त को चिन्ताशून्य बनाने के लिए नियमपूर्वक भी करते रहे। परन्तु उनमें से कोई भी साधक कभी भी मदिरा के उपयोग से आपे से बाहर नहीं हुआ। मदिरा पीकर भी उनकी बुद्धि विचलित नहीं होती रही। कोई–कोई साधक इन तीनों मकारों के प्रति अरुचि भी रखते रहे। दोनों प्रकार के साधक इस भूमि में प्रकट होते रहे। चौथे मकार का सेवन करने वाला गत कई शताब्दियों से कोई भी देखने या सुनने में नहीं आया। तो त्रिकमार्ग में चर्या के द्वारा और चर्या के बिना, उभयथा काम चल जाता है। इस त्रिक प्रक्रिया के योग में और क्रियाकलाप में सदैव अभेददृष्टि की प्रधानता रहती है। यह त्रिक आचार ही काश्मीर शैव दर्शन के उपासकों का प्रधान आचार रहा है। इस दर्शन के आगम शास्त्रों में त्रिक आचार ही को सर्वोत्तम आचार माना गया है[१४]। काश्मीर शैव दर्शन का शिवसूत्र नामक सूत्रग्रन्थ भी इसी आचार के उत्कृष्ट योग का प्रतिपादक है। इन्हीं कारणें से कुछ एक महानुभावों ने काश्मीर शैव दर्शन को त्रिक दर्शन भी कहा है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार साधक अपने लिए उपयुक्त होने वाले किसी भी मार्ग को लेकर उसी के अनुसार साधना करता हुआ अपने शिवभाव को पहचान सकता है। इसी कारण इस दर्शन के साहिब कौल आदि सिद्ध आचार्य कुलमार्ग के अनुयायी थे और शिवोपाध्याय जैसे गुरु दक्षिणाचारी थे। वैसे त्रिक प्रक्रिया के योग की उपासना किसी

१४–(क) परात् परतरं त्रिकम्। (पं.त्री.वि.पृ.६१)

(ख) वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित्।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः।।
(तदेव पृ.६२)

(ग) कुलात् परतरं त्रिकम्। (तदेव पृ.१०३)

भी आचार की सहायता से की जा सकती है। आगम शास्त्रों में कहा गया है, कि साधक के लोकव्यावहार वैदिक मार्ग के अनुसार करना चाहिए, पूजापाठ आदि बाह्य साधना शैव मार्ग के अनुसार और योग आदि अन्तःसाधना कौल मार्ग के अनुसार; और ऐसा करते हुए साधक को अपनी महिमा को उस तरह से छिपाए रखना चाहिए, जिस तरह नारियल का फल बाहिरी कुरूपता और मध्य की कठोरता के भीतर अपने हृदय में अमृततुल्य रस को छिपाए रखता है[१५]। अन्य शैव शास्त्रों और वैष्णव शास्त्रों की ही तरह कश्मीर की शैवी साधना में भी भक्ति को पर्याप्त प्रधानता दी गई है[१६]। परन्तु कश्मीर के शैवों के मत में इस भक्ति की चाबी भी शिव ही के हाथ में रहती है। वह जिसे चाहता है उसे, और जितनी चाहता है उतनी, भक्ति दे देता है[१७]। जीव का इस बात पर अपना कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन में परिपूर्ण ज्ञान को पराभक्ति कहा गया है। अतः इस शास्त्र के अनुसार भक्ति ही अपरावस्था में उपाय बनती है और वही परा अवस्था में उपेय भी है। तो इस तरह से ज्ञान और भक्ति के समन्वय की प्रधानता इस शास्त्र में मानी गई है[१८]। इसके विपरीत वैष्णव दर्शनों में केवल भक्ति ही की प्रधानता और वेदान्त सांख्य आदि दर्शनों में केवल ज्ञान ही की प्रधानता मानी गई है। ज्ञान और भक्ति की इस तुल्य प्रधानता से काश्मीर शैव शास्त्र एक ओर से अतीव सरस बना है और दूसरी ओर से अतीव विद्वत्प्रिय भी बन चुका है।

१५—अन्तःकौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः।
सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा।। (तं.आ.खं.३,पृ.२७८)

१६—(क) भक्तिलक्ष्मी समृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यद्रुपयाचितम्।। (शि.स्तो.२०—२१)

(ग) न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।। (तदेव १—१)

१७—तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
यया यान्ति परां सिद्धिं तद्भावगतमानसाः।।
(भा.वि.वा.१—६७)

१८—ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तयां प्रभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता। (शि.स्तो.६—६)

२३

शैवी साधना

समावेश

काश्मीर शैव दर्शन की साधना के क्रम में जो विशेष अभ्यास का विषय बनता है, उसे समावेश कहते हैं। जिस अवस्था में जीव अपनी परतन्त्र सत्ता की परतन्त्रता को दबा लेता है और अपने में शिवरूपता को समाविष्ट कर लेता है, अर्थात् अपने भीतर अट शिवात्मकता को ले आता है, उस अवस्था को समावेश कहते हैं[1]। त्रिक आचार में सर्वत्र इस समावेश की ही प्रधानता रहती है। इस आचार की सभी साधनाओं का लक्ष्य समावेश ही होता हे। यह समावेश तीव्र इच्छाशक्ति के निर्विकल्प प्रयोग से भी हो जाता है और सुदृढ़ कल्पनामय भावना के सविकल्प प्रयोग से भी। इच्छाशक्ति के प्रयोग से इस तरह से सद्यः हो जाता है, जिस तरह से बिजली के स्विच को हिलाते ही विद्युद्दीप में प्रकाश आ जाता है या बिजली के पंखे में गति आ जाती है।

१–(क) मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत् समावेशलक्षणम्।।
(ई.प्र.३–२–१२)

(ख) यत् पुनः कर्तृताया मुख्यत्वं, तत्रान्तरीयकश्च शून्यादेर्गुणभावः... यच्च तत् कर्तृताया मुख्यत्वम्––उन्मग्नता, इदमेव ज्ञानमज्ञानात्म–कमलप्रतिपक्षत्वात्। तदेतन्मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणम्। येन देहस्थितोऽपि पतिः इति मुक्त इति शास्त्रेषूक्तः।
(ई.प्र.वि.३–२–१२)

अनुपाय

किसी उत्कृष्टतर अधिकारी को शिवभाव का समावेश इच्छाशक्ति के प्रयोग के बिना भी एवमेव हो जाता है। उसे गुरु केवल इतना ही समझा देता है, कि–"देखो, तुम वस्तुतः शुद्ध संवित् ही तो हो। अतः स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान हो। तुम्हें प्रकाशित करने के लिए किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं। तुम स्वयं अपने स्वभाव से ही परिपूर्ण परमेश्वर हो । तुम्हारी परमेश्वरता भी स्वयं अपने प्रकाश से ही प्रकाशमान है। अतः तुम्हें उपायों की क्या आवश्यकता। फिर उपाय सबके सब तुम्हारी अपेक्षा से मलिन ही हैं वे तुम्हें प्रकाशित नहीं कर सकते[२]। अतः बिना किसी उपाय के ही अपने ही भीतर अपनी परमेश्वरता का स्वयमेव विमर्श करो।" इस प्रकार के उपदेश को सुन लेने पर शिष्य गुरु के अनुग्रह से, उसके दृष्टिपात से, उसके हस्तस्पर्श से, उसके हाथ से दिए हुए किसी भोज्य पदार्थ के खाने से, या इसी प्रकार के किसी अन्य हेतुमात्र से बिना किसी योग का अभ्यास किए, ऐसे ही शिवभाव के समावेश का अनुभव कर जाता है[३]। फिर उस समावेश के पुनः–पुनः अभ्यास से उसको अपने शिवभाव का संस्कार इतना पक्का हो जाता है, कि सांसारिक व्यवहार को करते हुए भी उसे शिवभाव के विमर्श का चमत्कार दिन रात चलता ही रहता है। इस प्रकार के समावेश को

२–..... समस्तमिदमेकं, चिन्मात्रतत्त्वं, कालेनाकलितं, देशेनापरिच्छिन्नम्, उपाधिभिरप्लानम्, आकृतिभिरनियन्त्रितं....स्वतन्त्रमानन्दघनं तत्त्वं, तदेवाहम् । तत्रैवान्तर्मयि विश्वं प्रतिबिम्बितम्––एवं दृढं विविञ्चानम्य शश्वदेव पारमेश्वरः समावेशो निरूपायक एव। तस्य च न मन्त्रपूजाध्यानचर्यादि नियन्त्रणा काचित्।। (तं.सा.पृ.६)

३–सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम्।।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम्।
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने।। (तं.आ.आह्निक २,पृ.२)

४–उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः।।
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत् केचन निश्चिताः।
विना भूयोऽनुसन्धानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः।। (तदेव पृ.३)

अनुपाय समावेश कहते हैं।[४] इस अनुपाय समावेश से ही प्राणी उत्कृष्ट जीवन्मुक्त का पात्र बन जाता है। साथ ही साथ अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता का साक्षात् अनुभव भी करता रहता है। त्रिक आचार का यह योग उस आचार का सर्वोत्तम योग कहलाता है। इसे आनन्दयोग भी कहते हैं।[५]

शाम्भव उपाय

जिन साधकों को इस अनुपाय आनन्दयोग पर स्थिति न हो सके, उनके लिए त्रिक आचार में शाम्भवयोग का उपदेश किया गया है। इस शाम्भव उपाय को इच्छायोग या इच्छोपाय भी कहा जाता है। इसे अर्भेदोपाय भी कहते है[६]। इस शाम्भवयोग में शरीर के द्वारा, मन के द्वारा, बुद्धि के द्वारा, या प्राण के द्वारा कोई भी साधना नहीं की जाती है। इन सभी साधनों की क्रियाओं को शान्त करके चित्त को सर्वथा निश्चल बनाकर उसकी इस निश्चलता का खूब अभ्यास करना होता है[७]। आत्मज्योति तो सतत गति से स्वयमेव चमकती ही रहती

५–उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः
स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्।। (तं.सा.पृ.६)

६–ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम्।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते।।
(तं.आ.पृ.१–२४२)

७–(क) अनुपायमेव स्वात्मानं प्रकाशयति सोपायं वा।
सोपायत्वेऽपि इच्छा वा, ज्ञानं वा,
क्रिया वाभ्युपाय इति त्रैविध्यं शाम्भवशाक्ताणवभेदेन
समावेशस्य। (तं.सा.पृ.७)
(ख) अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तथाणवम्।।
(तं.आ.१–२३०)

है। परन्तु उसकी प्रकाशमानता चित्त के विकल्पमय आभासों की छाया के नीचे छिपी सी पड़ी रहती है। स्फटिक सर्वथा निर्मल ही होता है। परन्तु नील पीत आदि विविध रूपों के प्रतिबिम्ब जो उसमें पड़ते रहते हैं, तो उन प्रतिबिम्बों के आभासों के नीचे उसकी निर्मलता का आभास कुछ तिरोहित सा होकर रहता है। प्रतिबिम्बों के हट जाने पर स्फटिक की स्वच्छता का आभास फिर से स्फुट प्रतीत होने लग जाता है। इसी तरह से चित्त के विकल्पों के शान्त हो जाने पर शुद्ध चेतना का प्रकाश स्वयमेव, चित्त की सहायता के बिना ही, चमकता हुआ साक्षात्कार का विषय बन जाता है। विषय भी क्या बनता है। स्वयमेव अपने को ही अपने ही द्वारा अपरोक्षता से साक्षात् जानने लग जाता है। उस साक्षात्कार का कर्ता, कर्म और करण, सब कुछ स्वयं बना रहता है। इस तरह से शरीर, वाणी, प्राण और चित्त के द्वारा न किसी विषय का ग्रहण करते हुए और न उसका परित्याग ही करते हुए, चलती हुए वायु से रहित, स्थल पर जलते हुए दीपक की ज्योति की तरह अचल स्थिति में स्वयं अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवयोग कहलाता है[८]। इस योग का अभ्यास चित्त द्वारा तो हाता ही नहीं। क्योंकि चित्त का भी वहां लय ही हो जाता है। आत्मदेव स्वयं अपनी इच्छा के प्रयोग से ही इसका अभ्यास करता है। इसे संक्षेप से स्व–स्थिति में ठहरने का अभ्यास समझिए। इस अभ्यास से परिपूर्ण शिवभाव का झट समावेष हो जाता है। जब उसका अभ्यास पक्का हो जाता है, तो बिना इच्छाशक्ति के प्रयोग के भी शिवभाव का समावेश हो ही जाता है। इस तरह से शाम्भवउपाय की परिपूर्ण परिपक्वता ही अनुपाय पदवी बन जाती है[९]।

८– (क) अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः।।
(मा.वि.तं.२–२३)

(ख) निराधारं मनः कृत्वा विकल्पात्र विकल्पयेत्।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने।। (वि.भै.१०८)

९– (क) स्वातन्त्र्यशक्तिमेवाधिकां पश्यन् निर्विकल्पमेव
भैरवसमावेशमनुभवति। (तं.सा.पृ१०)

अपरिपक्व दशा में जो शाम्भव–उपाय होता है, वही परिपक्व अवस्था में अनुपाय कहलाता हैं।

मातृका

इस शाम्भव–उपाय का दूसरा प्रकार वह होता है, जिसमें इच्छाशक्ति को ज्ञानशक्ति की थोड़ी सी सहायता मिलती है। परन्तु फिर भी प्रधानता इच्छाशक्ति ही की रहती है। उसमें आरम्भ में यह विमर्श करना होता है कि यह समस्त जगत् मुझ में ही प्रतिबिम्बित होता हुआ ठहरा है। उस प्रतिबिम्ब का बिम्ब भी मेरे से भिन्न कोई और वस्तु नहीं है। मेरी अपनी ही अनन्त शक्तियाँ मेरी ही शुद्ध प्रकाश में प्रतिबिम्बित होकर छत्तीस तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त हो रही हैं। ऐसा विमर्श करते हुए ही अपनी भिन्न–भिन्न शक्तियों के इस प्रतिबिम्बन का साक्षात् अनुभव करना होता है। उन शक्तियों का आकार उस अभ्यास में 'अ' से लेकर 'ह' तक की वर्णमाला के रूप में अभिव्यक्त हो उठता है और उनके प्रतिबिम्ब शिव से लेकर पृथ्वी तक के समस्त तत्तवों के रूप में प्रकट हो जाते हैं[१०]। अ से अः तक के सोलह वर्णो के रूप मे तो शिवभाव ही के विधि चमत्कारों का साक्षात्कार हो जाता है। आगे शिव की विसर्ग शक्ति के भिन्न–भिन्न आकारों के प्रतिबिम्ब क से लेकर ह तक पृथ्वी तत्त्व से लेकर शक्ति तत्त्व तक के रूपों मे विपरीत क्रम से अभिव्यक्त हो जाते हैं । प्रतिबिम्ब बिम्ब से प्रतीप, अर्थात् उलटा देखने में आता है। उसमें दायां बायां और बायां दायां दीखता है। इसी कारण से तो शिव की

(ख) यथा दीपो निवातस्थो नेद्राते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। (भ.गो.६–१६)
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। (भ. गी ६–२०)

(ग) मा किञ्चत् त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः।।
(अनु.अ.२)

१०–स (शाम्भव) एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते।
(तं.आ.वि.१–१४२)

शक्तियों के प्रतिबिम्बों का दर्शन शक्ति तत्त्व से आरम्भ न होकर पृथ्वी तत्त्व से ही आरम्भ होता है और उलटे ही क्रम से चलता हुआ शक्ति तत्त्व पर पहुंचकर ही समाप्त हो जाता है। तो क पृथ्वी तत्त्व के रूप में और ह शक्ति तत्त्व के रूप में अपरोक्ष भाव से प्रकाशित हो जाता है। बीच के वर्ण विपरीत क्रम से जल तत्त्व से लेकर सदाशिव तत्त्व तक के रूपों में प्रकाशित हो जाते हैं"। अपने आप का अपनी शक्तियों का, इन वर्णों का तथा इन तत्त्वों का साक्षात्कार एकरूपतया एक साथ ही हो जाता है। इस वर्णमाला को इस क्रम में मातृका कहते हैं। यह मातृका शाम्भवयोग में इस प्रकार से शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप में अभेदभाव से स्वयं अपनी ज्योति से चमकती हुई साक्षात् अपरोक्षतया अनुभव में आती है। उसकी इस प्रकार की यह अनुभूति भी चित्त विकल्प की सहायता से न होकर स्वयं अपने ही प्रकाश से हुआ करती है। अतः यह मातृका का अभ्यास भी इच्छोपाय ही है; ज्ञानोपाय नहीं है। अब रहती है बात ज्ञानशक्ति की थोड़ी भी सहायता की। इस विषय में यह बात स्मरण रखने के योग्य है, कि चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, ये पांचों शक्तियाँ परस्पर ओत–प्रोत भाव से सदा रहती हैं। फिर किसी अवस्था में किसी एक की प्रधानता जो चमक उठती है, तो शेष चार उसमें गुणीभूत होकर ठहरती हैं। जिस शक्ति की प्रधानता जिस अवस्था में अभिव्यक्त होती है, उस अवस्था का उल्लेख उसी शक्ति के नाम से

११–(क) एवं यथैतत् प्रतिबिम्बितं भाति तथैव विश्वं परमेश्वर प्रकाशे।... हेतुश्च (बिम्बस्थानीयः) परमेश्वरशक्तिरेव भविष्यति। विश्व–प्रतिबिम्बधारित्वाच्च विश्वात्मकत्वं भगवतः। संविन्मयं हि विश्वं चैतन्यस्य व्यक्तिस्थानमिति । तदेव हि विश्वमत्र प्रतीपमिति प्रतिबिम्बधारित्वमस्य। तच्च तावद् विश्वात्मकत्वं परमेश्वरस्य स्वरूपं न अनामृष्टं भवति।.....। आमर्शश्चायं न सांकेतिकः, अपि तु चित्स्वभावतामात्रनान्तरीयकः परनादगर्भ उक्तः। इत्यादि।

(तं.सा.पृ.११,१२)

(स आमर्श एवाकारादिशकारान्तैर्ध्वनिभिः सम्भवन् मातृकारूपमुद्भावयति।)

(ख) न च साङ्केतिकमिदम्।

(प.त्री.वि.पृ.१२५)

किया जाता है। वस्तुतः प्रत्येक क्रिया में ये पांचों शक्तियाँ मिलकर काम करती हैं[१२]। इस न्याय से अनुपाय योग को आनन्दयोग और इस शाम्भव–उपाय को इच्छायोग कहा जाता है। इन वर्णों के साक्षात्कार का अभ्यास व्युत्क्रम से भी किया जाता है उस क्रम में अभ्यास 'न' से आरम्भ होकर 'ध' पर समाप्त हो जाता है। शेष सभी वर्ण बीच में व्युत्क्रम से ही आते हैं। इस व्युत्क्रम में अवस्थित वर्ण समुदाय को मालिनी कहले हैं। मातृका अक्षुब्ध वर्णमाला को और मालिनी क्षुब्ध वर्णमाला को कहते हैं[१३]। मालिनी के अभ्यास के द्वारा शाम्भव समावेश अतिशीघ्र सिद्ध हो जाता है।

इन तत्त्वों और वर्णों का परस्पर वाच्य–वाचक भाव माना नहीं गया है। जिस तरह से अलङ्कार शास्त्र की दृष्टि में विशेष वर्ण माधुर्य, ओज आदि विशेष गुणों को अभिव्यक्त करते हैं, उसी तरह से मातृका और मालिनी के वर्ण भी परमेश्वर की विशेष शक्तियों के अभिव्यञ्जक होते हैं[१४]। मातृका और मालिनी के अभ्यास से

१२–घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया।
जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेदनक्षतिः।।
औन्मुख्याभावतस्तस्य निवृत्तिनिर्वृतिं विना।।
द्वेष्ये प्रवर्तते नैव न च वेति विना चितम्।। (शि.दृ.१–२४,२५)

१३–तत्रैव च पुनर्भिन्नयोनिमालिनीभट्टारिकानुसारेण फकारादीनाम्
अभिन्नयोनिमातृकानिवेशावाप्ततत्त्वान्तरस्थितीनामपि –– फं
धरातत्त्वमुद्दिष्टे चादिञान्तेऽनुपूर्वशः।
त्रयोर्विंशत्यवादीनि.....।। इत्यादिना पार्थिवादितत्त्वयोजना निरुपिता।
(प.त्री.वि.पृ.१२१,१२२)

१४–तदेवं भगवती परावाग्भूमिः.....परमेश्वरभैरवभट्टारकाविर्भाव–
प्रथिततथाविधाद्भुतभूतपरमार्थस्वरूपा स्वात्मविमलदर्पणनिर्भा–
सितानन्तसृष्टिस्थितिसंहारैक्यमयमहासृष्टिशक्तिर् आदिक्षान्तरूपा
अथाद्या इत्यादिग्रन्थेन निःशेषं भगवता निर्णीयत इति स्थितम्।
(तदेव पृ.११२–११३)

साधक को अपनी शक्तियों और उनके प्रतिबिम्बों की अभिव्यक्ति से सद्यः पूर्ण शिवभाव का समावेश हो जाता है। बिना चिन्तन और मनन के तथा बिना चित्तविकल्पों के अभ्यास के इच्छाशक्ति के प्रयोग मात्र से ही शिवभाव का जो समावेश हो जाता है, उसे शाम्भव समावेश कहा जाता है। यह समावेश निर्विकल्पतया ही होता है और शाम्भवयोग के अभ्यास में भी विकल्पों का ही क्षय किया जाता है। विकल्प करना चित्त का धर्म होता है। इस योग के अभ्यास में जब स्थिति आ जाती है, तो चित्त काम करना छोड़ देता है, चित्त मानो सो जाता है या सो ही जाता है। अतः शाम्भवयोग के अभ्यास को विकल्पशून्य ही रखना पड़ता है। तभी उससे निर्विकल्प समावेश सिद्ध होता है। इस कारण से इस योग को अविकल्प योग भी कहते हैं। इस योग में साक्षत्कर्ता, साक्षात्कार्य और साक्षात्कार, तीनों ही एक हो जाते हैं अतः इस योग को अभेद–उपाय भी कहा करते हैं। यह शाम्भवयोग ही आत्मसाक्षात्कार का एकमात्र साक्षात् उपाय होता है[१५]। जब यह परिपक्व अवस्था को प्राप्त करता है, तब इसी को अनुपाय कहते हैं। शेष सभी उपाय इस शाम्भव–उपाय तक पहुंचाकर इसी के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करवा सकते है। अतः उन्हें साक्षात् उपाय नहीं कहा जाता है। वे परम्परा से ही आत्मसाक्षात्कार के उपाय बनते हैं।

वेदान्ती साधना में सबसे ऊंचे उपाय को ज्ञानयोग कहते हैं। वह ज्ञानयोग शैव दर्शन का शाक्त–उपाय होता है। यह उपाय शाम्भवउपाय से एक सीढ़ी नीचे का ही आता है। शाम्भव–उपाय और अनुपाय का निरूपण वेदान्त शास्त्र में नहीं मिलता है। पातञ्जलयोग तो शैव दर्शन की दृष्टि में ज्ञानयोग से भी निचली कक्षा का क्रियायोग होता है। भगवद्गीता के छठे अध्याय में जिस योग का निरूपण किया गया है, वह न तो पातञ्जलयोग ही है और न वेदान्त का ज्ञानयोग ही है। वह तो उपरोक्त शाम्भव–योग है। भगवान् श्रीदुर्वासा के अनुग्रह से भगवान् श्रीकृष्ण को जिस शाम्भवयोग की दीक्षा मिली

१५–साक्षादुपायेनेति––शाम्भवेन। तदेव ह्यव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तम् स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते।
(तं.आ.वि.१–१४२)

थी, उसी के फलस्वरूप गीता के छठे अध्याय में उसी योग का उपदेश किया गया। उस अध्याय में एक जगह स्पष्ट कहा गया है। कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्यश्चाधिको मतः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन।।

(भ. गी. ६—४६

यहां योगी से शाम्भव योगी ही तात्पर्य हैं, क्योंकि पीछे उस शाम्भवयोग ही का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। 'तपस्वि' शब्द और 'ज्ञानि' शब्द से यहां क्रम से क्रियायोग और ज्ञानयोग का अभ्यासी साधक तात्पर्य है। 'कर्मि' शब्द से वर्ण—आश्रम धर्म का उपासक लिया जा सकता है। ऐसा अर्थ करने से ही इस श्लोक की व्याख्या संशयरहित और खींचतानरहित ढंग से हो सकती है। परन्तु शाम्भवयोग से स्फुट परिचय न होने के कारण टीकाकारों ने इस श्लोक पर व्यर्थ ही माथा रगड़ा है। अस्तु। अवधूत गीता में शाम्भवउपाय का नामोल्लेख मात्र एक जगह मिलता है। आगे सन्त साहित्य में इस योग के प्रति अनेकों संकेत जगह—जगह पर मिलते हैं। महाकवि श्रीकालिदास के कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में भी इसी योग का अति सुन्दर वर्णन किया गया है[१६]।

१६—पर्य बन्धस्थिरपूर्वकायम् ऋज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये।।४५।।
किञ्चित् प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां
विरतप्रसङ्गैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममा—
लैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः।।४७।।
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहम् अपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।।४८।।
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरंक्षेत्रविदो विदुस्तम् आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।।५०।।

(कु.सं.३—४५ तः५०)

शाक्त उपाय

ज्ञानयोग को शाक्तयोग, शाक्तोपाय, ज्ञानोपाय, भावनोपय आदि नाम दिए गए हैं। इसे भेदाभेद–उपाय माना गया है। इस योग में शुद्ध विकल्पज्ञान का अभ्यास करना होता है। अशुद्ध विकल्पों का संस्कार ही तो बन्धन होता है। उन अशुद्ध विकल्पों को शुद्ध विकल्पों के अभ्यास से नष्ट किया जा सकता है[१७]। अशुद्ध विकल्प अबुद्धिगत विचारों और विश्वासों को कहते हैं, जिनके अनुसार प्राणी बुद्धि के स्तर पर शरीर आदि को ही अपना आप समझता है, शुद्ध संवित् को नहीं संसार को अपने से भिन्न समझता है, आना आप नहीं; और अपने आप को अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और अनीश्वर समझता है, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और सर्वेश्वर नहीं।" मैं शुद्ध संवित् हूं। मै परिपूर्ण परमेश्वर हूं। मैं ही यह सारा विश्व हूं। यह सब कुछ मुझ में ही ठहरा हुआ है। मैं सारे विश्व में ओतप्रोत भाव से ठहरा हूं। यह सारे का सारा प्रपञ्च मेरी ही शक्तियों की विचित्र अभिव्यक्ति है।" इस–इस प्रकार के बुद्धिजन्य विकल्प ज्ञान शुद्ध विकल्प कहलाते हैं। तो जिन साधकों को अशुद्ध विकल्पों के गहरे प्रभाव के कारण शाम्भव–उपाय में चित्त ठहर न सके, उनके लिए शैव दर्शन के त्रिक आचार में इस शाक्त–उपाय नामक ज्ञानयोग का उपदेश किया गया है। शाम्भवयोग में साधना का कोई भी आलम्बन नहीं होता है। आलम्बन का आश्रय तो चित्त लेता है। शाम्भवयोग की स्थिति में चित्त विलीन होकर रहता है। अतः आलम्बन का आश्रय कोई नहीं लेता। अतः वह योग निरालम्बन योग होता है। इस ज्ञानयोगात्मक शुद्ध विकल्पों के अभ्यास में प्राणी को अपने आप ही अपने चित्त का आलम्बन बन जाता है। साधक का चित्त

१७–विकल्पवलादेव जन्तवो बद्धमात्मानमभिमन्यन्ते ।
सोऽभिमानः संसारप्रतिबन्धहेतुः। अतः प्रतिद्वंद्विरूपो
विकल्पं उदितः संसारहेतुं विकल्पं दलयतीत्यभ्युदयहेतुः।
(तं.सा.पृ.२१)

उसके अपने आप ही के विषय में शुद्ध विकल्पों के ज्ञान का अभ्यास करता रहता है। तो अपने वास्तविक स्वरूप और वास्तविक स्वभाव के यथार्थ और विकल्पात्मक ज्ञान की सतत परम्परा के द्वारा उन्हें अपनी बुद्धि पर पर्याप्त गहराई से अंकित करने के इस यथार्थ और शुद्ध ज्ञान परम्परा के अभ्यास का नाम शाक्त उपाय है[१८]।

उस यथार्थ ज्ञान को विविध प्रकारों से चित्त पर अंकित किया जा सकता है। वे सभी प्रकार शुद्ध विकल्पज्ञान के ही भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। ज्ञानयोग के इन प्रकारों के प्रति वेदान्त के ग्रन्थों में भी संकेत मिलते हैं। इनमें से सर्वथा मुख्य प्रकारों के पारिभाषिक नाम ये हैं:-याग, होम, जप, व्रत और योग[१९]। "सभी पदार्थ परमेश्वर में ही ठहरे हैं।" इस शुद्ध विकल्प को चित्तभूमि पर स्थिरतया आरूढ़ करने के लिए भावना के द्वारा प्रत्येक भाव का परमेश्वर को ही अर्पित करना याग कहलाता है[२०]। "सभी पदार्थ परमेश्वर के तेज से ही बने हैं," इस विचार को पूरी तरह से रूढ़ बनाने के लिए भावना द्वारा परमेश्वर की संविद्रूपी अग्नि भावों को गला

१८-(क) उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तायन्।
यं समावेशमभ्येति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते।।
(मा.वि.तं.२-२२)

(ख) स च एवंरूपः--सामस्तेभ्यः परिच्छिन्नस्वभावेभ्यःशिवान्तेभ्यस्त-त्त्वेभ्यो यदुत्तीर्णम् अपरिच्छिन्नसंविन्मात्ररूपं, तदेव च परमार्थः..... तदेव चाहम् । अतो विश्वोत्तीर्णो विश्वात्मा चाहम् इति ।
(तं.सा.पृ.२१)

(ग) तथाविधविकल्पप्रबन्ध एव सत्तर्क इत्युक्तः । स एव च भावना भण्यते । अस्फुटत्वाद् भूतमप्यर्थमभूतमिव स्फुटत्वापादनेन भावयते यया इति। (तदेव पृ.२१)

१९-सत्तर्क एवं साक्षात्तत्रोपायः । स च बहुप्रकारतया संस्कृतो भवति । तद्यथा- यागो, होमो, जयो, व्रतं, योग इति । (तदेव पृ.२५)

२०-तत्र भावानां सर्वेषां परमेश्वर एव स्थितिः । नान्यत् व्यतिरिक्तमस्ति, इति विकल्परूढिप्रसिद्धये परमेश्वर एव सर्वभावार्पणं यागः। (तदेव पृ.२१)

कर तद्रूप बना होम कहलाता है[२१]।"उस प्रकार का वह परमेश्वर नामक परिपूर्ण, शुद्ध और असीम तत्त्व ही मेरा अपना स्वरूप है", इस भावना के परामर्श का पुनः–पुनः अभ्यास करना जप कहलाता है[२२]। सर्वत्र एक जैसे परमेश्वरभाव को ही दृढ़ विश्वास से देखने के लिए शरीर, घट, आदि समस्त जड़ भावों को भी परमेश्वररूप में ही पुनः–पुनः देखना इस ज्ञानयोग का व्रत होता है[२३]। जो परमेश्वर तत्त्व वस्तुतः विकल्प ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता है और जो अपने स्वभाव से ही स्वयमेव परमेश्वर रूप में सदा प्रकाशमान होता ही रहता है, उसी के विषय में उसी प्रकार के पक्के विश्वास को सुदृढ़ बनाने के लिए उस आत्मस्वरूप का उसी तरह से पुनः–पुनः विमर्शन करना योग कहलाता है[२४]। इसी ज्ञानयोग के कुछ और मुख्य प्रकारों को स्नान, पूजन और ध्यान कहा जाता है। "न तो मुझे कोई बन्धन ही है और न ही कोई मोक्ष ही है। ये दोनों ही मल होते हैं। " इस विचार के पुनः पुनः विमर्शन से अपने आप को निर्मल बनाने का अभ्यास इस ज्ञानयोग में स्नान कहलाता है[२५]। "मुझे पूजन से कोई तुष्टि नहीं होती और न ही पूजन के अभाव से कोई खेद ही होता है। मैं पूजक, पूज्य और पूजा, सभी में अभिन्न रूप से रहता हूं। अतः मेरी पूजा सदैव होती ही रहती है। इस विचार के

२१–सर्वे भावाः पारमेश्वरतेजोमया इति रूढविकल्पप्राप्त्यै
परमेशसविदनलतेजसि समस्तभावग्रासरसिकताभिमते
तत्तेजोमात्रावशेषत्वसहसमस्त भावविलापनं होमः। (तं.सा.पृ.२६)

२२–एवं विधं तत् परं तत्त्वं स्वस्वभावभूतम्, इत्यन्तः परामर्शनं जपः।
(तदेव पृ.२६)

२३–परमेश्वरसमताभिमानेन देहस्यापि घटादेरप्यवलोकनं व्रतम्।
(तदेव पृ.२७)

२४–तत् स्वरूपानुसन्धानात्मा विकल्पविशेषो योगः। (तदेव पृ.२७)

२५–न मे बन्धो न मे मोक्षस्तौ मलत्वेन संस्थितौ।
प्रतिपत्त्यानया स्नानं निर्मलीकरणं मतम्।। (शि.दृ.७–८७)

२६–पूजनान्नास्ति मे तुष्टिर्नास्ति खेदो ह्यपूजनात्।
पूजकैरविभेदेन सदा पूजेति पूजनम्।। (तदेव ७–६२)

पुनः–पुनः विमर्शन को पूजन कहते हैं[२६]। जिस किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जिस किसी भी विषय का ग्रहण किया जाए, उस–उस विषय में सच्ची शिवता को ही देखना ध्यान कहलाता है[२७]। इस ज्ञानयोग के अभ्यास के और भी अनेकों प्रकार होते है; परन्तु त्रिक आचार में उपरोक्त प्रकारों का ही अधिक प्रचार है। संक्षेपतः शुद्धविद्या के अनुकूल जो कोई भी विकल्पज्ञान हो, उसके पुनः–पुनः अभ्यास करने को ज्ञानयोग कहते हैं। उस अभ्यास से वह शुद्ध विकल्पज्ञान साधक की बुद्धि पर इतना आरूढ़ हो जाता है, कि उसकी सत्यता पर उसे इतना पक्का विश्वास हो जाता है, जितना किसी को अपने नाम पर तथा अपने साथ अपने माता–पिता आदि के सम्बन्ध पर होता है[२७]। कोई भी मानव अपने नाम को, या अपने निकट सम्बन्धियों के साथ अपने सम्बन्ध को, स्वप्न में भी नहीं भूलता है। और न ही इन बातों के विषय में उसे कभी भी किसी प्रकार का संशय ही पड़ता है। इस ज्ञानयोग में शुद्ध विकल्पमयी भावना का अभ्यास किया जाता है। इस कारण से इसे भावना भी कहते हैं।

वेदान्त के उपासक ज्ञानयोग की ऊंची भूमिका पर अपनी बुद्धि के ऊपर प्रायः प्रशान्त ब्रह्मवाद के, अर्थात् अजातवाद के, ही संस्कारों को पक्का करने का अभ्यास करते हैं। परन्तु शैव साधक अपनी परमेश्वरता के संस्कार को भी चित्त की भूमि पर गहरी तरह अङ्कित करने का अभ्यास करते हैं। यह इन दोनों के ज्ञानयोग में एक विशेष अन्तर है। शून्यवादी और विज्ञानवादी बौद्धों का ज्ञानयोग वेदान्त के ज्ञानयोग के समीप तो पहुंचता हैं, परन्तु शैवों के ज्ञानयोग से बहुत नीचे ही रह जाता है। वेदान्ती अपनी ज्ञानयोग का अभ्यास प्रायः भागत्याग लक्षणा

२७–येन येनेन्द्रियेणार्थो गृह्यते तत्र–तत्र सा।
शिवता लक्षिता सत्या तद्ध्यानमिति वर्ण्यते।। (शि.दृ.७–७६)

२८–परमगुरुपादैरपि शिवदृष्टौ :–
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतित्त्या दृढात्मना।।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणादिना।।
सर्वदा पितृमात्रादितुल्यदार्ढ्येन सत्यता ।। (ई.प्र.वि.१–१–१)

के द्वारा पुनः–पुनः मनन करने के अभ्यास से ही किया करते हैं, उपरोक्त याग, होम, जप आदि के द्वारा प्रायः नहीं करते हैं। वेदान्तसार नामक ग्रन्थ में उस भागत्याग लक्षणा का जो निरूपण किया गया है, वह तो शैवी साधना के उपरोक्त ज्ञानयोग के साथ तुलना करने पर एक द्रविड़–प्राणायाम सा ही प्रतीत होता है। वह अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाओं का एक भीषण और गहन वन जैसा दीखता है। उस वन में फंस करके साधक को चिरकाल तक उसी में भटकना पड़ता है। उसमें से निकलना उसके लिए अतीव कठिन हो जाता है। इसके विपरीत शैवी साधना का ज्ञानयोग अतीव सरल, सुबोध, सुगम और सरस है।

आणव उपाय

जिन साधकों की चेतना पर मलों का अधिक जमाव हो और इस कारण से जिनका चित्त इस ज्ञानयोग नामक शाक्त उपाय पर नहीं टिक सकता हो, उनके लिए काश्मीर शैव दर्शन के त्रिक आचार में आणव–उपाय का उपदेश किया गया है। इस आणव–उपाय के आणवयोग, क्रियायोग, क्रियोपाय, भेदोपाय आदि नाम भी होते हैं[२६]। वह तो ऊपर कहा गया कि शाम्भव उपाय में चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता, जिस पर उसे स्थिर करना हो वह उपाय निरालम्बन ही होता है । उसमें चित्त का लय ही हो जाता है। शाक्त उपाय में चित्त का निर्मलीकरण किया जाता है । उसमें चित्त काम करता है, परन्तु उसका आलम्बन आत्मपरमेश्वर ही बना रहता है; क्योंकि इस उपाय के भिन्न–भिन्न प्रकारों में या तो अपने वास्तविक स्वरूप का या अपने वास्तविक स्वभाव का ही प्रधानतया विमर्शन किया जाता है। बहुत विरले ही महाहपुरुष इन दो योगों के अधिकारी हुआ करते हैं। आणवउपाय में चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना के द्वारा उन वस्तुओं को आत्मपरमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है। इस तरह से आणव

२६–यदा तूपायान्तरमसौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपानुपायत्वेन गृह्णन्नणुत्वं प्राप्त आणवँ ज्ञानमाविर्भावयति।। (तं.सा.पृ.३५)

योग भी शाक्त योग में ही परिणत हो जाता है। परन्तु शाक्त योग में शुद्ध विकल्परूपी ज्ञान–अंश की ही प्रधानत होती है और इस आणव योग में प्रमेय वस्तु की धारणा रूपी क्रिया के अंश की ही प्रधानता होती है। शाक्तयोग में आत्मतत्त्व के सर्वत्र छा जाने का अभ्यास किया जाता है। उसमें समस्त विश्व का सामान्य रूप से ही विमर्शन होता है और उसे आत्मरूप ही देखने का अभ्यास किया जाता है। उस आणवयोग में एक–एक प्रमेय पदार्थ को पृथक्–पृथक् धारणा में ठहराकर उसे अद्वैत स्वात्मस्वरूप शिवभाव में ठहराने की भावना का अभ्यास किया जाता है। इस तरह से इस आणव–उपाय में प्रमेय वस्तु के प्रति धारणात्मक क्रिया का अंश ही प्रधान रहता है और ज्ञान का अंश अप्रधान होकर रहता है। इसीलिए इस आणव–उपाय को ज्ञानयोग न कहकर क्रियायोग ही कहा जाता है। धारणा भी तो मानसी क्रिया ही होती है। पातञ्जल योगदर्शन में ध्यान, धारणा और समाधि से निचले–तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधानरूपी योग के अंगों को क्रियायोग कहा गया है[३०]। शैव शास्त्र में तो प्रमेयोन्मुख ध्यान आदि को भी क्रियायोग में ही गिना जाता है । क्योंकि ये तीन अंग भी तो मन की क्रियाएं ही होती हैं। भावना भी यद्यपि मानस क्रिया ही होती है, परन्तु उसमें क्रियात्मक यत्न का अंश ढीला पड़ जाता है और जानने का अंश प्रधानतया उभर आता है । इच्छा योग में तो जानने का अंश भी ढीला ही पड़ जाता है और अपनी स्वाभाविक स्थिति में ठहरने के प्रति चाहने का अंश प्रधानतया चमक उठता है ।

ध्यान

आणव उपाय में चित्त के आलम्बन अपने स्वरूप और अपने स्वभाव से अन्य पदार्थ ही बनते है। इसी कारण इस उपाय को भेदोपाय भी कहा जाता है। ये अन्य पदार्थ मुख्यतया चार होते हैं– (१) साधक की बुद्धि, (२) साधक के प्राण, (३) साधक का देह, और

३०–तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (यो.सू.२–१)
समाधिभावनार्थः क्लेशतनकरणार्थश्च।। (यो.सू.२–२)

(४) बाह्य प्रमेय जगत् [३१]। बुद्धि को आलम्बन बनाकर जिस धारणा का अभ्यास किया जाता है उसे ध्यानयोग कहते हैं । इस ध्यानयोग नामक आणव उपाय में साधक को पहले प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, इन तीन को भावना के द्वारा संघट्टात्मक एकरूपता में देखना होता है। उससे आत्मदेव का भैरवात्मक संवित्–तेज प्रज्वलित हो उठता है। तदनन्तर साधक को (आगे चौदहवें प्रकरण में अंक १६ के साथ–साथ स्पष्ट किए जाने वाले और) इन्द्रियों के मार्गों से बाहर निकलने वाले द्वादश–महा–काली स्वरूप अपने शक्तिचक्र के द्वारा समस्त भावराशि को ग्रहण करके, अपने में ठहराकर और भावना द्वारा आत्मदेव के उस संवित्तेज में गलाकर उसे अनुत्तर संवित् के साथ सर्वथा एक कर देने का अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास से साधक को सृष्टि–संहार आदि ईश्वरीय कृत्यों के प्रति अपने स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। उसके अभ्यास से उसे शीघ्र ही अपने स्वाभाविक भैरवभाव की अनुभूति के द्वारा परिपूर्ण शिवभाव का आणव समावेश भी हो जाता है[३२] और शाक्तयोग की साधना के प्रति योग्यता भी उसे प्राप्त हो जाती है। इस तरह का शैवी साधना का यह ध्यानयोग पातञ्जल योग के ध्यान से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है ।

३१–(क) विकल्पः कस्यापि स्वयमनुपयन् पूर्णमयताम्
उपायात् संस्कारं व्रजति स उपायोऽत्र बहुधा।
धियि प्राणे देहे तदनु बहिरित्याणवतया
स निर्णीतो नैषां परफलविधौ कापि हि भिदा।।

(तं.सा.पृ.४३)

(ख) उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।।

(मा.वि.तं.२–२१)

३२–(क) तत्र प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपस्य वह्नयर्कसोमत्रितयस्य संघट्टं ध्यायेत्, यावदसौ महाभैरवाग्निः ध्यानवातसमिद्धाकारः सम्पद्यते।

(तं.सा.पृ.३६)

उच्चार

प्राण–धारणा का यह प्रकार होता है–पुरुषतत्त्व पर और पांच प्राणों पर भावना द्वारा विश्रान्ति के अभ्यास से क्रम से निजानन्द आदि छः आनन्दभूमिकाओं की पहले अनुभूति हो जाती है[३३]। उनमें से केवल प्रमातृतत्त्व पर अथवा पुरुषतत्त्व पर विश्रान्त हो जाने से जिस आनन्द की अभिव्यक्ति हो जाती है, उसे (१) निजानन्द कहते हैं[३४]। तदनन्तर उसकी विषयशून्यता की भावना से (२) निरानन्द नामक आनन्द अभिव्यक्त हो उठता है [३५]। फिर प्राण के उदय होने पर उसी की प्रमेयता के भीतर अपान द्वारा अनन्त प्रमेयों के भरे जाने से प्राण और अपान पर विश्रान्ति का अभ्यास करने से जिस आनन्द की अभिव्यक्ति होती है, उसे (३)परानन्द कहते हैं[३६]। फिर प्रकाशमान होते हुए अनन्त प्रमेय पदार्थों के एकाकार संघट्ट रूपी समान प्राण पर विश्रान्ति के अभ्यास से एक और प्रकार का आनन्द अभिव्यक्त हो जाता है। उसे (४) ब्रह्मानन्द कहते हैं[३७]। तदनन्तर साधक प्रमाणों और प्रमेयों की समस्त कल्पनाओं को

(ख) तद्द्वादशमहाशक्तिरश्मिचक्रेश्वरं विभुम्।
व्योमभिर्निः सरद्बाह्ये ध्यायेत् सृष्टयादि भावकम्।।
तद्ग्रस्तसर्वबाह्यान्तर्भावमण्डलमात्मनि।
विश्राम्यन् भावयेद्योगी स्यादेवं स्वात्मनः प्रथा।।
(तं.सा.पृ.३७)

३३–(क) देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (यो.सू.३–१)
(ख) तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम् । (तदेव ३–२)
(ग) तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (तदेव ३–३)

३४–निजानन्दे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरा स्थितिः। (तं.आ.५–४४)

३५–शून्यतामात्रविश्रान्तेर्निरानन्दं विभावयेत्। (तदेव ५–४४)

३६–प्राणोदये प्रमेये तु परानन्दं विभावयेत् ।
तत्रानन्तप्रमेयांशपूरणापाननिर्वृतः।।
परानन्दगतस्तिष्ठेद् अपानशशिषोभितः। (तदेव ५–४५, ४६)

३७–ततोऽनन्तस्फुरन्मेयसंघट्टैकान्तनिर्वृतः
समानभूमिमागम्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत्।। (तदेव ५–६४,४७)

आत्मस्वरूप में ही विलीन करता हुआ जब उदान नामक प्राण पर विश्रान्त हो जाता है, तो (५) महानन्द नामक आनन्द का अनुभव करता है [३८]। तदनन्तर उपाधिशून्य, असीम तथा जाड्य शून्य व्यान नामक प्राण पर विश्रान्ति के अभ्यास से (६) चिदानन्द का अनुभव हो जाता है । इस आनन्द में जड़ता के अंश का आश्रयभाव या आलम्बनभाव सर्वथा मिट ही जाता है[३९]। इन छः आनन्द भूमिकाओं की अनुभूति के अभ्यास के अनन्तर साधक अपनी प्राणशक्ति को जब परिपूर्ण रूप में देखने लगता है, तो उसे उस आनन्द की अभिव्यक्ति हो उठती है, जिसमें किसी भी प्रकार का कोई भी व्यवच्छेद (सीमितता) नहीं होता है, जो सर्वतः, अर्थात् जड़, चेतन आदि समस्त विश्व में ही चमक उठता है, जो असीम तथा परिपूर्ण संवेदनारूपी परम अमृत से भरा हुआ था बढ़ा हुआ होता है और जिसमें धारणा, भावना आदि की स्थिति भी विलीन ही हो जाती है। इस सर्वतः तथा सर्वथा असीम और परिपूर्ण आनन्द को (७) जगदानन्द कहते हैं[४०]। हृदय में प्राण के उच्चार के साथ–साथ इस जगदानन्द की अवस्था में पर्यन्ततः विश्रान्त होने के अभ्यास को शैवी साधना में उच्चार–योग अर्थात् प्राण–योग कहते हैं । इस योग की सिद्धि के पांच प्रकार के बाहरी लक्षण प्रकट हो जाते हैं। उनमें पहला लक्षण है।

३८–ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः।
उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावयेत्।। (तं.आ.४७,४८)

३९–निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता।
तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः।। (तदेव ४२)

४०–यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत्।
यदनाहतसंवित्ति परमामृतबृंहितम्।
यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संस्थितिः।।
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरूचिवान्।
तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः।। (तदेव ५–५० तः ५२)

४१–अत्र भावनया देहगतोपायैः परे पथि।
विविक्षोः पूर्णतास्पर्शात् प्राणानन्दः प्रजायते।। (तदेव ५–१०१)

(१) आनन्द की अनुभूति[४१]। दूसरे लक्षण को उद्भव कहते हैं। यह उद्भव एक प्रकार की (२) प्लुति (उछलना)[४२]होती है। तीसरा लक्षण (३) कम्प (अर्थात् थरथराहट) होता है[४३]। चौथे लक्षण का आकार (४) निद्रा होती है [४४]। पांचवें लक्षण को घूर्णि[४५] कहते हैं। प्राण को आलम्बन बनाकर जो शैवी साधना त्रिक शास्त्र में कही गई है, उसका यही स्वरूप है। अतः इसे प्राणायाम नहीं समझना चाहिए। प्राणायाम को ब्राह्म साधना में ही गिना जा सकता है। समावेश को सिद्ध करने वाली अन्तःसाधना में उसे नहीं गिना जाता। भारत के प्रायः सभी दर्शन आनन्द को ही परम उपादेय मानते हैं। परन्तु आनन्द की उपरोक्त छः भूमिकाओं के भेद के कारण उन–उन दर्शनों में परस्पर पर्याप्त भेद है। वेदान्त का ब्रह्मानन्द तो शैव दर्शन की दृष्टि में आनन्द की चौथी ही भूमिका है। परम आनन्द को महानन्द नामक पांचवीं भूमिका में गिना जा सकता है। वेदान्तियों की सर्वोच्च आनन्द–अनुभूति अधिक से अधिक चिदानन्द भूमिका हो सकती है। वे भी जगदानन्द नामक असीम और परिपूर्ण आनन्द की अपेक्षा एक क्षुद्र और तुच्छ सी भूमिका सिद्ध होती है। आनन्द की अनुभूति के इस घेर ही के कारण वेदान्त शास्त्र अजातवाद पर ही ठहर जाता है और शैव शास्त्र परिपूर्ण परमेश्वरता के दिव्यातिदिव्य स्वातन्त्र्य में विचरण करता है। अजातवाद का आश्रय चिदानन्द की अनुभूति है और परिपूर्ण स्वातन्त्र्यसिद्धान्त का आश्रय जगदानन्द का चमत्कार है। आनन्दानुभूतियों से भरे हुए शैवी साधना के इस उच्चार योग के अभ्यास में शिवभाव का आणव समावेश भी हो जाता है और बुद्धिधारणा के प्रति योग्यता भी साधक में आ जाती है ।

४२–ततोऽपि विद्युदापातसदृशे देहवर्जिते।
धाम्नि क्षणं समावेशाद् उद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः।। (तं.आ.५–१०२)
४३–जलपांसुवदभ्यस्तसंविद्देहैक्यहानितः।
स्वबलाक्रमणादेहशैथिल्यात् कम्पमाप्नुयात्।। (तं.आ.५–१०३)
४४–गलिते देहतादात्म्यनिश्चयेऽन्तर्मुखत्वतः।
निद्रायते पुरा यावन्न रूढः संविदात्मनि।। (तं.आ.५–१०४)
४५–ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदतम्।
संविदन् घूर्णते घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता।। (तं.आ.५–१०५)

करण और ध्वनि

शैवी साधना की देहधारणा को करण–योग कहते हैं । यह योग अणवोपाय में अवरोहक्रम में तीसरे स्तर का होता हैं । इस धारणा में साधक अपने देह में तथा देह के भिन्न–भिन्न नाड़ी चक्रों में समस्त ब्रह्माण्ड की भावना करता हुआ और फलतः इन्हें स्वात्म परमेश्वर के ऐश्वर्य के ही रूप में सर्वव्यापक भाव में देखता हुआ अन्ततोगत्वा इन्हें परिपूर्ण स्वात्म परमेश्वर के ही रूप में साक्षात् अनुभव करता है[४६]। इस देहधारणा ही के भीतर कुण्डलिनी योग को गिना जा सकता है। अन्य शास्त्रों में कुण्डलिनी योग का स्थान बहुत ऊंचा माना गया है। परन्तु शैवी साधना में इसे आणव–योग के तीसरे सोपान पर ही माना गया है। इससे ऊंचे दो सोपान और हैं और उनसे भी उत्कृष्ट शाक्त योग और शाम्भव योग हैं। इस कारण योग में देह शब्द से स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सभी देह लिए जाते हैं। इसीलिए तो ग्राह्य–ग्राहक, सन्निवेश आदि सात प्रकार के आलम्बनों को लेकर करण धारणा का अभ्यास किया जाता है। इस करण योग में मुद्राओं का भी प्रयोग किया जाता है । मुद्राओं के अभ्यास की सहायता से इस करण योग से एक सोपान नीचे ध्वनि योग होता है। इसको वर्ण योग भी कहते हैं। प्राणशक्ति के प्रभाव से देह के भीतर एक विचित्र नाद होता है[४७]। उसे प्राणी कानों को बन्द करके सुन सकता है। इस नाद पर भी आणव योग का अभ्यास किया जाता है। उससे भी साधक को शिवभाव का समावेश हो जाता है। समस्त वर्णों के सामरस्य की ध्वनि ही यह नाद होता है। इसके अभ्यास में सृष्टिबीज और संहारबीज नामक वर्णात्मक ध्वनियों का भी

४६–इह ग्राह्यादिभिः सप्तभिः प्रकारैर्भिन्नं करणं नाम बोधपूर्वकमभ्यासं प्राहुः। बोध्यन्यग्भावेन स्वात्मैकतानतामापन्नं बोधमव कथितवन्त इत्यर्थः। (तं.आं.वि.५–१२६)

४७–अस्मिन्नेवोच्चारे स्फुरन् अंव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः।.... तदभ्यासात् परसंवित्तिलाभः। (तं.सा.पृ.४२)

चिन्तन किया जाता है। राधास्वामी सम्प्रदाय में इस योग की महिमा बहुत बड़ी मानी गई है। वैसे यह साधना सभी आणव साधनाओं में सबसे अधिक सरल और सुकर होती है। इसमें बिना ही विशेष यत्न के नाद पर चित्त एकाग्र हो जाता है। नाद का स्वरूप धीरे–धीरे बदलता हुआ दस आकारों में प्रकट हो जाता है। इसका दसवां रूप ढक्का नाद होता है। कबीर आदि सन्तों ने इसी का "बाजत अनहद डोल रे" ऐसा–ऐसा वर्णन करते हुए उसे अनहद नाद कहा है। शैवी साधना में इस अनहद नाद के साथ शिवभाव की भावना का अंश जोड़ देने से इसके द्वारा शिव समावेश हो जाता है। अन्य सम्प्रदायों के मार्ग से शून्यभाव पर ही विश्रान्ति हो जाती है, शिवभाव पर नहीं। क्योकि वहां भावना के अंश की कमी रहती है।

स्थान–कल्पना

जो साधक बुद्धि, प्राण और देह पर या नाद पर भी चित्त को न ठहरा सकें, तथा जिन्हें बाह्य धारणा में ही अधिक रूचि हो, उनके लिए शैव में बाह्य विषयों की धारणा का उपदेश भी किया गया है। आणवी साधना के इस योग को स्थान कल्पना कहते हैं। ये स्थान मुख्यतया तीन होते हैं–(१) प्राणवायु, स्थूल शरीर और बाह्य जगत्[४८]। उपरोक्त प्राणधारणा का विषय प्राणशक्ति की प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूप भूमिकाएँ होती हैं, परन्तु स्थान कल्पना के साथ जिस प्राणवायु का सम्बन्ध है, वह नासिका के छिद्र से बारह अंगुल बाहर के आकाश से शरीर के भीतर हृदय तक सञ्चार करने वाला प्रश्वास–निःश्वास रूपी प्राण होता है। इन दो स्थानों को बाह्य द्वादशान्त और आन्तर द्वादशान्त कहते हैं। इन दो द्वादशान्तों के भीतर प्राण और अपान के सञ्चार पर धारणा लगा कर दोनों स्थानों पर प्राण और अपान की विश्रान्ति के क्षण में शून्य भाव की भावना की जाती है[४९]। उसके अभ्यास से भी धीरे–धीरे चित्त

४८–अथ बाह्यविधिः । स एव स्थानकल्पनशब्देनोक्तः।
तत्र त्रिधा स्थानम्––प्राणवायुः, शरीरं, बाह्यं च । (तं.सा.)

४९–यथा–यथा यत्र–यत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्।। (वि.भै.५१)

के विकल्पों का क्षय होने लगता है और आणव समावेश भी हो जाता है। इस तरह से प्राण और शरीर की स्थान कल्पना का अभ्यास एक साथ ही होता है। आगे बाह्य विषय की धारणा आती है।

षडध्व धारणा

अध्वा (शिवभाव को पहचानने का आणव मार्ग) दो प्रकार का होता है। वे दो प्रकार होते हैं शब्द और अर्थ। इन्हें ही वेदान्त में नाम और रूप कहा गया है। शब्द के तीन प्रकार होते हैं वर्ण, मन्त्र और पद तथा अर्थ के तीन प्रकार होते हैं कला, तत्त्व और भुवन। इन दो त्रिकों को त्रिक शास्त्र में क्रम से कालाध्वा और देशाध्वा कहते हैं। दोनों तीन–तीन प्रकार के होते हैं; अतः इन छः की धारणा को षडध्व धारणा कहते है। काल के सूक्ष्मतर भाग को क्षण कहते हैं। क्षण का परिमाण कितना होता है, कुछ निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता है। कालिक व्यवहार क्रमिकता पर आश्रित रहता है। सूक्ष्मक्रम चित्त के परिस्पन्दों का होता है। तो जितनी देर चित्त का एक परिस्पन्द अर्थात् एक ज्ञान या विचार या संकल्प, विकल्प आदि ठहरता है, उतना काल एक क्षण होता है[४९]। जाग्रत, स्वप्न आदि दशाओं में चित्त गति भिन्न–भिन्न प्रकार की होती है। जाग्रदवस्था में मन्द होती है, और स्वप्न अवस्था में त्वरित होती है। सुषुप्ति में इतनी तीव्र होती है, कि चित्त पहिए की नाभि की तरह स्थिर ठहरा हुआ सा प्रतीत होता है। तुरीया में तो इससे भी अधिक तीव्र होती हैं परन्तु इस विषय में एक बात स्मरणीय यह है कि इन दो दशाओं में काल की कलना का स्फुट आभास नहीं होता, क्योंकि वहां तीव्रतर वेग के कारण क्रमरूपता का ही आभास नहीं होता है। परन्तु जिस तरह कमल के सौ पत्तों को सूई से बींधने में भी क्रम तो होता है, यद्यपि उसका आभास नहीं होता; उसी तरह दो दशाओं में भी क्रम होने के

४९–कालस्तु भेदकस्तस्य स तु सूक्ष्मः क्षणो मतः।
सौक्ष्म्यस्य चावधिर्ज्ञानं यावत्तिष्ठति स क्षणः।। (तं.आ.७–२५)

कारण काल होता तो है, परन्तु कालकलना वहां नहीं होती। इसी कारण उस काल को "अकल्यः कालः"[५२] कहा गया है। तो समझिए कि वह काल अति सूक्ष्म होता है। काल की गणना क्षण से आरम्भ होती है। क्षण की अवधि का नियामक ज्ञान होता है। ज्ञान सदैव शब्दात्मक ही होता है। अतः काल की धारणा शब्दमयी मानी गई है। शब्द का पर रूप वर्ण होता है। वर्ण संयोग से मन्त्र अर्थात् बीज मन्त्र बनते हैं। मन्त्रों के समाहार से पद बनते हैं। इन तीन प्रकार के विमर्शों द्वारा साधक क्षण, घटिका, प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर कल्प आदि को भावना द्वारा व्याप्त कर लेता है। वह अपने एक–एक प्राण संचार में इन विशाल और विशालतर काल भागों का समावेश करता हुआ धीरे–धीरे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, श्रीकण्ठनाथ, अनन्तनाथ, ईश्वर, सदाशिव आदि तत्त्वेश्वरों के काल को दृढ़ भावना द्वारा व्याप्त कर लेता है[५३]। इस योग के सिद्ध हो जाने पर वह काल के संकोच से मुक्त हो जाता है और अकाल परमशिव की परमेश्वरता के समावेश का अनुभव करने लगता है।

छत्तीस तत्त्वों के सूक्ष्म आकार निवृत्ति से लेकर शान्त्यतीता तक की पांच कलाएँ होती हैं। एक–एक कला में कई–कई भुवन माने गए हैं। उन भुवनों की संख्या एक सौ अट्ठारह मानी गई है। साधक इन कलाओं को, तत्त्वों को और भुवनों को लेकर धारणा लगाता है। वह भावना द्वारा उस–उस भुवन आदि का परिपूर्ण परमशिव के ही रूप में साक्षात् अनुभव कर लेता है। साधक समस्त देश अध्वा को शरीर में,

---

५१–(क) यत्तत् सामनस्यं साम्यं तद् ब्रह्म। अस्मात् सामनस्यात् अकल्यात् कालान्निमेषोन्मेषमात्रतया प्रोक्ता शेषकालप्रसरविलय–चक्रभ्रमोदयः। (तं.सा.पृ.५६)

(ख) एवमसंख्याताः सृष्टिप्रलयाः एकस्मिन् महासृष्टिरूपे प्राणे, सोऽपि संविदि, सा उपाधौ, स चिन्मात्रे । चिन्मात्रस्यैवायं स्पन्दो यदयं कालोदयः। (तं.सा.पृ.५७)

५२–अखिलं कालाध्वानं प्राणोदय एव पश्यन् सृष्टिसंहारांश्च विचित्रान् निः–संख्यांस्तत्रैव आकलयन्, आत्मनं एव पारमैश्वर्यं प्रत्यभिजानन् मुक्त एव भवति। (तं.सा.पृ.६१)

शरीर को प्राण में, प्राण को बुद्धि में, बुद्धि को शून्य में और शून्य को संवित् में भावना द्वारा विलीन करने के अभ्यास से अपनी परिपूर्ण संवित्स्वरूपता को पहचान लेता है[५३]। ऐसा करने से शिवभाव के समावेश का अनुभव भी करता है। और साथ ही देशकृत संकोच से छुटकारा पा जाता है। इस तरह से षडध्व धारणा से देशकालकृत संकोच मिट जाता है। तत्त्व दो प्रकार के होते हैं। छत्तीस तत्त्वों को प्रमेय तत्त्व कहते हैं और सात प्रमाताओं को प्रमातृतत्त्व कहते हैं। साधक सकल प्रमाता से लेकर अकल प्रमाता तक सात प्रामतृवर्गों को और उनकी सात शक्तियों को अपने ही स्वरूप में देखता हुआ इन चौदह को भावना के द्वारा व्याप्त कर लेता है। इस पञ्चदशी विद्या [५४] कहते हैं। फिर सकल को छोड़कर प्रलयाकल से लेकर छः प्रमातृवर्गों और छः शक्तियों को अपने स्वरूप द्वारा व्याप्त करने का अभ्यास करता है। इसे त्रयोदशी विद्या कहते है। इसी तरह से वह एकादशी, नवमी, सप्तमी आदि विद्याओं के अभ्यास द्वारा शिवभाव के समावेश का अनुभव करता है। इस तरह से भी तत्त्व–अध्वा की धारणा की जाती है। आगे भर्त्रि, लिंग, स्थन्द्रिल, चित्र, पुस्तक, यन्त्र आदि भी स्थान कल्पना के अभ्यास के आलम्बन बन जाते हैं। ये ही बाह्य आलम्बन कहलाते हैं।

५३–तं समस्तमध्वानं देहे विलाप्य, देहं च प्राणे, तं धियि, तां शून्ये, तत् संवेदने, निर्भरपरिपूर्णसंवित् सम्पद्यते।। (तं.सा.पृ.६३)

५४–(क)शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्व विभिद्यते।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा।।
शिवादिसकलात्मान्तः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः।
तच्छक्तयश्च विज्ञेयास्तद्वदेव विचक्षणैः।। (मा.वि.तं.२–२,३)
(ख) अनेनैव विधानेन पुंस्तत्त्वात्तु कलान्तिकम्।
त्रयोदशविधं ज्ञेयं रुद्रवत् प्रलयाकलाः।।
तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवलाः।।
मन्त्राः सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा मन्त्रनायकाः।।
त्रिधा मन्त्रेश्वरेशानाः शिवः साक्षान्न भिद्यते।।
(तदेव २–५ तः ७)

शैवी साधना की इन उपरोक्त समस्त धारणाओं का और शाक्त योग तथा शाम्भव योग का अभ्यास सुखपूर्वक और कष्टमय प्रयत्नों के बिना तथा बिना किसी आयास के किया जाता है। योग के इस सुगम प्रकार को ही आ० उत्पलदेव ने सुघट और नया मार्ग कहा है। समावेश का अभ्यास तो एकदम नया ही है, क्योंकि प्राचीन योग ग्रन्थों में उसका वर्णन नहीं आया है[५२]। इस सुघटता ही के कारण इन साधनाओं के अभ्यास को सन्तों की भाषा में राजयोग कहते हैं। इन समस्त धारणाओं का उल्लेख और सङ्केत त्रिक आदि आगमों में किए गए हैं। उन आगमों के सार को आचार्य अभिनवगुप्त ने निचोड़कर तन्त्रालोक की रचना की हैं। तन्त्रालोक तो त्रिक मार्ग की शैवी साधनाओं के ज्ञान का एक अपूर्व निधि है।

स्थानकल्पना नामक साधनाओं से नीचे उतर पड़ें, तो दीक्षा, द्रव्ययाग, द्रव्यहोम असंख्य क्रियाओं का समूह आता हैं। जन साधारण के लिए प्रायः यह स्थूल क्रियाकलाप ही अधिक उपयोगी होता है; क्योंकि उनकी रूचि योगसाधना की अपेक्षा स्थूल और बाह्य क्रियाओं में ही अधिक होती है। इसीलिए तन्त्रालोक में इन क्रियाओं के प्रपञ्च का भी बडें ही विस्तार से प्रतिपादन किया गया हैं उनमें कुछ एक क्रियाएँ अतीव आश्चर्यजनक भी हैं। जैसेः– (१) प्राणोत्क्रमण दीक्षा, जिससे शिष्य का शरीर सद्यः छूट जाता है और तदनन्तर ही वह अशरीर मोक्ष को प्राप्त करता है। (२) मरणासन्न शिष्य की दीक्षा, (३) मरे हुए शिष्य को जालन्धर प्रयोग नामक क्रिया द्वारा ढूंढ़ निकालना और वह जहां हो वहीं पर दीक्षा द्वारा उसका उद्धार करना, (४) यहां बैठे ही लोकान्तर में ठहरे हुए शिष्य की दीक्षा इत्यादि। इन क्रियाओं के रहस्य को जानने वाला, तथा इन क्रियाओं को करने की सामर्थ्य रखने वाला गुरु वर्तमान युग में

५२–इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।
तदत्र निदधत् पदं भुवनकर्तृतामात्मनो
विभाव्य शिवतमयीमनिशमाविशन् सिद्धयति।।

(ई.प्र.४–१–१६)

कोई नहीं मिल रहा है। दीक्षा के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के शैवी कृत्यों का निरूपण तन्त्रालोक में किया गया है। संसार के मानव सारे के सारे मुमुक्षु ही होते हैं। उनमें अधिकांश बुभुक्षु ही होते हैं। अतः उन्हें मुक्त के मार्ग की अपेक्षा भुक्ति के मार्ग की ही अधिक आवश्यकता होती है। इसी कारण शैव आगमों में तथा शिवदृष्टि जैसें दर्शन शास्त्रों में जीवन के व्यावहारिक और सांसारिक प्रयोजनों को प्राप्त करने के उपायों का भी पर्याप्त वर्णन किया गया है। ज्ञान दान की दीक्षा के अतिरिक्त ज्ञानाहरण की दीक्षा का भी निरूपण शैव शास्त्रों में मिलता हैं सामर्थ्यवान् गुरु प्रसन्न होकर शिष्य को ज्ञान दान भी दे देता है और अप्रसन्न हो जाए तो उसके ज्ञान का आहरण भी कर सकता है। आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व के समय तक कश्मीर मण्डल में ऐसे सामर्थ्यवान् गुरु होते थे, जो ज्ञान दान भी कर सकते थे और ज्ञान का आहरण भी कर सकते थे। इस तरह से अनुग्रह और निग्रह दोनों कार्यों में उनकी शक्ति सफलतापूर्वक चलती थी। वे अपने भक्तों को जीवन के व्यावहारिक छल भी दे सकते थे और पारमार्थिक भी। इस देश में वर्तमान युग में भी दिव्य शरीरों में ठहरे हुए मुक्त शिवों के सञ्चार की कोई कमी नहीं। नयूनता हो गई है केवल योग्य अधिकारियों और सच्चे जिज्ञासुओं की। अस्तु।

त्रिक आचार की इस आणव उपाय से लकर अनुपाय तक की समस्त साधना को काश्मीर शैव दर्शन में योग कहा गया है। पातञ्जल योग दर्शन में चित्त की सभी वृत्तियों अर्थात् व्यवहारों को बन्द करना होता है[५६]। वेदान्त की निरोध समाधि में भी ऐसा ही करना होता हैं परन्तु इस शैवी साधना में चित्तवृत्तियों का बलात्कार से निरोध करना साधक के लिए उपयुक्त नहीं माना गया है। इस शास्त्र की दृष्टि में ऐसा करने से चित्त के अधिक विभ्रान्त और चञ्चल हो जाने का बहुधा भय रहता है[५७]। अतः शैवी साधना में आरम्भतः चित्त की वृत्ति को शिव भाव की भावना के प्रति लगाया जाता है। जब उस भवना का अभ्यास परिपक्व हो जाता है, तो भावना की सहायता के बिना ही

५६–योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो.सू.१–२)

५७–स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धते।
तेषां तत् खण्डना योगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः।। (मा.वि.वा.२–१०६)

परिपूर्ण शिवभाव का समावेश स्वयमेव ऐसे ही हो जाता है। उस अवस्था में भावना का अभ्यास भी छूट जाता है और चित्त अपनी समस्त वृत्तियों के समेत उस निर्विकल्प शाम्भव समावेश में विलीन सा हो जाता है। वृत्तियों के निरोध की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। पातञ्जल शास्त्र में चित्तवृत्ति निरोध को ही योग कहते हैं। परन्तु शैव दर्शन में जीव का शिव के साथ एकत्व हो जाना ही योग कहलाता है [५८]। इस एकत्व को प्राप्त करने के जो उपाय होते हैं, उनको भी इस दर्शन में योग कहते हैं। इसी कारण त्रिक आचार के तीनों उपाय योग कहलाते हैं। यदि और भी किसी उपाय से जीव और शिव में एकत्व हो जाए, तो उस उपाय को भी योग कहा जा सकता है। इस दर्शन में उपाय उस साधना को कहते हैं, जिसका पहले उपादान करके पश्चात् परित्याग किया जाता है[५९]। आणव आदि उपायों का पहले उपादान किया जाता है। परन्तु समावेश के सिद्ध हो जाने पर उनका परित्याग भी किया जाता हैं। शैवी साधना के इन उपायों का संक्षिप्त दिग्दर्शन आ० अभानिवगुप्त के तंत्रसार में भी किया गया है।

५८–योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना। (मा.वि.तं.४–४)
४९–उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते। (तं.आ.खं.३,पृ.४६)

१४

शाक्त–दृष्टि

शैव और शाक्त

यह पहले कहा जा चुका है कि परमशिव की परमेश्वरता एक साथ ही दो प्रकार से अभिव्यक्त हुआ करती है। एक प्रकार होता हैं विश्वोत्तीर्णता का और दूसरा होता है विश्वमयता का। वह परमेश्वरता इस दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति में ही पूरी तरह से चमक उठती है। विश्वोत्तीर्णता परमशिव की अचलता और कूटस्थता होती है और विश्वमयता उसकी स्पन्दमानता, चलत्ता, ईश्वरता आदि है। हैं दोनों वस्तुतः एक ही। इन दोनों प्रकारों की अस्तिता का अनुपम और परिपूर्ण सामरस्य ही परमशिव या परमेश्वर होता है। उसकी अभिव्यक्ति के ये दो प्रकार ही शिव और शक्ति कहलाते हैं। शिव शक्ति से रहित और भिन्न कभी नहीं होता और शक्ति शिव से रहित और भिन्न कभी नहीं होती ,दोनों परस्पर अभिन्न और एक हैं तथा समरसरूप हैं[1]। अतः विश्वोत्तीर्णता में और विश्वमयता में तथा उस विश्वमयता की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में सर्वत्र ही परमेश्वर शिव भी है और शक्ति भी है। कहीं भी वह शिवभाव या शक्तिभाव से रहित नहीं है। इसलिए प्रपञ्च में से जिस किसी भी वस्तु का यथार्थतया विचार किया जाए, वह प्रत्येक वस्तु शिवात्मक भी है और शक्तिमय भी है। इस प्रपञ्च में अभेद, भेदाभेद और भेद नाम की तीन भूमिकाएँ होती हैं। शिव अनन्त रूपों में अनन्त प्रकार के वैचित्र्य से इन

१–(क) न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान्।।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।। (शि.दृ.३–२,३)
(ख) न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग् भवेत्।(तदेव)
(ग) न बह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने।। (वि.भै.१६)

तीन भूमिकाओं में अवरोहण और आरोहण करता रहता है। उसकी इस अवरोहण लीला का तथा आरोहण लीला का साधन उसकी अपनी स्वभावभूत शक्ति ही है। फिर साधक साधना के द्वारा अपने आप को तभी शिवरूप में विश्वासपूर्वक पहचान सकता है, जब उसे अपनी अनिरुद्ध इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की साक्षात् अनुभूति हो जाए। जब साधक को इस बात का अनुभव हो जाए, कि वह जो चाहता है, सो जान सकता है और कर भी सकता है; तभी उसे विश्वास हो सकता है कि वह सचमुच शिव है। इस तरह अपनी शक्ति के साक्षात् दर्शन से ही अपनी शिवता को पहचाना जा सकता है तो शक्ति मानो शिव का मुख है[२]। प्रायः मुख की आकृति से ही व्यक्ति को पहचाना जाता है। शिव का सामर्थ्य शक्ति ही है और शिव की शिवता भी वही है। शक्ति भी शिव की ही है, और किसी की भी नहीं है। वह स्वतन्त्र भी नहीं है[३]। जिस तरह से आग और दहनशक्ति दोनों वस्तुतः एक हैं, उसी तरह से सामर्थ्य और सामर्थ्यवान् ये दोनों वस्तुतः एक हैं। इस तरह से शैव दर्शन ही शाक्त दर्शन होता हैं सिद्धान्त रूप से जिसे शैव दर्शन कहते हैं, साधना आदि प्रयोगात्मक रूप से उसी को शाक्त दर्शन भी कह सकते हैं। जो कोई भी शैव दर्शन हो, वह प्रक्रियाओं के विषय में शाक्त दर्शन ही होता हैं जो कोई भी शाक्त दर्शन हो, वह सिद्धान्त में शैव दर्शन ही होता है। अभ्यास प्रधान प्रक्रिया शास्त्रों के आचार्यों ने यदि परमेश्वर की शक्तिरूपता के प्रति अधिक श्रद्धा कहीं प्रकट की, तो शास्त्र शाक्त दर्शन दीखने लगता है। यदि ज्ञान प्रधान सिद्धान्त शास्त्रों के आचार्यों ने कहीं परमेश्वर की शिवरूपता के प्रति अधिक श्रद्धा प्रकट की, तो शास्त्र शैव दर्शन प्रतीत होता है। वस्तुतः दोनों एक हैं। आ० सोमानन्द ने शिवदृष्टि के तीसरे आह्निक में विस्तारपूर्वक इस सिद्धान्त

२–शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपी स्याच्छैवी मुखमिहोच्यते।।
यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये।। (वि.भै.२०,२१)

३–शक्तेः स्वतन्त्रकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिदभवेत्।।(शि.दृ.३–६)

का निरूपण किया है। भट्टप्रद्युम्न आदि जिन शक्ति के भक्तों की शाक्त कहा जा सकता था, उन्हें शिवदृष्टि की वृत्ति में आ० उल्पलदेव में "स्वयूथ्य", अर्थात् शैवों के अपने ही वर्ग के आचार्य ठहराया हैं[४] जब ऐसे–ऐसे शाक्त विचारों वाले आचार्य भी शैव ही हैं, तो फिर अशैव शाक्त किन्हें कहा जाए। अतः शैव ही शाक्त और शाक्त ही शैव होते हैं।

शाक्त दृष्टि

शिव की जो कोई भी उपासना की जाए, वह उसकी किसी न किसी शक्ति की ही की जा सकती है। उपासना के लक्ष्य बनने वाले समस्त पतिप्रमाता पारमेश्वरी शक्ति के ही भिन्न–भिन्न व्यक्त रूप होते हैं। भगवान् उमापतिनाथ आदि जिन–जिन शिव के अवतारों की पूजा आदि की जाती है, वे सब के सब शिव की शक्ति ही की अभिव्यक्ति के रूप होते हैं। शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक जितना भी प्रपञ्च है, वह सारे का सारा शिव की शक्तियों की ही अभिव्यक्ति का विकास हैं ब्रह्मा, विष्णु आदि पांचकारण भी शिव की पांच सृष्टि, स्थिति आदि शक्तियों ही के मूर्त्त शरीर होते हैं[५]। समस्त विश्व शिव के शुद्ध प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्ब की तरह ही आभासित होता रहता है। उस प्रतिबिम्ब के आभास के लिए शिव को अपने से भिन्न किसी भी बिम्ब की आवश्यकता नहीं पड़ती है। शिव स्वच्छ प्रकाश है। वही इस प्रतिबिम्ब के लिए दर्पण बन जाता है। वह अपने इस प्रकाशरूपी दर्पण में अपने

४–अद्वयवादः स्थितः। पश्यन्तीविचारादनन्तरं स्वयूथ्यानद्वयवादिनः प्रतीदानीमारम्भः। तथा च तैरुक्तम्–यस्या निरुपाधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया। व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे।।इति
(शि.दृ.वृ.३–१)

५–(क) न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।
पुंस्तत्त्वे जडतां याति परे तत्त्वे तु निष्फलः।।
शक्तो मन्त्रो नियुक्तस्तु सर्वकर्मफलप्रदः।।
(तं.आ.खं.३,पृ.४५२)

(ख) ब्राह्मी नाम परास्यैव शक्तिस्तां यत्र पातयेत्।
स ब्रह्मा विष्णुरुद्राद्या तैष्णव्यादेरतः क्रमात् ।। (तं.आ.६–१७७)

ही अनन्त शक्तियों का प्रतिबिम्ब अपनी ही अनिरुद्ध इच्छा के बल से डाल देता है । यही विश्व की सृष्टि कहलाती है। इन प्रतिबिम्बों के आभास को टिकाए रखता है । यह इसकी स्थिति होती है। कभी इन्हें पुनः अपनी शक्तियों में ही विलीन कर देता है, या यों कहिए कि अपनी अनन्त शक्तियों को पुनः अपने ही भीतर समेट लेता है। उस समय उन शक्तियों के प्रतिबिम्बों का आभास मिट ही जाता है। यह विश्व का संहार कहलाता है। यह सृष्टि, संहार आदि सारे का सारा परमेश्वरता का व्यवहार भी शक्ति की अभिव्यक्ति ही होता है । इन कारणों से शैव दर्शन में शाक्तदृष्टि का महत्त्व अत्यन्त अनिवार्य होता है। किसी शाक्तदर्शन में शैव दृष्टि स्फुटतया अभिव्यक्त न भी हो, तो कोई भी अचम्भे की बात नहीं। क्योंकि साधना का सारे का सारा व्यवहार शक्तिमय ही होता है। यद्यपि वहां पर्यन्ततः उपेय तत्त्व शिव ही होता है, फिर भी उपासना के व्यावहारिक रूप में शिवता का इतना उपयोग नहीं होता, जितना शक्तिता का होता है। आ० अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में साधना के व्यावहारिक स्वरूप का वर्णन करते हुए शैवदृष्टि और शाक्तदृष्टि दोनों ही का पर्याप्त आश्रय लिया है। काश्मीर शैव दर्शन के सभी महत्त्वशाली ग्रन्थों में इन दोनों दृष्टियों को निभाया गया है। वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों ने भी प्रपञ्चसारतन्त्र जैसे उपासना प्रधान शास्त्रों में और सौन्दर्यलहरी तथा सुभगोदय जैसे स्तोत्रों में अपनी शाक्तदृष्टि को स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है। इस तरह से उपासना के क्रम में वेदान्त के आचार्य भी शाक्त ही थे। काश्मीर शैव दर्शन में तो यह शाक्तदृष्टि स्पष्टता से सर्वत्र अभिव्यक्त होती है।

पांच शक्तियां

स्वयं परिपूर्ण परमेश्वर को परमशिव तत्त्व भी कहते हैं और साथ ही उसे चित् शक्ति भी कहा जाता है। इसी तरह से शिव तत्त्व को आनन्दशक्ति और शक्ति तत्त्व को इच्छाशक्ति कहा जाता है [६]। कहीं–

६–तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छवितमात्रके।
बिभर्ति रूपमिच्छातः.....।। (शि.दृ.१–२६,३०)

कहीं शिव को ही परतत्त्व मानकर उसी को चित् शक्ति और उसकी शक्ति को आनन्द कहा गया है [७]। आ० सोमानन्द ने शिवदृष्टि में शक्ति को इच्छा ही का अभिव्यक्त रूप कहा है। त्रिक शास्त्र में तो प्रक्रिया मार्ग की दृष्टि से साधना क्रम के अनुसार शक्तितत्त्व को आनन्दशक्ति ही का रूप माना गया है। वस्तुतः चिद्रूपशिव की आनन्दशक्ति ही उसकी अपने से अभिन्न शिवता है। इसीलिए आनन्द को शिव की शक्ति कहा गया है। शिव को अपने से अभिन्न शिवता और वस्तु होती हैं और तत्त्व रूपा शक्ति और वस्तु होती है। इस बात की ओर ध्यान न देते हुए ही परमार्थसार की टीका में योगराज ने शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्यातत्त्वों को क्रम से आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के रूप में ठहराया है[८]। अस्तु ।

आ० सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त के सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार परमेश्वर की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की ही अभिव्यक्ति क्रम से सदाशिव तत्त्व और ईश्वर तत्त्व में होती है [९]। विद्या तत्त्व

७–(क) स्वरूपानुप्रविष्टचिन्निर्वृतिरूपशक्तिद्वयः प्रकाशानन्दमयः पूर्णः परमेश्वरः शिवः। (शि.दृ.वृ.१–२६)

(ख) तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः । तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः। आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः । सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। (तं.सा.पृ.६)

८–(क) शिवशक्तिसदाशिवतामीश्वरविद्यामयीं च तत्त्वदशाम्। शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति । (प.सा.१४)

(ख) चिदादिशक्तिप्राधान्यप्रथनात्मकशिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्ध–विद्याख्यभूमिकोन्मीलनयुक्त्या..... । (पं.सा.टी.४६)

९–(क) अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता। (शि.दृ.वृ.१–१)

(ख) ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः।उद्रिक्तक्रियाशक्तिरीश्वरः। (शि.दृ.वृ.२–१)

(ग) अत एव ज्ञानशक्तावेव सदाशिवमय्याम्..... ।(पं.त्री.वि.पृ.११)

(घ) ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा,तस्या उद्रेकाभासने सदाख्यम्.। बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे.....ईश्वरतत्त्वम्। (ई.प्र.वि.३–१–२)

परमेश्वर की विद्याशक्ति की अभिव्यक्ति को कहा जा सकता है। अनुभवशील सदगुरु महाराज के उपदेश के अनुसार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के अन्तर्मुख सामरस्य की इच्छाशक्ति और उन्हीं के बहिर्मुख सामरस्य को विद्याशक्ति कहना समुचित हो सकता है। ये चित्, निर्वृति (आनन्द), इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की पांच शक्तियां परमेश्वर की अन्तरङ्ग और मुख्य शक्तियां होती हैं। इनमें से चित् और आनन्द का सामरस्य परमेश्वर का स्वरूप है। इच्छा उसका स्वभाव है और ज्ञानक्रिया उसके स्वभाव का विकास या फल है। आचार्य सोमानन्द ने इसी प्रकार की शाक्तदृष्टि को अपनाया है। ये मुख्य पांच शक्तियां ही शिव के पांच मुख हैं। अपनी इन्हीं पांच शक्तियों को अनुग्रह लीला के रूप में अभिव्यक्त करने के लिए भगवान् उमापतिनाथ (पुराणों और इतिहासों के शिव) ने पांच मुखों वाले स्वच्छन्दनाथ नामक रूप में प्रकट होकर शैव शास्त्रों का उपदेश किया है। दाक्षिणात्य शैवशास्त्र के पांच उपदेशक– ईशान, तत्पुरुष, वामदेव, सद्योजात और अघोर परमेश्वर की इन पांच अन्तरङ्ग शक्तियों ही के सशरीर रूप हैं[१०]। यदि वैदिक धर्म का अतिप्रमुख गायत्री–उपासना की गायत्री देवी के पांच मुखों का मूल आधार परमेश्वर की ये पांच प्रमुख शक्तियां ही हों, तो आश्चर्य की कोई भी बात नहीं। ये पांच शक्तियां परमेश्वर के भीतर स्वभावतः ही सदैव स्पन्दमान होती रहती हैं। परमशिव की इन अन्तरङ्ग शक्तियों के स्पन्दन से ही उसी के भीतर सदैव शिवतत्त्व से लेकर महामाया तक के तत्त्वों के, शिवनाथ से लेकर अनन्तनाथ तक के तत्त्वेश्वरों के और शाम्भव प्राणियों से लेकर मन्त्र (विद्येश्वर) प्राणियों तक के प्रमातृवर्गों के

१०–तत्र हि परमेश्वर एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मकवक्त्रपञ्चका–सूत्रणेन सदाशिवेश्वरदशामधिशयानस्तद्वक्त्रपञ्चकमेलनया पञ्च–स्रोतोमयम् अभेदभेदाभेददशोट्टङ्केन तत्तद्वैचित्र्यात्म निखिलं शास्त्रमवतारयति । यद्बहिर्वैखरी दशायां स्फुटतामियात्। तथा हि प्रथममीशान–तत्पुरुष–सद्योजातैः..... भेदप्रधाना दश शिवभेदाः।... .. एषामेव वामदेवाघोरमेलनया अष्टादश रुद्रभेदाः भवन्ति ।

(तं.आ.बि.१–१८)

उदय और लय अविरत गति से होते ही रहते हैं। इसी कारण से इस शुद्ध सृष्टि से स्त्रष्टा और संहर्ता स्वयं परमशिव ही बने रहते हैं।

विद्या

परमेश्वर की छठी शक्ति को विद्या कहते हैं। वेदान्त में विद्या पारमार्थिक यथार्थ ज्ञान की दृष्टि को कहते हैं और अपारमार्थिक ज्ञान की दृष्टि को अविद्या कहते हैं। शैव दर्शन में विद्या के ही दो प्रकार माने गए हैं। एक होती है शुद्ध विद्या और दूसरी होती हे अशुद्ध विद्या। भेदमय प्रमातृप्रमेय प्रपञ्च में भी जो "अहम् इदम्" इस प्रकार की अभेददृष्टि होती है उसे शुद्ध विद्या कहा जाता है[११]। यह शुद्ध विद्या मन्त्रमहेश्वरों और मन्त्रेश्वरों की दृष्टि होती है। अशुद्ध विद्या जीव की अपने से भिन्न प्रमेयों के विषय में उनके प्रति थोड़ा बहुत जानने की संकुचित शक्ति को कहते हैं। इस दर्शन में अविद्या नाम की कोई वस्तु नहीं होती। शैवी शुद्ध विद्या के कई एक स्तर होते हैं। एक स्तर मन्त्रमहेश्वरों की अभेदमयी भेददृष्टि का "अहमिदम्" इस आकार का और दूसरा स्तर मन्त्रेश्वरों की भेदमयी अभेददृष्टि का "इदमहम्" इस आकार का हुआ करता है। तीसरे स्तर की शुद्ध विद्या विद्येश्वरों की भेददृष्टि होती है। इस शुद्ध विद्या में प्राणी को अपने स्वरूप के विषय में विपर्यास तो नहीं रहता है। वह अपने आप को शुद्ध संवित् स्वरूप ही समझता है। परन्तु प्रमेय को अपने से भिन्न ही समझता है। इस शुद्ध भेददृष्टि को आगमों में महामाया[१२] भी कहा गया है। यह महामाया भी परमेश्वर की एक शक्ति होती हैं। महामाया के दूसरे प्रकार का निरूपण

११—अथ तदधिष्ठातृद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वमाह.....
अहमिदमिति समधृततुलापुटन्यायेन यो विमर्शः स सदाशिवनाथे ईश्वरभट्टारके च। (ई.प्र.वि.३—१—३)

१२—महामायाऽभावे मायापदे प्रलयकेवलानामवस्थितिः, विद्या पदे च विद्येश्वरादीनाम्। इति किमिव तद् विज्ञानकेवलास्पदं स्यात्।
(प.त्री.वि.पृ.११८)

नीचे किया जाएगा।

माया

अवरोह क्रम में परमेश्वर की आठवीं मुख्य शक्ति का नाम माया होता है। शैव दर्शन में माया शब्द को कई एक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। परमेश्वर की परिपूर्ण परमेश्वरता को भी माया शक्ति कहा जाता है। यह परा माया परमेश्वर की अनिरूद्ध स्वातन्त्र्य शक्ति होती है। वेदान्त में माया परब्रह्म की एक उपाधि ही होती है, उसकी स्वभावभूत शक्ति नहीं होती। उस उपाधिरूप माया के संसर्ग से ही परब्रह्म ईश्वर के रूप में प्रकट हो जाता है। वस्तुतः वह ईश्वर नहीं होता है। परन्तु शैवशास्त्र की परा माया परमेश्वर की स्वभावभूत शक्ति ही होती है। इसी की महिमा से वह परमेश्वर होता है। इसी के बल से वह जैसे चाहता है, वैसे प्रकट हो जाता है। शिव के प्रकाश के भीतर समस्त प्रपञ्च के प्रतिबिम्बित होने का मूल कारण उसकी यह परा मायाशक्ति ही होती है। इसी मायाशक्ति के स्पन्दन से शुद्ध सृष्टि का अवभासन होता है। शिव के भीतर भेद के अवभासन के प्रति जो स्वाभाविक उन्मुखता होती है, उसे भी मायाशक्ति कहा जाता है[१३]। उसी के प्रभाव से सदाशिव भूमिका में "इदं" अंश प्रकट हो जाता है। आगे भगवान् अनन्तनाथ की सृष्टि से लेकर अहं रूप प्रमाता और इदं रूप प्रमेय परस्पर भिन्न रूप में प्रकट हो जाते हैं। एक प्रमाता दूसरे प्रमाता से और एक प्रमेय दूसरे प्रमेय से भिन्न प्रकट हो जाता है। इस भूमिका में प्राणियों की इस भेददृष्टि को मायामल कहा जाता है। यह मायामल विद्येश्वरों में भी होता ही है। जब यही माया प्रमाता को घेरकर उसके वास्तविक स्वरूप का आवरण कर लेती है, तो उसे जड़ शरीर आदि ही के विषय में अपनी अहन्ता का आभास होने लगता है। इससे प्रमाता की स्वच्छ प्रकाशता मानो छिन जाती है और उसके बदले उसे जड़ता मिल जाती

१३—स्वरूपपरामर्शात्यागेनैव तु यद् भिन्नतयापि विमर्शनं स्वरूपपरामर्श एव विश्रान्तम्, अहमिदमिति सदाशिवेश्वरपरमार्थ सा भगवतो मायाशक्तिः। (ई.प्र.वि.४—१—१४)

है। इस आवरण को माया तत्त्व कहते हैं। यह तत्त्व अगली तत्त्वसृष्टि का उपादान कारण भी बनता है, क्योंकि यही प्रथम जड़ तत्त्व होता है। इस माया तत्त्व की सृष्टि का कारण परमेश्वर की उपरोक्त मायाशक्ति को माना गया है[१४]।

महामाया आदि

इस महा अज्ञानरूपिणी माया से कुछ ऊपर और शुद्ध विद्या से कुछ नीचे परमेश्वर की एक और शक्ति की अभिव्यक्ति मानी गई है। उसे महामाया कहते हैं। इस महामाया के क्षेत्र में विज्ञानाकल ठहरते हैं। विज्ञानाकलों की यह महामाया विद्येश्वरों की महामाया की अपेक्षा निचली कोटि की हुआ करती है। इस महामाया को कोई आचार्य अप्ररूढा माया कहते हैं और कोई इसे विद्या का ही निचला प्रसार मानते हैं[१५]। नियति तत्त्व का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति नियति शक्ति ही कहलाती है। यही शक्ति संसार को नियम में रखती है। ब्रह्मा आदि देवाधिदेव भी निर्यात के नियमों के अनुसार ही काम करते हैं। कर्म फल भोग आदि भी इसी के अनुसार चलता है। कार्यकारण भाव पर भी यही शासन करती है। व्यवहार क्षेत्र में पद–पद पर नियति शक्ति का प्रभाव प्रकट होता रहता है। परमेश्वर की जिस शक्ति से क्रमरूपता का तथा कालिक व्यवहार का आविर्भाव, विकास और प्रसार होता रहता है, उस शक्ति को कालशक्ति कहा जाता है। इस प्रपञ्च को भिन्न–भिन्न भूमिकाओं और उनके भिन्न–भिन्न स्थानों के विषय में काश्मीर शैव दर्शन के आचार्यों ने जिस शाक्त–दृष्टि को अपनाया है, उसका यही उपरोक्त स्वरूप है।

१४–(क) भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधत्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा।।
(ई.प्र.३–१–६)

(ख) तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वान्महामायेयं श्रीरौरवादिगुरुभिरुदिष्टा।
(ई.प्र.वि.३–१–६)

१५–केषुचित्तु शास्त्रेषु सा महामाया भेदमलाभावोपचाराद्
विद्यातत्त्वशेषतयैव निर्णीयते । क्वचित् पुनरज्ञानमलसद्भावोप–
रोधान्मायातत्त्वपुच्छतया। (प.त्री.वि.पृ.११६)

द्वादशकाली

इस प्रपञ्च को चलाने वाली परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ हुआ करती हैं। इस हमारे भूलोक में जितनी भी मानव संख्या है, सम्भवतः उससे बहुत अधिक परमेश्वर की उन शक्तियों की संख्या है। इस संसार में आपाततः प्राणी काम करते हैं। परन्तु प्रत्येक कार्य के प्रति प्राणियों को प्रेरणा देने वाली, उनकी समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का संचालन करने वाली तथा उनके द्वारा उन–उन कार्यों को कराने वाली परमेश्वर की शक्तियाँ ही होती हैं। परमेश्वर भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में इस विश्व को अपनी भिन्न–भिन्न शक्तियों ही के द्वारा धारण करता है। वह अभेदमयी शक्ति भूमिका में विश्व को जिस शक्ति से धारण करता है वह शक्ति उसकी परा देवी कहलाती है। इस भूमिका में वह विश्व को "अहं" इस रूप में ही धारण करता है। भेदाभेदमयी विद्यादशा में वह विश्व को "अहम् इदम्" इस रूप में स्वशरीरवत् धारण करता है। अपनी जिस शक्ति के द्वारा ऐसा करता है, उसकी वह शक्ति परापरा देवी होती है। भेदमयी माया दशा में वह विश्व को अपने से सर्वथा भिन्न रूप में धारण करता है। अपनी जिस शक्ति के द्वारा उसे इस तरह से धारण करता है, उसकी वह शक्ति अपरा देवी कहलाती है। इन तीनों शक्तियों को समान रूप से व्याप्त करके ठहरी हुई उसकी एक और शक्ति होती हे। उसे कालसङ्कर्षिणी देवी कहा जाता है। परमेश्वर सृष्टि में, स्थिति में, और संहार में भी इस प्रपञ्च को तीन भिन्न–भिन्न प्रकारों से भिन्न–भिन्न शक्तियों के द्वारा धारण करता रहता है। इन तीन कृत्यों में उपरोक्त चार प्रकार के वैचित्र्य से इसको धारण करने के सारे बारह प्रकार बन जाते हैं। उपरोक्त चारों शक्तियों के भी तदनुसार ही तीन–तीन रूप होते हैं। इस तरह से यह शक्तियाँ सारी बारह होती हैं। इन बारह शक्तियों को शैवदर्शन में द्वादश महाकालियाँ कहा गया है[१६]। आ० अभिनवगुप्त के

१६–ययेदं शिवादिधरण्यन्तम् अविकल्प्यसंविन्मात्ररूपतया बिभर्ति च पश्यति च भासयति च परमेश्वरः, सास्य श्रीपराशक्तिः। यया दर्पणहस्त्यादिवद् भेदाभेदाभ्यां सास्य श्रीपरापराशक्तिः । यया परस्परविविक्तात्मना भेदेनैव सास्य श्रीमदपराशक्तिः। एतत् त्रिविधं यया धारणम् आत्मन्येव .....

क्रमस्तोत्र में इन बारह कालियों का सुन्दर वर्णन किया गया है। इस शक्ति समूह को शक्तिचक्र भी कहते हैं। इन शक्तियों का आलम्बन शाक्त–उपाय में भी लिया जाता है और ध्यानयोग नामक आणव–उपाय में भी इस शक्तिचक्र की सहायता से परमेश्वर भाव का आणव समावेश का अभ्यास किया जाता है।

अघोर, घोर और घोरतर शक्तियां

इस संसार में परमेश्वर की निग्रह लीला और अनुग्रह लीला को चलाने वाली उसकी मुख्य चार शक्तियां होती है। उन चार में भी अधिक प्रधान उसकी परा शक्ति होती है। उसे शैव शास्त्र में अम्बा[१७] कहा गया है। यह अम्बा तो परमशिव की स्वभावभूत परमेश्वरता ही है। यही निग्रह और अनुग्रह का व्यवहार चलाने के लिए तीन रूपों में प्रकट होती रहती है। इन तीन में ज्येष्ठा अनुग्रह लीला को चलाती है, वामा निग्रह लीला का अभिनय करती है और रौद्री संसार को टिकाए रखती है[१८]। ज्येष्ठा जीवों को परमेश्वरभाव की प्रत्यभिज्ञा के

क्रोडीकारेणानुसन्धानात्मना ग्रसते, सास्य भगवती श्रीपरैव श्रीमन्मातृसद्भाव–कालकर्षिण्यादिशब्दान्तरनिरुक्ता । ता एताश्चतस्रः शक्तयः स्वातन्त्र्यात् प्रत्येकं त्रिधैव वर्तन्ते । सृष्टौ, स्थितौ, संहारे चेति द्वादश भवन्ति ।..... चक्रेश्वरस्य स्वातन्त्र्यं पुष्णत्यः श्रीकालीशब्दवाच्याः।।

(तं.सा.पृ.२६,३०)

१७–(क) या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी। (मा. वि. तं. ३–५)

(ख) पारमेश्वरी विशेषशक्तिः, या अप्ररूढभेदतया सामरस्यात्मिका द्वैतप्रथोन्मुखी च। (शि.सू.वि.पृ.१७४)

१८–(क) वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमयी यतः।
द्रावयित्री रुजां रौद्री रौध्री चाखिलकर्मणाम्।।

(तं.आ.६–५७)

(ख) अणु स्वरूपदृश्वानं वामाधो विनिपातयेत्।
रौद्री सांसारिकानन्दं कदाचिद्वितरेदपि।।
ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं तु तनुते ज्ञानकर्मणोः।

(तं.आ.खं.४,पृ.५०)

प्रति प्रेरणा करती है। उनको गुरू के समीप पहुंचने और शास्त्र के प्रति प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा देती है। शिव की यही शक्ति जीवों के मोक्ष के समस्त प्रपञ्च को चलाती है। जीव असंख्य होते हैं, इस कारण ज्येष्ठा शक्ति भी अनन्तरूपों में प्रकट होकर समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त करती है और सर्वत्र मोक्ष के व्यवहार को चलाती है। इस ज्येष्ठा के इन अनन्त शक्ति समूहों को अघोर शक्तियाँ कहा गया है। ये शक्तियां जीवों को शिवभाव पर पहुंचा देने में ही लगी रहती हैं[१९]।

यदि ज्येष्ठा भगवती और ये अघोर शक्तियाँ ही केवल काम करतीं, तो सभी जीव कब के मुक्त हो गए होते और सारा संसार निर्जीव हो गया होता। परन्तु परमेश्वर की वामा शक्ति भी अनन्त शक्ति समूहों के रूप को धारण करती हुई जीवों के बन्धन की लीला को भी साथ चलाती रहती है। अतः सभी जीव मुक्त नहीं हो जाते हैं। वामा के इन अनन्त शक्ति समूहों को घोरतरी शक्तियाँ कहा जाता है। ये शक्तियां जीवों को विषय सुख की ओर तथा काम क्रोध आदि की ओर धकेलती हुई नीचे ही नीचे गिराती रहती हैं[२०]। दोनों ही प्रकार के ये उपरोक्त शक्ति समूह परमेश्वर की इच्छा के अनुसार ही अनन्त प्रकार से काम करते हैं। तदनुसार जिस लोक में कलिकाल, उस लोक में घोरतरी शक्तियाँ अनियन्त्रित रूप में काम करती हैं। और अघोर शक्तियां अनियन्त्रित रूप में काम करती हैं और अघोर शक्तियां नियन्त्रण में रहती हैं। फल यह होता है कि बन्धन की लीला बहुत अधिक चलती है और मोक्षलीला का अभिन्न कहीं–कहीं ही होता है। जिस लोक में सत्ययुग चल रहा हो, वहां स्थिति सर्वथा विपरीत होती है। वहां तो अघोर शक्तियां ही प्रधानतया काम करती हैं।

परमेश्वर की रौद्री शक्ति के भी अनन्त आकार प्रकट होते हैं। उन शक्ति समूहों को घोर शक्तियां कहते हैं। ये घोर शक्तियां जीवों

१९–पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः।
पराःप्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः।। (मा.वि.तं.३–३३)

२०–विषयेष्वेव संलीनान् अधोऽधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून् याः समालिंग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः।। (तदेव ३–३१)

के लिए जीवन के सुखों को सुलभ बनाती हुई उन्हें संसार में टिकाए रखती हैं। इनकी प्रेरणाओं से जीव काम्य धर्मों की ओर प्रवृत्त होते रहते हैं और मोक्ष मार्ग से मुख मोड़ते रहते हैं।२१ इस तरह से घोर शक्तियों का काम सांसारिक सुखों की सामग्री को सुलभ बनाते हुए उन्हें सुखपूर्वक संसार में टिकाए रखना होता है।२१ उसी लोक और उसी राष्ट्र में जनता सुखी होती है। और वही राष्ट्र और लोक समृद्ध बनता है, जहां ये घोर शक्तियां बिना किसी नियन्त्रण के काम करती रहें। शक्तियों के ये तीनों समूह ज्येष्ठा आदि तीन शक्तियों के अधीन रहकर काम करते हैं। वह तीन महाशक्तियां भी भगवती अम्बा नाम की परा शक्ति के इशारों के अनुसार काम करती है। वह भगवती अम्बा तो परमेश्वर से सदा अभिन्न रहने वाली उसकी परा शक्ति ही होती है। इस तरह से संसार का सारे का सारा शुद्ध और अशुद्ध, दोनों प्रकार का व्यवहार शिव की अपनी शक्तियों ही के द्वारा उसी की इच्छा के अनुसार चलाया जाता है। जीव तो यों ही अपने को इसका चलाने वाला समझता हुआ अपने आप को पुण्य–पाप के लिए उत्तरदायी बनाता रहता है। यही उसका कार्म मल होता है, जिसके प्रभाव से वह संसृति के चक्कर में भटकता रहता है। जीव का यह मिथ्या अभिमान भी परमशिव की ही इच्छा के अनुसार उसी की घोरतरी शक्तियों के द्वारा जीव में ठहराया जाता है। ऐसा काश्मीर शैव दर्शन का सिद्धान्त है।

करणेश्वरी

प्राणी की समस्त इन्द्रियों में काम करने वाली शिव की शक्तियों को इन्द्रिय या करणेश्वरीचक्र कहते हैं। अज्ञानी और ज्ञानी में एक बड़ा भारी अन्तर यह होता हे कि अज्ञानी यह समझता है कि इन्द्रियों के द्वारा वह विषयों का उपभोग स्वयं करता रहता है। परन्तु ज्ञानी इन्द्रियों के व्यवहार को इस दृष्टि से देखता है कि करणेष्वरियों का समूह विषयों को लेकर शिव को अर्पण करता रहता है। कश्मीर के

२१–(क) मिश्रकर्मफलासक्ति पूर्ववज्जनयन्ति याः।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः।। (मा.वि.तं.३–३२)
(ख) एताः सर्वाणुसंघातमधिष्ठाय यथा स्थिताः।
तथा ताः कथिताः शम्भोः शक्तिरेकैव शाङ्करी।। (तदेव ३–३४)

शैव चर्या के अभ्यास में इसी दृष्टि को निभाते थे। इस तरह से व्यवहार करने वाले साधक की इन्द्रियां उसे प्रमेयपरक विषय ज्ञान कराती हुई उस विषय को विषय ही के रूप में नहीं, अपितु साक्षात् शिव ही के रूप में प्रकट करती हैं। इस साधना रहस्य की ओर और इस शैवी दृष्टिकोण की ही ओर आ० अभिनवगुप्त ने गीता के

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (भ० गी० ३–११)
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।। (भ० गी० ३–१२)
तिद्वद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। (भ० गी० ४–३४)

इन श्लोकों की व्याख्या में संकेत किया है। परन्तु शैव शास्त्र के इस रहस्य को न जानते हुए ही वर्तमान युग के टीकाकारों ने इस पर आलोचना की है। अस्तु।

करणेश्वरियों के प्रति इस शैवी दृष्टि का निरूपण भट्टकल्लट ने स्पन्दकारिका में भी किया है। इस दृष्टि से देखते हुए साधक को ही उन्होंने चक्रेश्वर अर्थात् करणेश्वरीचक्र का ईश्वर माना है।२२

इस तरह से काश्मीर शैव दर्शन में शाक्तदृष्टि पर्याप्त मात्रा में विकास को प्राप्त हुई है और इस बात को सिद्ध करती है कि शैव दर्शन शाक्त दर्शन ही होता है और शाक्त दर्शन ही शैव दर्शन होता है; क्योंकि दर्शन वस्तुतः शक्ति को ही होता है।

२२–(क) यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत् स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः।।
लभते .....।। (स्प.का.६)
(ख) शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः।। (तदेव ४५)
(ग) सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्धयुपपादिका।।
(तदेव ४८)
(घ) यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ।
नियच्छन भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्।। (स्पं.का.५१)

१५
उपसंहार

काश्मीर शैव दर्शन का प्रतिपादन जिस तरह से आ० सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त के हाथों हुआ है, उस तरह से ऐसा प्रतीत होता है, कि यह दर्शन ही तुर्या दशा के ऊंचे से ऊंचे पद पर से लिया हुआ संसार की स्थिति का यथार्थ चित्र है। इस दर्शन के सिद्धान्तों, इस की साधनाओं तथा इसकी युक्तियों के साथ यदि अन्य दर्शनों के इन अङ्गों की तुलना की जाए, तो ऐसा प्रतीत होता है, कि शेष सभी दर्शन प्रायः सुषुप्ति की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं पर ही ठहरकर लिए हुए संसार के चित्र हैं। शांकर वेदान्त अधिक से अधिक तुर्या की प्रारम्भिक भूमिका पर ही ठहरकर लिया हुआ चित्र प्रतीत होता है। भारत के अनेक दर्शनों को पढ़ने से मानव मस्तिष्क इस विषय में पर्याप्त भ्रम में पड़ जाता है, कि किस दर्शन के सिद्धान्तों को सत्य मान लेवें और किसके सिद्धान्तों को असत्य मानें। वैसे सभी दर्शनों के उपदेशक कपिल, गौतम, कणाद, पतञ्जलि, बुद्ध, बादरायण आदि सब के सब माननीय और आप्त महापुरुष हैं। ऐसे आप्त पुरुषों के उपदेश अयथार्थ कैसे हों और यदि यथार्थ ही हों, तो सभी के उपदेश कैसे यथार्थ हों; क्योंकि इनमें परस्पर काफी विरोध है। इस तरह से इन भारतीय दर्शनों के घने वन के भीतर मानव मस्तिष्क प्रायः खो जाता है। उसे सच्चे मार्ग का निश्चित तौर से पता नहीं लगता है। एकमात्र काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि ही इन सभी दर्शनों के सिद्धान्तों का समन्वय कर सकती है। यह दृष्टि इन सभी दर्शनों के सिद्धान्तों की सत्यता का प्रतिपादन सुषुप्ति और तुर्या की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में ठहरी हुई संसार की स्थिति के अनुसार करती हुई मानव हृदय को और मानव मस्तिष्क को सर्वथा सन्तुष्ट और संशयहीन बना देती है। ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी

की प्रशंसा करते हुए आ० अभिनवगुप्त ने ऐसे ही विचार प्रकट किए है[1]।

काश्मीर शैव दर्शन के विकास में भी किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं रह चुकी है। सिद्धान्त–पक्ष और प्रयोग–पक्ष, दोनों में इसका पूरा विकास हो चुका है। प्रत्येक दार्शनिक पहेली को सुन्दर, सुबोध और सरल तथा यथार्थ दृष्टि का अनुसरण करने वाले ढंग से इस दर्शन में अच्छी प्रकार से सुलझाया गया है। इस दर्शन का विकास ईसा की नवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दियों के बीच के काल में धीरे–धीरे हुआ। उससे पहले केवल आगम शास्त्रों का ही आविर्भाव हुआ था। यह वह युग है, जिससे पूर्व भारत की अन्य प्रधान दर्शनविद्याएं पूरी तरह से विकसित हो चुकी थीं। वैदिक, अवैदिक आदि दर्शनविद्याओं का परस्पर संघर्ष भी पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। एक दूसरे की त्रुटियाँ भी इन विद्याओं में पर्याप्त मात्रा में प्रकट की गई थीं। इतना कुछ हो चुकने के अनन्तर काश्मीर शैव दर्शन के आचार्यों ने इस दर्शन विद्या का नवनिर्माण इस तरह से किया कि अनुभूमि और तर्क की दृष्टि से इसमें कोई भी त्रुटि न आए।

१–(क) सर्वान्यशासनकथाः कलविङ्ककेलि–
कल्पाः परं प्रकलयन्निह शास्त्रसारे।
.....
टीकाविमर्शमकरोल्लघुना नयेन
स्पष्टेन चाभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः।।
(ई.प्र.वि.वि.अन्ते ४ तः५)

(ख) कल्पान्ताम्बुनिधेः प्रचण्डपवनप्रक्षोभितौवनिल–
ज्वालाजालमिलत्तरङ्गवलनानश्यत्कुलक्ष्माभृतः।
भूयानप्यवगाहनाय बिभवेन्न त्वीश्वराभिज्ञया
निर्णीतस्य विधेर्विमर्शविधये शक्तः परः शङ्करात्।।
(तदेव ८)

(ग) वाक्यप्रमाणपदतत्त्वसदागमार्थाः
स्वात्मोपयोगममुतः किल यान्ति शास्त्रात्।
भौमान् रसाञ्जलमयांश्च न सस्यपुष्टौ
मुक्त्वार्कमेकमिह योजयितुं क्षमोऽन्यः।।
(तदेव १७)

फिर परमेश्वर की अनुग्रह लीला के प्रभाव से इस दर्शन विद्या को कई एक ऐसे निर्माता एक दूसरे के पश्चात् ही मिलते रहे जो एक ओर से तो गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के आस्वाद को पूरी तरह ले रहे थे, दूसरी ओर से सभी शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् थे, तीसरी ओर से वस्तु का हृदयग्राही निरूपण करने में बड़े प्रवीण थे, चौथी ओर से संस्कृत वाणी में मर्मों पर उनका पूरा प्रभुत्व था, पांचवीं ओर से उन्हें तर्क शास्त्र के सूक्ष्म रहस्यों की पूरी जानकारी थी, छठी और से वे बड़े दीर्घजीवी होते हुए पक्की और परिपूर्ण अनुभूति वाली आयु में शास्त्र निर्माण करते रहे और सातवीं ओर से हृदय और मास्तिष्क, इन दोनों के उत्तम गुणों की बिभूतियों से वे सम्पन्न थे। ऐसे आचार्य इस तरह से एक दूसरे के पश्चात् ही प्रकट होते रहे कि उनके बीच में कहीं भी किसी भी ऐसे–वैसे लेखक का हाथ इस शास्त्र के निर्माण कार्य में नहीं लगा। इन कारणों से इस शास्त्र का विकास अतीव सुन्दर, सरल, परिमार्जित, सुबोध ओर तर्कसंगत ढंग से हुआ। तर्क की अनुकूलता के साथ ही साथ उन आचार्यों ने मनोविज्ञान की अनुकूलता को भी निभाया। इस कारण यह शास्त्र अतीव सन्तोषप्रद भी बना और समस्त शास्त्रों का समन्वय करने में भी सहायक बना। इसी शास्त्र में आकर सभी शास्त्र आपस की एकवाक्यता और भिन्नता दोनों को युक्तियुक्त भाव में ठहराते हुए पूरे समन्वय को प्राप्त कर सकते हैं।

दर्शन विद्या के अनेकों रहस्य ऐसे हैं, जिनका भेद काश्मीर शैव दर्शन में ही खुल जाता है। तीन गुणों के स्वभाव का, उस स्वभाव के कारण का, तीनों गुणों की उत्पत्ति का तथा उनके विकास का सुन्दर और स्पष्ट व्याख्यान शैव शास्त्रों में ही हो सका है। अन्य शास्त्रों ने इन गुणों का आश्रय तो पर्याप्त मात्रा में लिया है, परन्तु इनके मूल स्त्रोत की खोज नहीं की है। पुरुष तत्त्व और प्रकृति तत्त्व से ऊपर के तत्त्वों की खोज और उनके स्वभाव की परीक्षा शैव दर्शन में ही हुई है। विकल्प बुद्धि के स्वभाव की सुन्दर व्याख्या भी इसी दर्शन में हुई है। संसार, कर्म, अविद्या, आदि पदार्थ सादि हैं या अनादि, इस पहेली को शैव दर्शन में युक्तियुक्त ढंग से सुलझाया गया है। संसार मिथ्या है या सत्य है, इस पहेली का भी सुन्दर और युक्तियुक्त समाधान काश्मीर शैव दर्शन में ही हो पाया है। देश, काल और सम्बन्ध, इन तीन पदार्थों के स्वरूप, स्वभाव

और मूलकारण का सुन्दर प्रतिपादन भी इसी दर्शन में हो पाया है। अन्य सभी शास्त्र अपने सिद्धान्तों को ठहराने के लिए पहले–पहल प्रमाणों से न सिद्ध की हुई किसी वस्तु की कल्पना करते हैं और तत्पश्चात् उस कल्पित वस्तु का आश्रय लेकर ही अपने सिद्धान्तों को और अपनी युक्तियों को ठहराते हैं। वेदान्तशास्त्र भी पहले–पहल प्रमाणों के बिना ही अविद्या नामक पदार्थ की सत्ता को मान लेता है। और फिर उसी के आधार पर जगत् की उत्पत्ति कर लेता है। इसी तरह अन्य सभी शास्त्र भी करते हैं। इस कारण से उन्हें वाद२ कहा जा सकता है। काश्मीर शैव दर्शन वस्तुप्रतिपादन को उस पदार्थ से आरम्भ करता है, जो वस्तुतः है और स्वतः सिद्ध है। फिर वस्तु जिस भूमिका में जैसी है, उस भूमिका में उसकी वैसी ही सत्ता का निरूपण करता है। इस तरह से यथार्थवाद की दृष्टि का आश्रय लेते हुए पाठक को और साधक को जाग्रत् दशा से स्वप्न दशा और सुषुप्ति की दशा के बीच में से ले जाता हुआ तुर्या में और वहां भी क्रम से तुर्या की उच्चतम भूमिका पर ले जाता है। इस शास्त्र की शैली कल्पना की न होकर वस्तु की स्थिति के तथावत् कथन की है। इस कारण से इस दर्शन को वाद न कहकर सिद्धान्त३ कहना उचित है।

शैव दर्शन का सिद्धान्त ही सनातन सिद्धान्त है। परमेश्वर सदैव पूर्ण स्वतन्त्र होता आया है। उसके परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की लीला का विलास सदा से चलता आ रहा है और सदैव चलता ही रहने वाला है। उस विलास में आत्मदेव को अपने स्वरूप और स्वभाव की विस्मृति सदैव से होती आई है और सदैव होती रहने वाली भी है। साथ ही उसे अपने स्वरूप और स्वभाव की प्रत्यभिज्ञा भी होती ही आई है और आगे भी होती रहने वाली ही है। ये ही

२–प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भसिद्धान्ताविरुद्धः,पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।(परिग्रहोऽभ्युपगमः। साधनमुपलम्भश्चास्मिन्निति) (न्या.सू.१–२–१)

३–इदमित्थंभूतं चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धम्, सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः। संस्थितिरित्थम्भावव्यवस्था–––धर्मनियमः। (न्या.भा.१–१–२६)

सिद्धान्त इस विचित्र संसार के विषय में सदा से चलते आए हैं और सदैव चलते रहने वाले भी हैं। अतः ऐसे–ऐसे ही सिद्धान्तों को वस्तुतः सनातन सिद्धान्त कहा जा सकता है। ये सिद्धान्त शैव दर्शन ही के सिद्धान्त हैं। आरम्भ, परिणाम, विवर्त्त और आभास के वाद स्वातन्त्र्य के विलास की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में ही अभिव्यक्त होते रहते हैं। अतः उन्हें सनातन सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता है। शैव दर्शन की साधना के सिद्धान्त भी सनातन ही हैं। ये ही सिद्धान्त अनेकों बार अनेकों रूपों में वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि सन्तों की वाणी में प्रकट हाते आए है। वर्तमान युग में भी श्रीकृष्णमूर्ति, श्री मां आनन्दमयी आदि सन्तों के उपदेशों में इन्हीं सनातन सिद्धान्तो में से कुछ एक प्रकट हो रहे हैं। परन्तु इस सभी प्राचीन, अर्वाचीन और वर्तमान सन्तों ने शैवी साधना के किन्हीं–किन्हीं अंशों का ही सहारा लिया है। केवल काश्मीर शैव दर्शन के महान् आचार्यों की लेखनी ने ही इस शैवी साधना का साङ्गोपाङ्ग तथा परिपूर्ण और स्पष्ट प्रतिपादन किया है। उनकी इस विषय की परिभाषा भी परिपक्व है। अतः उनके ग्रन्थों के अध्ययन से सिद्धान्तों का स्पष्ट चित्र बुद्धि में खिंच जाता है और मानव का मस्तिष्क अनिश्चित शब्दजालों के घने वनों में खो नहीं जाता। अन्य सन्तों की वाणी में इस शास्त्र के रहस्यों का खण्डशः और अस्फुट आविर्भाव हुआ है; परन्तु काश्मीर शैव शास्त्र के आचार्यों की वाणी में उनका परिपूर्ण और स्फुट विकास हुआ है।

भारतीय दर्शनविद्या पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि उसके प्रचार से जनता भौतिक प्रगति के प्रति, राष्ट्र और समाज की आर्थिक, राजनैतिक आदि समस्याओं के प्रति तथा देश की समष्टिगत उन्नति के प्रति उदासीन होकर रहती है और उसका फल वही होता है, जिसे भारतीय जनता लगभग एक सहस्त्र वर्ष से भोगती आई है और विज्ञान के वर्तमान युग में भी भोग ही रही है। सारा संसार प्रगति करता जाता है, परन्तु भारत में प्रगति के प्रति जितनी योग्यता और सामग्री विद्यमान है, उतनी क्या, उतनी प्रगति के चतुर्थ अंश को भी भारत कर नहीं रहा है और न ही इस विषय में निकट भविष्य में ही कोई आशा की किरण दीख रही है। देशभर में आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक आदि क्षेत्रों में प्रगति के न होने के कारण देश की जनता रातदिन इतनी समस्याओं से घिरी रहती है, कि आध्यात्मिक

क्षेत्र कें प्रगति के लिए यत्न करने का उसे अवसर ही नहीं मिल रहा है। इससे हमारे मोक्ष शास्त्र केवल पढ़ने–पढ़ाने का ही विषय बन रहे हैं और प्रयोग के क्षेत्र में सर्वथा निष्फल हो रहे हैं। हम न ही इधर के रह रहे हैं और न ही उधर के।

शङ्का तो ठीक ही है। सचमुच हमारे दर्शन शास्त्र प्रायः शम, दम, तितिक्षा, तप, सन्तोष, वैराग्य आदि के ऊंचे–ऊंचे आदर्शो का ही उपदेश करते हैं, सांसारिक प्रगति का मार्ग प्रायः नहीं दिखाते हैं। उन दर्शनों के वे उपदेश प्रयोग के क्षेत्र में प्रायः सफल नहीं होते। एकमात्र शैव शास्त्र ही भोग और मोक्ष दोनों की साथ–साथ साधना का उपदेश करता है। यदि इस शास्त्र का सदुपयोग वर्तमान काल की परिस्थितियों का विचार करते हुए किया जाए, तो यह शास्त्र जनता को सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में प्रगति के पथ पर आगे ले जा सकता है। वेदान्त आदि शास्त्रों के अधिकारी विरले मुमुक्षु लोग ही हो सकते हैं। जनसाधारण के योग्य ऐसे शास्त्र नहीं हैं। यदि हम सचमुच सर्वांग प्रगति को प्राप्त करना चाहें, तो हमें संसार के मिथ्यात्व का संस्कार जनता के मस्तिष्क से हटा देना होगा। ऐसा करके शैवी साधना का भुक्ति और मुक्ति देने वाला मार्ग जनता को दिखाना होगा। उससे हम सांसारिक क्षेत्र में प्रगति करते हुए ही दर्शन विद्या के उच्चतम प्रयोजनों को भी प्राप्त कर सकेंगे। यद्यपि शैव दर्शन के अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भी भुक्ति के क्षेत्र में पर्याप्त पथप्रदर्शन नहीं किया है, फिर भी भुक्ति को उन्होंने सर्वथा हेय भी नहीं माना है। उस मार्ग का प्रदर्शन करने वाले कौटिल्य आदि के अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि उस युग में विद्यमान थे। उस युग की परिस्थितियों के अनुसार वे शास्त्र सांसारिक क्षेत्र में प्रगति का मार्ग बताने के लिए पर्याप्त थे। इस कारण उन आचार्यों को इस विषय में सक्रिय प्रयत्न करने के प्रति प्रवृत्ति नहीं हुई। जनता की वर्तमान युग की समस्याओं का आविर्भाव यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के आविर्भाव के साथ ही साथ होता गया। भारतवर्ष में ये समस्याएँ स्वातन्त्र्य युग में ही स्फुटतया और भीषण आकार में प्रकट होने लगीं। उससे पहले इस–इस प्रकार की समस्याएं हमारे लिए सह्य बन रही थीं और समस्याओं के होते हुए भी हम अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकते थे।

परन्तु वर्तमान युग में ऐसा हो नहीं सकता। इस समय एक ऐसी दर्शनविद्या की आवश्यकता है, जो संसार को यथार्थ रूप में ही देखती हुई जनता को भुक्ति और मुक्ति का मार्ग दिखा सके। जिस तरह से साम्यवादियों को मार्क्सवाद नामक दर्शन का सहारा मिल रहा है, उसी तरह से प्रजातन्त्र पर विश्वास रखने वाले भारतीय समाजवादियों को भी एक ऐसी दर्शनविद्या की आवश्यकता है, जिसे वे राजनैतिक क्षेत्र में भी अपना सकें। यदि यत्न किया जाए, तो काश्मीर शैव दर्शन को इस तरह से प्रस्तुत किया जा सकता है कि राजनैतिक क्षेत्र में भी जनता को उसका आश्रय मिल सकता है और और उसके आश्रय से सांसारिक प्रगति के साथ–साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उन्नति प्राप्त की जा सकती है। सांसारिक प्रगति भी हाथ आ सकती है। और भारतीयता भी हाथ में ही रह सकती है।

महान् आश्चर्य की बात है कि इस काश्मीर शैव दर्शन के इतने उच्च माहात्म्य के होते हुए भी कश्मीर से बाहिर अभी तक बहुत थोड़े महानुभावों को इसके प्रति रुचि उत्पन्न हुई है। उनमें से भी किसी–किसी ही महानुभाव के मस्तिष्क में इसके सिद्धान्तों का यथार्थ चित्र खिंच गया है। इस शास्त्र के सरल, सुकर, सुखद और सफल उपायों का अभ्यास बहुत थोड़े लोग कर पाए हैं। वेदान्त, वैष्णव, द्वैत शैव, न्याय आदि दर्शनों का प्रचार और प्रसार पर्याप्त मात्रा में भारत भर में हुआ और बौद्ध दर्शन का भारत से बाहर भी हुआ। परन्तु इस अद्वैत शैव दर्शन का प्रचार कश्मीर मण्डल में ही रहा। भारत के शेष प्रदेशों में यह शास्त्र फैला ही नहीं। भारत से बाहिर इसके प्रसार की कोई बात ही नहीं। भारतभर में कोई इक्के–दुक्के ही महापुरुष इस मार्ग में प्रवृत्त हुए। हां, कश्मीर मण्डल में इस शास्त्र का अध्ययन और अभ्यास दोनों ही पर्याप्त मात्रा में सतत गति से चलते ही रहे। कश्मीर के ब्राह्मणों के इतिहास में अर्वाचीन काल में बहुत बड़े उतार और चढ़ाव आए। परन्तु उन्होंने अपने प्राणों की तरह इस शैव दर्शन के अध्ययन और अभ्यास की परम्परा को यत्नपूर्वक बचाए रखा। भारत के शेष भागों में इस शास्त्र के प्रचार की न्यूनता का एक कारण यह हो सकता है कि जिस युग में इस शास्त्र की विकास कश्मीर में पूरा होता गया, उसी युग में कश्मीर के पड़ोसी प्रदेशों पर विदेशीय बर्बर शत्रुओं के आक्रमण होने लगे। अतः

कश्मीर देश अन्य प्रदेशों से पर्याप्त मात्रा में कट गया। परन्तु उस युग में भी कश्मीर के व्यापारिक सम्बन्ध अन्य सभी प्रदेशों से चलते ही रहे। वे स्म्बन्ध कट नहीं गए। तो शैव शास्त्र का यातायात क्यों कट गया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर आ० अभिनवगुप्त अपने मालिनीविजयवार्तिक में पहले ही दे चुके हैं। उन्होंने वहां कहा है "जिस तरह से केतकी पुष्प के सुगन्धित मधु का आस्वाद केवल काला भौंरा ही करता है, शहद की मक्खी नहीं करती है, उसी तरह से भैरवीय अद्वैत पूजा में कोई ही ऐसा साधक रुचि रखता है, जो परमेश्वर के तीव्र अनुग्रह का पात्र बन चुका हो[४]।"

अनुग्रहहीनता ही के कारण कोई इस शास्त्र को तांत्रिक दर्शन समझते हुए उससे डरते हैं। कोई इसके महत्त्व को समझते तो हैं; परन्तु इसके अवैदिक होने के कारण इसमें रूचि नहीं रखते हैं। कोई वेद को ही ज्ञान का सर्वोच्च भण्डार समझते हुए इस अवैदिक दर्शन की महिमा को समझते ही नहीं। कोई इसके माहात्म्य को समझते हुए और इसके पठन–पाठन में रुचि रखते हुए भी इसे वेदान्त के साथ जोड़कर इसके सिद्धान्तों को वैदान्तिक दृष्टि को ही आश्रय लेकर समझने का यत्न करते हैं। उसका फल यह होता है, कि वे शैव दर्शन और वेदान्त दर्शन के पारस्परिक भेद को न समझते हुए शैव दर्शन का अध्ययन करके भी वस्तुतः वेदान्ती ही बने रहते हैं, शैवी भूमिका पर आरोहण नहीं कर पाते कोई महानुभाव वेदान्त के विवर्तवाद में तथा शैव शास्त्र के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त में परस्पर भेद को ठीक तरह समझ लेते हैं। वेदान्त के अद्वैत और शैव दर्शन के पराद्वैत में भी पर्याप्त मात्रा में पारस्परिक भेद को अच्छी तरह से जान लेते है; परन्तु फिर भी शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि समस्याओं से घिरे रहने के कारण शैव दर्शन की शाम्भवी साधना या शाक्तोपाय आदि की साधना के अभ्यास में प्रवृत्त ही नहीं होते। केवल पढ़ने–पढ़ाने पर ही सन्तोष करते हैं। फल यह होता है, कि उन्हें इस दर्शन के मुख्य प्रयोजन अर्थत् आत्मप्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति नहीं होती

४–केतकीकुसुमसौरभे भृशं, भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने, कोऽपि रज्यति महेशचोदितः।।
(मा.वि.वा.२- ५१)

है और वे इस शास्त्र के सिद्धान्तों की साक्षात् अनुभूति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। आ० अभिनवगुप्त के मत में इस शास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब इसके सिद्धान्तों को गुरुतः—अर्थात् गुरु के उपदेश से, शास्त्रतः—पुरातन सिद्धों के शास्त्रों से और स्वतः—अपने से, अर्थात् अपनी अनुभूति से जाना[५] जाए। तो अपनी अनुभूति के अभाव के कारण उन पढ़ने—पढ़ाने वालों को भी इस शास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान नहीं होता है। परन्तु कोई—काई महानुभाव वर्तमान युग में भी ऐसे होते हैं, जिन्हें इस शास्त्र का ज्ञान भी और विज्ञान भी उक्त तीनों प्रकारों से हुआ करता है। वे ही इस शास्त्र के वास्तविक तत्त्व का पूरी तरह से जानते हैं।

वर्तमान युग में यूरोप के कुछ देशों के बहुत से विद्वानों को काश्मीर शैव दर्शन के प्रति जिज्ञासा होने लगी है। वहां के कई एक विद्वान इस शास्त्र पर अनुसन्धान भी कर रहे हैं। उत्तरी भारत में भी कहीं—कहीं विद्वानों की इसके प्रति जिज्ञासा बढ़ रही है। श्री जय शङ्कर प्रसाद की कामायनी ने हिन्दी जगत् में शैव दर्शन की जिज्ञासा को ज़रा भर उद्बुद्ध कर दिया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि भगवान् शिव अपने इस अद्भुत शास्त्र को पुनः जनता के सामने प्रकट करना चाहते हैं। प्रकृत पुस्तक को भी भगवान् शिव की इसी इच्छा का एक क्षुद्र सा अङ्कुर समझिए।

शैव दर्शन पर संस्कृत भाषा में जो सुविशाल वाङ्मय विद्यमान है, उस तक साधारण पाठकों की पहुंच नहीं है। हिन्दी में अभी तक इस विषय पर कोई सुन्दर और अच्छा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। अंग्रेजी में कुछ एक पुस्तकें हैं, परन्तु उनसे पाठक को पर्याप्त लाभ नहीं होता। एक तो वे पुस्तकें इस दर्शन के वास्तविक सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डालती हैं और दूसरी उन पुस्तकों में शैव शास्त्र के सिद्धान्तों को वेदान्त की दृष्टि से अभिव्यक्त किया गया है। अतः वे

५—(क) एवं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः एतद् दृढीकृतं भवति।।
(ई.प्र.वि.१—४—१६)

(ख) किरणायां यदप्युक्तं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः।
तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं पूर्व पूर्व उपायकः।।
(तं.आ.४—४१)

पुस्तकें शैव दर्शन के सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाल पाई हैं। प्रकृत ग्रन्थ में हिन्दी जनता के सामने शैव शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। अतः आशा है इस पुस्तक से हिन्दी जनता को पर्याप्त लाभ होगा।

शैव दर्शन में अधिकार के विषय में कोई भी जाति का, वर्ण का, या लिंग आदि का विचार नहीं किया जाता। जिस मानव के हृदय में परमेश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हो और तत्त्व की जिज्ञासा हो, वह चाहे किसी भी धर्म से, जाति से, समाज से , परिवार से, वर्ण से या लिंग से सम्बन्ध रखता हो, फिर भी इस शास्त्र की प्राप्ति का अधिकारी अवश्य ही होता है।६ शैव सन्तों की इस विशाल हृदयता के कारण और शैव दर्शन की इस उदार दृष्टि के कारण ही आगे कश्मीर में शैवों और सूफियों की एक मिली–जुली परम्परा का आविर्भाव हुआ, जिसमें श्रीलल्लेश्वरी के शिष्य और शेख नूरूद्दीन जैसे सन्त प्रकट हुए। वह परम्परा कश्मीर में अभी तक चल रही है। ये सन्त शास्त्रों का पठन–पाठन न करते हुए ही शैवी साधना के आणव उपाय की धारणाओं का अभ्यास करते रहते हैं और मूल सिद्धान्तों को गुरुमुख से सुनकर संक्षेपतः समझ लेते हैं। कश्मीरी भाषा के एक प्रसिद्ध कलाकार श्री मिर्ज़ा काक भी इसी परम्परा में थे। स्वछक्राल नाम कश्मीरी कवि की कविता से ऐसा प्रतीत होता है, कि वे भी इसी परम्परा के सन्त थे।

६–(क) जनस्याप्युपकारमिच्छन् (ई.प्र.१–१–१)

(ख) जनस्यायत्नसिद्धयर्थम् (तदेव ४–१–१८)

(ग) यस्य कस्य जन्तोरिति नात्र जात्याद्यपेक्षा काचिदिति सर्वोपकारित्वमुक्तम् । (ई.प्र.४–१–१८)

(घ) जनस्येति––यः कश्चिज्जायमानसतस्य, इत्यनेनाधिकारिविषये नात्र कश्चिन्नियमः इति दर्शयति। यस्य–यस्य हीदं स्वरूपप्रथनं तस्य तस्य महाफलम्। (तदेव १–१–१)

(ङ) न मे प्रियश्चतुर्वेदो मद्भक्तः श्वपचोऽपि वा।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्।।
(तं.आ.ख.३,पृ.२३४)

विधिपूर्वक शास्त्र–अभ्यास और साधना–अभ्यास की परम्परा भी अभी तक कश्मीर के ब्राह्मणों में थोड़ी बहुत चल ही रही है। अभी तक कलिकाल उसका पूरा उच्छेद नहीं कर पाया है। हां, ह्रास तो पर्याप्त मात्रा में कर चुका है। तो कश्मीर के ब्राह्मण समाज में अभी तक कुछ एक ऐसे महानुभव अवश्य विद्यमान हैं, जो इस काश्मीर शैव दर्शन के पठन–पाठन की और इसकी साधना के अभ्यास की परम्परा को पुनः अच्छी प्रकार से चालू करा सकतें हैं, यदि उन्हें कहीं से प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। शिव की इच्छा होगी तो सब कुछ होगा ही। शैव शास्त्र के प्रचार–प्रसार आदि का अधिकार तो शिव के अपने ही हाथ में है। इस अधिकार को उन्हेंने किसी ऐसे–वैसे प्रतिनिधि को नहीं सौंपा है। अतः इस विषय में जैसी उनकी इच्छा हो, वैसे–वैसे ही यह कार्य चलेगा। चाहे थोड़ा चले या बहुत चले, चाहे मन्द गति से चले या तीव्र गति से चले, परन्तु चलेगा अवश्य ही। अस्तु।

सुकुमारधियां शैवं शास्त्रं विज्ञातुमिच्छताम्
शिवनाथानुरक्तानां प्रबोधाय, तथात्मनः।।
समाह्लादाय, साम्बस्य शिवस्य परितुष्टये।
कश्मीरमण्डलान्तःस्थे कुलग्रामे निजे गृहे।।
सागराक्षिवियन्नेत्रे वैक्रमे वत्सरे शुभे।
माघमासे सिते पक्षे हिमाच्छादितभूतले।।
हसन्तीं सेवमानेन मन्दां कम्बलसंवृताम्।
बलजिन्नाथ–विदुषा शास्त्रमेतद्विनिर्मितम्।।

।।इति शिवम्।।

आधार ग्रन्थ सूची
(क भाग–शैव शास्त्र ग्रन्थः)

ग्रन्थ	ग्रन्थ लेखक	प्रकाशक
१. अनुत्तराष्टिका (अनु.क.)	अभिनवगुप्त	डॉ.पाण्डेय के Abhinavagupta में प्रकाशित–
२. अनुभवनिवेदनस्तोत्र (अ.नि.)	अभिनवगुप्त	चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १६३५ ।
३. आत्म–विलास (हिन्दी टीका सहित) (आ.वि.)	अमृत वाग्भवाचार्य	मातृभाषा प्रचार ग्रन्थमाला अमृतसर,,१६३६
४. ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा (वृत्तिसहित) (ई.प्र.वृ.)	उत्पलदेव	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६२१
५. ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी (ई.प्र.वि.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६१६,२१
६. ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–विवृति–विमर्शिनी (ई.प्र.वि.वि.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६३८–४१
७. चित्त सन्तोष–त्रिंशिका (चि.सं.त्रि.)	शैवाचार्य नागार्जुन	शारदापीठ सीरीज.,श्रीनगर,१६६२
८. तन्त्र–सार (तं.सा.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली,श्रीनगर,१६१८
६. तन्त्रालोक (जयरथकृत टीका–सहित) (तं.आ.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६१८–३८
१०. नेत्र–तन्त्र (ने.तं.)	आगम	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६२६–३०
११. परमार्चन–त्रिंशिका (प.त्रि.)	शैवाचार्य नागार्जुन	शारदापीठ सीरीज़, श्रीनगर १६६२
१२. परमार्थ–चर्चा (प.च.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६४१
१३.परमार्थ–सार (योगराजकृत) टीका सहित) (प.सा.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६१६
१४.परात्रिंशिका कृत विवरण सहित) (प.त्रि.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १६१७

१५.प्रत्यभिज्ञाहृदय (प्र.ह.)	क्षेमराज	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११
१६. बोधपञ्चदशिका (बो.पं.द.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४७
१७. भास्करी (भा.)	भास्करकण्ठ	सरस्वती भवन टेक्स्ट नं.७०, ८६, लखनऊ, १९३८–५०
१८. महार्थमञ्जरी (म.मं.)	महेश्वरानन्द	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८
१९. मातृकाचक्रविवेक (मा.च.वि)	स्वतन्त्रानन्दनाथ	चौखम्बा सीरीज़, वाराणसी (संरस्वती भवन), १९३४
२०. मालिनी–विजय–तन्त्र (मा.वि.तं.)	आगम शास्त्र	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२२
२१. मालिनी–विजय–वार्तिक (मा.वि.वा.)	अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१
२२. विज्ञान–भैरव (शिवोपा–ध्यायकृत टीका सहित) (वि.भै.)	आगम शास्त्र	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८
२३. शिव–जीव–दशक (शि.जी.द.)	साहिब–कौल	अमुद्रित
२४. शिव–दृष्टि (उत्पलदेवकृत वृत्ति सहित) (शि.दृ.वृ.)	सोमानन्द	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९३४
२५. शिव–सूत्र (वृत्ति सहित) (शि.सू.)	आगम शास्त्र	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६
२६. शिवसूत्र–वार्तिक (शि.सू.वा)	भट्ट–भास्कर	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६
२७. शिव–सूत्र–वार्तिक (शि.सू.वा.)	वरद–राज	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५
२८. शिव–सूत्र–विमर्शिनी (शि.सू.वि.)	क्षेमराज	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११
२९. शिवस्तोत्रावलि (क्षेमराजकृता टीका सहित) (शि.स्तो.)	उत्पलदेव	चौखम्बा सीरीज,वाराणसी, १९२१

३०.सिद्धित्रयी (सि.त्र.)	उत्पलदेव	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१
३१.स्तव–चिन्तामणि (स्त.चि.)	भट्ट नारायण	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८
३२.स्पन्द–कारिका (वृत्ति सहित) (स्पं.का.)	भट्ट कल्लट	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६
३३.स्पन्द–निर्णय (स्पं.नि.)	क्षेमराज	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२४
३४.स्पन्द प्रदीपिका (स्पं.प्र.)	उत्पल–वैष्णव	E.J.Lazarus & Co., वाराणसी, १९६८
३५.स्पन्द–विवृति (स्पं.विं.)	रामकण्ठ	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१३
३६.स्पन्द सन्दोह (स्पं.सं.)	क्षेमराज	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१७
३७.स्वच्छन्द–तन्त्र (क्षेमराजकृत टीका सहित) (स्व.तं.)	आगम शास्त्र	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४१–२७

(ख भाग–अन्य–शास्त्र–ग्रन्थ)

१. अपरोक्षानुभूति (अ.अनु.)	आ०शङ्कर	वेङ्केश्वर प्रेस, बम्बई, १९३७
२. इण्डियन फिलोसाफी	डॉ०राधाकृष्णन	जार्ज अल्लन०,लन्दन, १९४६
३. उपनिषद् (ईशादि २८)	निगम–शास्त्र	निर्णय सागर,बम्बई, १९०४
४. ऋग्वेद (ऋ.वे.)	निगम–शास्त्र	पारडी का स्वाध्यायमण्डल संस्करण, १९४२
५. गौडपाद–कारिका माण्डूक्य–कारिका (गौ.पा.का.)	गौडपाद	चौखम्बा संस्करण, वाराणसी, १९१०
६. न्यायसूत्र (वात्स्यायनभाष्य सहित) (न्या.सू.)	अक्षपाद	चौखम्बा संस्करण, वाराणसी, १९७०
७. न्याय–मञ्जरी (न्या.मं.)	जयन्तभट्ट	चौखम्बा संस्करण, वाराणसी, १९३६

८. पञ्चदशी (प.द.)	माधवाचार्य	निर्णय सागर, बम्बई, १९२७
९. परमार्थसार (प.सा.)	पतञ्जलि	अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९३२
१०. ब्रह्मसूत्र (शाङ्कर–भाष्य सहित) (ब्र.सू.शां.भा.)	बादरायण	निर्णय सागर, बम्बई, १९२७
११. मध्यान्त–विभाग–सूत्र (वसुबन्धुकृतटीका सहित) (म.वि.सू.)	मैत्रेय / असङ्ग	जयसवाल इंस्टीच्यूट,पटना ,१९६७
१२. महायान–विंशक (म.वि.)	नागार्जुन	वाराणसी, १९३१
१३. माध्यमिक शास्त्र (प्रसन्नपदाटीका सहित) (मा.शा.)	कस्यापि	पी.एल. वैद्य का दर्भङ्गा प्रकाशन, १९५६
१४. मोहेंजोदारो ऐण्ड इण्डस वेली सिविलिजेशन	जोन मार्शल	लन्दन संस्करण, १९३१
१५. योगसूत्र (व्यासभाष्य सहित) (यो.सू.)	पतञ्जलि	चौखम्बा संस्करण, वाराणसी, १९३५
१६. शैवमत (शै.म.)	यदुवंशी झा	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५५
१७. सर्वदर्शन संग्रह (स.द.सं.)	माधवाचार्य	आनन्दाश्रम प्रेस, पुना, १९०६
१८. सांख्यकारिका (तत्त्वकौमुदी सहित) (सां.का.)	ईश्वरकृष्ण	कलकत्ता संस्करण, १९०४
१९. सौन्दरानन्द (सौं.नं.)	अश्वघोष	
२०. सौन्दर्यलहरी (सौं.ल.)	शङ्कराचार्य	लोकसेवक प्रेस, बम्बई, १९३१

पारिभाषिक शब्दकोश

अकल	शिव तत्त्व में या शक्ति में रहने वाले अभेदभाव पर ठहरे हुए प्राणी। इनको एकमात्र असीम और परिपूर्ण संवित्स्वरूप अपने आप, अर्थात् "अहं" का ही अवभास होता रहता है।
अक्रम	स्वरूप साक्षात्कार की क्रमरहित अभिव्यक्ति। ऐसी अभिव्यक्ति ज्ञान योग के अभ्यास से होती है। शाक्त योग।
अघोर	भगवान् शिव के पांच स्वरूपों में से पांचवां स्वरूप।
अघोर शक्तियां	संसार के जीवों को मोक्षमार्ग के प्रति प्रेरणा देने वाली परमेश्वर की शक्तियां।
अघोरेश	शुद्धविद्या तत्त्व के निचले स्तर पर उतरा हुआ ईश्वर भट्टारक का अवतार। माया आदि अशुद्ध तत्त्वों की सृष्टि करने वाला भगवान् अनन्तनाथ।
अणु	परमाणु।
अणु	जीव। मायीय प्रमाता।
अध्वा	आणवोपाय की साधना का बाह्य–मार्ग।
अध्वा (अशुद्ध)	माया से लेकर पृथ्वी तक के सभी तत्त्व और उनमें ठहरे हुए भुवन, जीव और भुवनेश्वर।
अध्वा (शुद्ध)	शिव तत्त्व से लेकर विद्या तत्त्व तक के तत्त्व और उनमें ठहरने वाले प्राणी और तत्त्वेश्वर।
अध्वा (षट्)	वर्ण, मन्त्र, पद और कला, तत्त्व, भुवन ये छः पदार्थ। आणव योग की स्थानकल्पना नाम की बाह्य धारणा के छः आलम्बन।
अनन्तनाथ	विद्येश्वर प्राणियों के उपास्य देवाधिदेव। अघोरेश।
अनुग्रह कृत्य	प्राणियों को स्वरूप साक्षात्कार के प्रति परमेश्वर द्वारा की जाने वाली अन्तः प्रेरणा की लीला।
अनुपाय	किसी भी प्रकार के अभ्यास के बिना ही होने वाले स्वरूप साक्षात्कार का प्रकार।
अपरोक्ष	अविकल्प आत्म–साक्षात्कार।
अपवर्ग	आत्मा की प्रवृत्तिशून्यता से होने वाली प्रशान्त

	अवस्था। न्याय वैशेषिक शास्त्रों में मानी हुई मुक्ति की दशा।
अपवेद्य सुषुप्ति	शून्य सुषुप्ति। ऐसी सुषुप्ति जिसमें कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म भी विषय–आभास नहीं होता है।
अपोहन	बुद्धि की कल्पना के द्वारा किसी एक वस्तु–विशेष का अन्य वस्तुओं से व्यवच्छेद करना। इसे अतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं।
अपोहन शक्ति	अपने अभिन्न परिपूर्ण और अपरिमित स्वरूप के भीतर विच्छन्नता का अवभासन करने के प्रति परमेश्वर में रहने वाली स्वाभाविक उन्मुखता।
अम्बा	पारमेश्वरी परा शक्ति
अविकल्प ज्ञान (पारमार्थिक)	ऐसा स्वप्रकाश आभास, जिसमें मन कुछ सोच नहीं सकता और जिसके विषय में बुद्धि किसी भी प्रकार की नामरूप कल्पना नहीं कर पाती। यह अपरोक्ष साक्षात्कार होता है।
अविकल्प ज्ञान (व्यावहारिक)	विषय की अनुभूति के प्रथम क्षण में होने वाला विशेष नामरूप की कल्पना से रहित अनिश्चित सा आभास। निर्विकल्प ज्ञान। स्वलक्षण ज्ञान। विषय–साक्षात्कार।
अविद्या	वेदान्त में माना हुआ अनादि और अनिर्वचनीय अज्ञान।
अशुद्ध विकल्प	बुद्धि की नामरूप कल्पना के द्वारा होने वाला अयथार्थ ज्ञान। अपने आप को शरीर आदि ही और अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति समझना और प्रमेयजगत् को अपने से भिन्न और जड़ समझना।
अशुद्ध विद्या	पशु प्रमाता (जीव) की अल्पज्ञता रूपिणी शक्ति ।
आगम (अमुख्य)	ईश्वर प्रोक्त पुस्तकरूप शास्त्र।
आगम (मुख्य)	अपरोक्ष आत्मा–साक्षात्कार।
आगम (त्रिक)	(१) नामक तन्त्र, सिद्धा तन्त्र और मालिनी तन्त्र। (२) स्वच्छन्द, विज्ञान भैरव, त्रीशिका, शिवसूत्र आदि।

आगम (शैव)	ईशान, तत्पुरूष आदि पांच मंत्रों के द्वारा या भैरवों, रूद्रों, शिवों आदि के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र।
आणव–उपाय	प्रमेय पदार्थों पर ठहराई हुई शिवभाव की भावना के योग का अभ्यास। इसे आणवयोग, क्रिया योग, क्रियोपाय और भेदोपाय भी कहते हैं।
आणवमल (१)	अपने आप में कर्तृत्व के अभिमान के होते हुए भी अप्रकाश रूप जड़ात्मक शून्य, प्राण, बुद्धि और शरीर को ही अपना आप समझना। प्रकाशरूपता की हानि।
आणवमल (२)	अपने आप को स्वातन्त्र्य शक्ति से शून्य, निष्क्रिय प्रकाश मात्र ही समझना। क्रिया स्वातन्त्र्य की हानि।
आणव–योग	आणव–उपाय।
आणव–समावेश	आणव–उपाय के अभ्यास से हाने वाला शिवभाव का समावेश।
आनन्द–उपाय	अनुपाय योग।
आनन्द योग	अनुपाय योग।
आनन्द शक्ति	परमेश्वर के स्वाभाविक परिपूर्ण और अपरिमित आनन्द के चमत्कार का स्पन्दन। शिव तत्त्व में अभिव्यक्त होने वाली पारमेश्वरी शक्ति।
आभास	अभिव्यक्ति। प्रकट हो जाना।
आभासवाद (१)	वह दार्शनिकवाद जिसके अनुसार केवल आभास मानना ही संसार का सार है; प्रत्येक वस्तु आभास मात्र ही है, और कुछ भी नहीं ; जो कुछ है आभास–रूप ही है; अनाभास कोई भी वस्तु नहीं।
आभासवाद (२) (बौद्धों का)	वह वाद जिसके अनुसार सारा संसार विज्ञान की वासनाओंका आभासमान आकारमात्र ही है।
आभासवाद (३) (वेदान्त का)	वह वाद जिसके अनुसार अनादि अविद्या ही के कारण ईश्वर, जीव और जगत् का आभासमात्र ही होता है और वस्तुतः ये तीनों ही वन्ध्यापुत्र की तरह हैं ही नहीं।

आरम्भवाद	वह दार्शनिक मत जिसके अनुसार परमाणुओं से अविद्यमान जगत् का निर्माण किया जाता है। न्याय–वैशेषिक मत।
आलयविज्ञान (बौ०)	"अहं" अर्थात् मैं, इस प्रकार के क्षणिक आभासों की परम्परा जिसे भ्रम के कारण जीव कहा जाता है
आवेश	समावेश। अपने जीवभाव को अपने शिवभाव के भीतर डुबों देने से शिवभाव का ही अभिव्यक्त हो जाना।
इच्छा–उपाय	शाम्भव–उपाय। इच्छा योग।
इच्छा–योग	शाम्भव–उपाय।
इच्छा–शक्ति	परमेश्वर के भीतर रहने वाली उसकी विवध पारमेश्वरी शक्तियों को अभिव्यक्त करने के प्रति प्रवुत्त हुई उसकी स्वाभाविक उन्मुखता या उमङ्ग। शक्तितत्त्व में अभिव्यक्त होने वाली पारमेश्वरीशक्ति। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के अन्तर्मुख सामरस्य की अवस्था
ईशान	भगवान् शिव के मन्त्रात्मक पांच स्वरूपों में से पहला स्वरूप।
ईश्वर	भगवान्। अपनी इच्छा के अनुसार जान सकने और कर सकने वाला।
ईश्वर तत्त्व	भेदाभेद भूमिका का वह तत्त्व जिसमें ठहरे हुए प्राणियों को भेद के भीतर अभेद का आभास होता रहता है। उन्हें "इदम् अहम्" अर्थात् "यह प्रमेय पदार्थ मैं हूं", ऐसी प्रतीति हुआ करती है।
ईश्वर भट्टारक	ईश्वर तत्त्व पर शासन करने वाले तथा मन्त्रेश्वर प्राणियों के उपास्य देवाधिदेव तत्त्वेश्वर।
उच्चार	प्राण, अपान आदि पांच भूमिकाओं में प्राणशक्ति के उद्गम को आलम्बन बनाकर की जाने वाली आणव उपाय की एक विशिष्ट धारणा। इसी के अभ्यास से आनन्द की भिन्न–भिन्न भूमिकाओं की अनुभूति हो जाती है।
उच्छलत्ता	आनन्दघन परमेश्वर की वह छलकन–सी विशेषता

	जिसकी महिमा से मानों छलकी हुई आनन्द की छींटों के द्वारा अनन्त प्रकार की सृष्टि–संहार आदि पारमेश्वरी क्रियाओं की अभिव्यक्ति हो जाती है।
उन्मेष	इच्छाशक्ति का बहिर्मुख स्पन्दन। क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति का आरम्भ। ईश्वर दशा
उमापतिनाथ	प्रकृति तत्त्व में उतरे हुए ईश्वर भट्टारक का एक अवतार शरीर। इतिहास और पुराण में प्रसिद्ध कैलासवासी शिव। स्वच्छन्दनाथ भी इनके ही एक रूप को कहते हैं।
औन्मुख्य	आनन्द के अतिशय की महिमा से जगत् सृष्टि के प्रति होने वाला परमेश्वर का झुकाव। इच्छाशक्ति का उदीयमान आकार।
कञ्चुक तत्त्व	शुद्ध संवित् को ढांपने वाले और इस तरह से उसके स्वभाव को छिपा देने वाले तत्त्व। परमेश्वर को जीव रूप में प्रकट करने वाले तत्त्व। ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति में संकोच लाने वाले कला, अशुद्ध विद्या, राग, नियति और काल नाम के पांच तत्त्व। माया छठा कञ्चुक तत्त्व होता है।
कला–अध्वा	छत्तीस तत्त्वों के पांच सूक्ष्म रूप। कलाएं (१) शान्त्यतीता, (२) शन्ता, (३) विद्या, (४) प्रतिष्ठा और (५) निवृत्ति होता हैं।
कला तत्त्व	जीव की थोड़ा बहुत ही करने की शक्ति। उसकी क्रिया शक्ति का संकोचक तत्त्व।
करण (१)	ज्ञान और क्रिया के साधन, अन्तःकरण और बाह्यकरण।
करण (२)	देह धारणा का आणव उपाय।
कारण पञ्चक	परमशिव के सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह नामक पांच पारमेश्वरी कृत्यों को चलाने वाले उसके पांच प्रतिनिधि–ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, ईश्वर और सदाशिव। एक–एक ब्रह्माण्ड में पृथक्–पृथक्

	कारण पञ्चक काम करते हैं।
कार्ममल	(१) विश्व–कर्ता वस्तुतः शिव ही होता है। पर जीव को मिथ्या अभिमान होता है कि मैं ही कर्ता हूं। यह अभिमान उसका कार्ममल बनकर उसे कर्मों के लिए उत्तरदायी बनाता है। (२) जीव की कर्मवासना जो उसे कर्मफल भोग के लिए संसृति के चक्कर में घुमाती है।
काल–अध्वा	स्थानकल्पना नामक आणव उपाय की धारण के वर्ण, मन्त्र और पद रूपी तीन आलम्बन।
काल–तत्त्व	क्रमरूपता की कल्पना के आधार पर ठहरी हुई भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि भावों की कल्पना का पक्का संस्कार जो पशु प्रमाता का नैसर्गिक स्वभाव सा बनकर उसके स्वरूप को ही संकुचित सा बना डालता है।
काल शक्ति	परमेश्वर की वह शक्ति जिसकी अभिव्यक्ति कालिक संकोच के रूप में प्रकट होती हुई क्रमरूपता को प्रकट करती है।
काली (द्वादश)	परमेश्वर की बारह शक्तियाँ जिनके द्वारा वह इस प्रपञ्च को भिन्न–भिन्न भूमिकाओं और भिन्न–भिन्न कृत्यों में धारण करता रहता है।
कुलाचार	कौल सम्प्रदाय का आचार। इसमें चक्रयाग करते हुए चर्या का प्रयोग किया जाता है।
कैवल्य	प्रकृति के प्रपञ्च से छूटकर पुरुष की सर्वथा अकेलेपन की अवस्था। सांख्य–योग शास्त्रों की मुक्ति–दशा।
कौलाचार	कुलाचार।
क्रम	क्रियायोग के अभ्यास से होने वाला स्वरूप–साक्षात्कार का प्रकार। आणव–समावेश।
क्रिया योग	आणव–उपाय।
क्लेष (यो०)	अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।
गुण तत्त्व	प्रकृति तत्त्व की प्रक्षुब्ध अवस्था। इसी अवस्था से आगे महत्तत्वं की अभिव्यक्ति होती है।

गुण त्रय	सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण।
घोर शक्तियाँ	जीवों को सांसारिक आनन्द देने वाली और मुक्ति के मार्ग में रूकावट डालने वाली परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ।
घोरतरी शक्तियां	जीवों को संसार चक्र में नीचे ही नीचे धकेलने वाली परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ।
चर्या	रहस्यमयी तांत्रिक साधना, जिसमें एकमात्र वीर साधकों के ही द्वारा पांच मकारों का उपयोग किया जाता है। वीर मार्ग।
चित् शक्ति	अपरिमित, शुद्ध, परिपूर्ण और स्वतन्त्र संवित् जो परमशिव के रूप में चमकती रहती है।
चिदानन्द (१)	चित् शक्ति और उसके नैसर्गिक स्वभावभूत आनन्द का सामरस्य। यह परमेश्वर का स्वरूप होता है।
चिदानन्द (२)	उच्चार योग में अभिव्यक्त होने वाली आनन्द की छठी भूमिका। इस आनन्द की अभिव्यक्ति उपाधिहीन शुद्ध चेतना में अवस्थित व्यान नामक प्राण को विश्रान्ति का आलम्बन बनाने से होती है।
जगदानन्द	आनन्द की छः भूमिकाओं से परे जिस सर्वथा अपरिमित आनन्द की अनुभूति उच्चार योग में होती है। यह आनन्द सर्वथा अवच्छेदरहित और अपरिमित होता है। इसी आनन्द की अनुभूति में अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता का साक्षात्कार हो जाता है।
जाग्रत् अवस्था	वह अवस्था जिसमें प्राणी स्थूल शरीरों के द्वारा बाह्य इन्द्रियों से स्थूल विषयों के साथ व्यवहार करते है।
जाग्रत् सृष्टि	स्थूल सृष्टि, जो सभी प्राणियों के लिए साधारणतया प्रमेय बनती है।
जीव	शून्य को, या प्राण को, या बुद्धि को, या स्थूल शरीर को ही अपना आप समझने वाले सकल कोटि के प्राणी।
जीवन्मुक्त (१)	समस्त विश्व के व्यवहार को अपनी ही शक्ति की

	अभिव्यक्ति की लीला समझने वाला और सांसारिक व्यवहारों से विशेष प्रभावित न होने वाला निश्चिन्त प्राणी। स्थित प्रज्ञ प्राणी। शरीर में ठहरता हुआ भी बन्धन से मुक्त रहने वाला प्राणी।
जीवन्मुक्त (२)	शरीर में रहते हुए ही सृष्टि, संहार आदि के विषय में अपनी परमेश्वरता का आंशिक आस्वाद लेने वाला ज्ञानी।
जीवन्मुक्ति	जीवन्मुक्त प्राणी की अवस्था। शरीर के रहते हुए ही मुक्ति के आस्वाद की दशा।
ज्ञान (१)	अवभाव।
ज्ञान (२)	वभास।
ज्ञान (पौरूष)	अपने जीवभाव के संस्कार को मिटा देने वाला और गुरूकृपा से दीक्षा के द्वारा उदित होने वाला अपने शिवभाव का साक्षात् अवभास।
ज्ञान (बौद्ध)	अपने स्वरूप और स्वभाव के विषय में बुद्धि के स्तर पर होने वाला शुद्ध विकल्पात्मक और निश्चयात्मक यथार्थ अवभास।
ज्ञान योग	शाक्त–उपाय।
ज्ञान शक्ति (पारमर्थिक)	सदाशिव भूमिका में प्रमेय जगत् का फीका सा आभास करने वाली परमेश्वर की एक अन्तरङ्ग शक्ति।
ज्ञान शक्ति (व्यावहारिक)	परमशिव की वह शक्ति जिसकी महिमा से उसके अभिन्न और एकाकार प्रकाश के भीतर कोई–कोई ही वस्तु ज्ञातृतया और कोई कोई ही वस्तु ज्ञेयता अव भासित होती रहती है। व्यावहारिक ज्ञातृज्ञयेभाव का आभास करने वाली पारमेश्वरी शक्ति।
ज्ञानोपाय	शाक्त–उपाय।
ज्येष्ठा	वाली परमेश्वर की शक्ति।
तत्त्व	(१) भिन्न–भिन्न पदार्थों में रहने वाला वह सामान्य स्वभाव जिसके कारण उन्हें एक वर्ग में गिना जाता है। (२) सांसारिक पदार्थों के भिन्न–भिन्न वर्ग।
तत्त्व (छत्तीस)	शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के समस्त पदार्थों के छत्तीस वर्ग।

तत्त्वाध्वा	देश–अध्वा नामक आणव उपाय की मध्यम धारणा का आलम्बन। इस धारणा में सभी तत्त्वों, सातों प्रमाताओं और उनकी शक्तियों को भावना के द्वारा व्याप्त करने का अभ्यास करना होता है। उससे परिपूर्ण भैरवभाव की अनुभूति का आस्वाद आता है।
तत्पुरुष	भगवान् शिव के पांच रूपों में से दूसरा रूप।
तन्मात्र	इन्द्रियों के सूक्ष्म और विभागरहित विषय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्र होते हैं।
तुर्यातीत	वह परम स्थिति जिसके भीतर तुर्या से जाग्रत् तक की चारों अवस्थाओं का उदय और लय हुआ करता है।
तुर्या दशा	वास्तविक आत्मसाक्षात्कार की आनन्दमयी दशा। विज्ञानाकल से आरम्भ होकर अलक प्राणी तक इसका उत्तरोत्तर विकास होता है।
तुर्या–सृष्टि	शुद्ध अध्वा की सृष्टि। इस सृष्टि के प्राणी प्रायः शुद्ध संवित्स्वरूप ही होते हैं।
त्रिक आगम	त्रिक आचार के प्रतिपादक सिद्धा, नामक मालिनी इत्यादि शास्त्र।
त्रिक आचार	सांसारिक व्यवहार को शास्त्रानुसार करते हुए ही शाम्भव आदि तीन उपायों में से किसी एक के अभ्यास के द्वारा अपने शिवभाव को पहचानने का आगमिक मार्ग। कश्मीर के शैवों में सबसे अधिक लोकप्रिय आचार।
त्रिक (अपर)	नर, शक्ति और शिव नाम के तीन तत्त्व।
त्रिक (पर)	प्रकाश, विमर्श और उनका सामरस्य।
त्रिक (परापर)	इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की तीन शक्तियाँ।
त्रिक शास्त्र	त्रिक आगमों पर आधारित साधना प्रधान तन्त्रालोक आदि शास्त्र।
दक्षिणाचार	विधि, निषेध, पूजा, तप, व्रत आदि साधनों पर ही अधिक जोर डालने वाली शैवी साधना का प्रकार।
दीक्षा	(१)ज्ञान का दान।(२)ज्ञान प्राप्ति के उपाय का उपदेश।(३) शिष्य के अन्तस्तल पर जमे हुए मलों को

धो डालने के प्रति गुरु द्वारा किया जाने वाला आध्यात्मिक प्रयत्न (४) यथार्थ ज्ञान का उपदेश।(५)विधिपूर्वक मन्त्रोपदेश करके किसी को बना देने का क्रियात्मक अनुष्ठान।

शिष्य

देश अध्वा — कला, तत्त्व और भुवन। आणव उपाय की बाह्य साधना के तीन आलम्बन।

देह प्रमाता — शरीर को ही आत्मा समझने वाले जाग्रत् सृष्टि के सकल प्राणी।

दोष (न्या०) — न्यायशास्त्र के अनुसार जीव को कर्मों में प्रवृत्त करने वाले मन के राग, द्वेष और नाम के भाव। इनके तीन वर्ग होते हैं–(१) राग, काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ। (२) द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह और अमर्ष। (३) मोह, मिथ्या ज्ञान, विचिकित्सा, मान और प्रमाद।

ध्यान योग — आणव–उपाय की सर्वोच्च धारणा। इसमें प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता को एकाकार संवित्–अग्नि के रूप में भावना करके समस्त ग्राह्य विषयों को उसी में समर्पण करके परिपूर्ण संवित्स्वरूपता की अभिव्यक्ति का अभ्यास करना होता है।

ध्वनि–योग — प्राणशक्ति के प्रभाव से शरीर के भीतर उठने वाले अनाहत नाद को आलम्बन बनाकर की जाने वाली आणव–उपाय की एक विशेष धारणा।

निग्रह कृत्य — पिधान कृत्य।

निजानन्द — जीवरूप अपने आप को आलम्बन बनाकर की जाने वाली आणव–उपाय की प्राणधारणा से अभिव्यक्त होने वाला प्रथम भूमिका का आनन्द।

निमेष — प्रमेयभाव को प्रमातृभाव के भीतर विलीन कर देने वाली स्पन्द की अन्तर्मुखी गति। सदाशिव दशा।

नियतितत्त्व — प्रकृति के नियमों का बन्धन जो जीव की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के क्षेत्रों को पर्याप्त मात्रा में संकुचित कर देता है।

नियतिशक्ति — नियति तत्त्व का आभास करने वाली पारमेश्वरी शक्ति।

निरानन्द	शून्यभाव पर प्राणशक्ति को विश्रान्त करने से अभिव्यक्त होने वाली दूसरी भूमिका का आनन्द।
निर्वाण	शून्यभाव में विलीन हो जाने की अवस्था। बौद्ध दर्शन की मुक्ति दशा। अपवेद्य सुषुप्ति की अवस्था। प्रलया कलभाव।
निर्विकल्प	अविकप्ल।
निर्वृतिशक्ति	आनन्दशक्ति।
पञ्चकारणे	ब्राह्य, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव। कारण पञ्चक।
पञ्चमन्त्र	सृष्टि। स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह।
पञ्चशक्ति	शिव की पांच अन्तरंग शक्तियाँ–चित्, निर्वृति (आनन्द), इच्छा, ज्ञान और क्रिया।
पति	विश्व को स्वशरीरवत् अपने से अभिन्न समझने वाले प्राणी। अभेद और भेदाभेद की भूमिका के प्राणी। मुक्त शिव।
परम–अद्वैत	वह दार्शनिक सिद्धान्त जिसके अनुसार द्वैत और अद्वैत, बन्धन और मुक्ति, जड़ और चेतन इत्यादि परस्पर विरूद्ध पदार्थ भी घट और कलश की तरह एक दूसरे के पर्याय हैं, परिपूर्ण हैं, अभिन्न हैं और चिदानन्द घन है।
परम–शिव	(१) वह परतत्त्व जिसकी शक्ति से जिसके भीतर जिसकी इच्छा के अनुसार छत्तीसों तत्त्वों आदि के उदय और लय होते रहते हैं, फिर भी जिसके शुद्ध, असीम और परिपूर्ण संवित्स्वरूप में कोई भी अन्तर कभी भी नहीं आता है।
परमेश्वर	वह सबसे बड़ा ईश्वर जिसकी असीम और परिपूर्ण ईश्वरता में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं और जिसके द्वारा दी हुई ईश्वरता की बूँदों से ही सदाशिव आदि ईश्वर बन बैठे हैं।
पर शिव	परमशिव।
पराद्वैत	परमाद्वैत।

परानन्द	उच्चार योग में प्राण और अपान पर विश्रान्त होने के अभ्यास से अभिव्यक्त होने वाला तीसरी भूमिका का आनन्द।
परिणाम	एक वस्तु का दूसरी वस्तु में परिवर्तित हो जाना।
पशु	अविद्या आदि क्लेशों से घिरा हुआ कर्मसंस्कार, कर्मफल आदि से कलुषित और माया के प्रभाव से प्रमेय जगत् को अपने से भिन्न समझने वाला प्राणी।
पिधान कृत्य	परमशिव की परमेश्वरता का वह विलास जिसके प्रभाव से जीव अपने वास्तविक स्वरूप को और शिवत्व स्वभाव को भूल जाता है। इसे निग्रह कृत्य भी कहते हैं।
पुंस्तत्त्व	पुरुष–तत्त्व। मायीय सकल प्राणी। पशु प्रमाता। जीव तत्त्व।
पुरुषतत्त्व	पुंस्तत्त्व।
पौरुष अज्ञान	जीव के अन्तस्तल में बैठा हुआ जीवभाव का पक्का संस्कार। मलरूप अज्ञान।
पौरुष ज्ञान	अपने पशुभाव के संस्कार के मिट जाने पर अपने विषय में परिपूर्ण शिवभाव की अभिव्यक्ति जो गुरु के अनुग्रह से ही होती है।
प्रकाश	चेतना का वह स्वभाव जिससे चेतन पदार्थ स्वयं अपनी ही महिमा से आभासमान होता रहता है।
प्रकृति	किसी वस्तु का मूल स्वरूप।
प्रकृतितत्त्व	तेरह करण तत्त्वों और दस प्रमेय तत्त्वों का सामान्य एकाकार मूल स्वरूप। तीन गुणों के साम्य की अवस्था। मूल प्रकृति।
प्रत्यभिज्ञा	उलटा अपने ही आप को पहचानना। भूल डाले हुए अपने शिवभाव को पुनः पहचान लेना।
प्रत्यवमर्श	उलटा अपने ही आप के विषय में किया जाने वाला विमर्श।
प्रधान तत्त्व	मूल प्रकृति तत्त्व।
प्रमा	प्रमाण का फल। यथार्थ ज्ञान। वस्तु के स्वरूप और

	स्वभाव के विषय में यथार्थ विमर्श।
प्रमाण	वस्तु के स्वरूप और स्वभाव को सिद्ध करने वाला अभिनव आभास।
प्रमाता	प्रमाओं के उत्पादन, संयोजन, वियोजन आदि के करने में स्वतन्त्र प्राणी। ज्ञाता।
प्रमेय	प्रमाण के द्वारा ठीक तरह से ज्ञात होने वाला पदार्थ प्रमाण का विषय।
प्रलय	संहार की वह भूमिका जिसमें सारा ही प्रपञ्च माया में विलीन हो जाता है।
प्रलय (अवान्तर)	संहार की वह भूमिका जिसमें कार्य तत्त्व और करण तत्त्व मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं।
प्रलय (महा)	संहार की वह भूमिका जिसमें सदाशिवतत्त्व तक के प्रपञ्च का शक्ति में और शक्ति का शिव में लय हो जाता है।
प्रलयकेवली	प्रलयाकल प्राणी।
प्रलयाकल	सुषुप्ति की दशा में या शून्य पर, या प्राण पर, या शुद्ध बुद्धि पर विश्राम लेता हुआ शान्त प्राणी।
प्रवृत्ति विज्ञान (बौ०)	आन्तर तथा बाह्य विषयों के आकार में बुद्धि का परिणाम। विषय–आभास।
प्राण (१)	जीवन शक्ति। प्राण अपान आदि इसी के पांच प्रकार होते हैं।
प्राण (२)	शरीर से बाहिर आने वाला प्रश्वास।
प्राणप्रमाता	प्राणशक्ति को ही अपना आप समझने वाला सवेद्य सुषुप्ति का आश्रय लेता हुआ प्राणी।
प्राण सुषुप्ति	वह सवेद्य सुषुप्ति जिसमें शरीर के हलकेपन या भारीपन आदि का धीमा सा आभास होता ही रहता हैं
बन्धन	ज्ञान संकोच। अपने आप के विषय में परिमितता, भिन्नता, जड़ता, पराधीनता, अनीश्वरता आदि का अभिमान।
बोध	प्रकाश। चेतना का अपना अवभास।
बौद्ध अज्ञान	बुद्धि के स्तर पर अशुद्ध विकल्पों द्वारा अपने आप का

	अपारमार्थिक और अयथार्थ ज्ञान। अपनी पशुता का बौद्ध निश्चय।
बौद्ध ज्ञान	शुद्ध विकल्प ज्ञान के द्वारा अपने आप को निश्चयपूर्वक परिपूर्ण परमेश्वर ही समझना।
ब्रह्म (वेदान्त में)	ऐश्वर्यहीन शुद्ध और अपरिमित प्रकाश। क्रिया से शून्य अपरिमित ज्ञान।
ब्रह्म (शैव में)	स्वभावभूत अपरिमित और स्वतन्त्र क्रिया के द्वारा सृष्टि में वृद्धि करने वाला शुद्ध, असीम और परिपूर्ण परमेश्वर रूप प्रकाश। परमशिव तत्त्व।
ब्रह्म निर्वाण	क्रिया शून्य शुद्ध प्रकाश तत्त्व को अपना आप समझते हुए, उसी पर विश्रान्त होकर रहना। विज्ञानाकल दशा।
ब्रह्मानन्द	अनन्त प्रमेयों के एकाकार संघट्ट रूपी समान–भूमिका पर विश्रान्ति के अभ्यास से अभिव्यक्त होने वाला चौथी भूमिका का आनन्द।
भक्ति (अपरा)	शिवभाव में समाविष्ट हो जाने की तीव्रतर इच्छा और तदनुसार उपासना।
भक्ति (परा)	क्षण–क्षण में शिवभाव में समाविष्ट होते रहना और सतत गति से अपनी शिवता के आनन्द का आस्वाद लेते रहना।
भावना	अपने आप को तथा सभी प्रमेय पदार्थों को सुदृढ़ विकल्प ज्ञान के द्वारा परिपूर्ण शिवरूप ही समझने का अभ्यास। ज्ञान योग। शाक्त–उपाय।
भुवन	स्थानकल्पना की षडध्व धारणा में आलम्बन बनने वाले एक सौ अठारह लोक।
भुवन–अध्वा	देश–अध्वा की तीसरी धारणा का आलम्बन। एक सौ अठारह भुवन।
भैरव (अपर)	समस्त विश्व को अभेददृष्टि से देखते हुए दिव्यातिदिव्य संविदात्मक शरीरों को धारण किए हुए सिद्ध।
भैरव–आगम	अभेदप्रधान चौंसठ शैव आगम।

भैरव (पर)	पूर्ण परमशिव।
भैरव (शास्त्र प्रवक्ता)	चौंसठ अभेदप्रधान आगमों का उपदेश करने वाले अभेदभाव पर ठहरे हुए मुक्त शिव।
मकार	चर्या क्रम में उपयोग में आने वाले मांस, मत्स्य, मदिरा, मैथुन और मुद्रा नामक पांच पदार्थ।
मठिका	शैव दर्शन के सम्प्रदायों की चार परम्पराएं।
मताचार	शैवी साधना का एक सुविशाल दृष्टि रखने वाला आचार।
मन्त्र	मनन और त्राण करने वाले वर्ण समुदाय।
मन्त्र (पांच)	ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर।
मन्त्र प्राणी	अपने स्वरूप के विषय में विपर्यासरहित होते हुए भी प्रमेय जगत् को भेददृष्टि से ही देखने वाले प्राणी। विद्येश्वर प्राणी।
मन्त्रमहेश्वर	अपने शुद्ध प्रकाश के भीतर प्रमेय अंश की धीमी सी छाया को धारण करने वाले भेदाभेदनिष्ठ प्राणी। सदाशिव तत्त्व के प्रमाता।
मन्त्रेश्वर	स्फुटतया आभासमान प्रमेय की छाया से उपरोक्त शुद्ध प्रकाशात्मक प्रमाता। भेदाभेदनिष्ठ ईश्वर तत्त्व के प्राणी।
महानन्द	सभी प्रमाणों और प्रमेयों को ग्रास करने वाले उदान रूप अग्नि पर विश्रान्त होने के अभ्यास से अभिव्यक्त होने वाला पांचवीं भूमिका का आनन्द।
महामाया (अपरा)	शुद्ध विद्या से नीचे और माया से ऊपर बीच में विद्यमान वह दशा जिसमें विज्ञानाकल ठहरते हैं। प्राणियों की वह दृष्टि जिससे अपना आप क्रियात्मक स्वातन्त्र्य के चमत्कार से रहित शुद्ध प्रकाशमात्र ही प्रतीत होता है।
महामाया (परा)	शुद्धविद्या का वह निचला स्तर जिसमें विद्येश्वर ठहरते हैं। अपने स्वरूप को शुद्ध संवित्स्वरूप समझते हुए भी, ग्राह्य जगत् को अपने से भिन्न रूप में देखने का विद्येश्वरों का दृष्टिकोण।

माया तत्त्व	संविद्रपूता को ढकने वाला वह आवरण तत्त्व जिसके प्रभाव से प्राणी शून्य आदि जड़ पदार्थों को ही अपना आप समझता है। जड़ सृष्टि का उपादान कारण बनने वाला पहला जड़ तत्त्व।
मायालम	प्राणी की भेदमयी दृष्टि। प्रमाता और प्रमेय में, एक प्रमाता और दूसरे प्रमाता में तथा एक प्रमेय और दूसरे प्रमेय में भेद को दिखाने वाली दृष्टि।
माया (वेदान्त में)	(१) संसार के मिथ्या आभास का वह अनादि कारण जो स्वयं भी मिथ्या ही है। (२) वह उपाधि जिसके संसर्ग से ब्रह्म ईश्वर जैसा प्रकट होता है।
मायाशक्ति	परमेश्वर की वह शक्ति जिसके स्पन्दन से अभेद के भीतर ही भेद का भी अवभास हो जाता है। माया तत्त्व के अवभास का मूल कारण बनी हुई शक्ति।
मायीय मल	माया मल।
मुक्त शिव	विद्येश्वर (मन्त्र), मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और अकल भूमिकाओं के प्राणी। शिव, रुद्र और भैरव नाम के प्राणी।
मुक्ति	अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता का पक्का अभिमान। निश्चयपूर्वक यह समझना कि मैं पूर्ण परमेश्वर हूं।
मुक्ति (अशरीर)	अपने परिपूर्ण शिवभाव की पहचान के अनन्तर दिव्य शरीर या मर्त्य शरीर को छोड़ देने पर परिपूर्ण परमशिवभाव में ही ठरहना। विदेह मुक्ति।
मुक्ति–आभास	प्रलयाकलों या विज्ञानाकलों की अवस्था को प्राप्त करके उसी अवस्था को मुक्ति समझने वाले प्राणियों की स्थिति।
मुक्ति–जीवन में	शरीर में ठहरते हुए ही और लोकव्यवहार को करते हुए ही विश्व को अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में ही समझते हुए लौकिक घटनाओं से प्रभावित नहीं होते रहने की दशा।
मुक्ति (विदेह)	अशरीर मुक्ति।
मोक्ष	मुक्ति।

योग	जीव का परमशिव के साथ एक हो जाना तथा वैसा हो जाने के लिए किया जाने वाला अभ्यास।
राग	अपने शरीर आदि और उसके अनुकूल पदार्थों को बहुत महत्त्वशाली समझते हुए उनमें रुचि रखना और उनके उच्छेद के विचार से ही घबराना।
रुद्र	संहार करने वाला देवाधिदेव।
रुद्र (अनेक)	पृथ्वी तत्त्व से लेकर कञ्चुक तत्त्वों तक के प्रपञ्च पर शासन करने वाले तथा उन–उन तत्त्वों का संहार करने वाले देवाधिदेव।
रुद्र (कालग्नि)	पृथ्वी तत्त्व के मूल में ठहरा हुआ और भू, भुवः, स्वः आदि भुवनों का संहार करने वाला रुद्र।
रुद्र प्रमाता	सभी मुक्तशिव।
रुद्र (शास्त्र प्रवक्ता)	अठारह भेदाभेदप्रधान शैव आगमों का उपदेश करने वाले मुक्तशिव।
रौद्र आगम	अठारह भेदाभेदप्रधान शैव आगम।
रौद्री	जीवों को सांसारिक सुख देने वाली और उन्हें संसार में ही टिकाए रखने वाली पारमेश्वरी शक्ति।
वर्ण (१)	अ से लेकर क्ष तक के पचास वर्ण।
वर्ण (२)	ध्वनि नाम का आणव योग का आलम्बन। अनाहत नाद।
वामदेव	शिव के पांच रूपों में से चौथा रूप।
वामा	संसार का वमन करने वाली शक्ति। जीवों को संसृति के समुद्र में नीचे–नीचे धकेलने वाली पारमेश्वरी शक्ति।
वासना	संस्कार। कर्मफलभोग के प्रति प्रेरणा करने वाली विषयोन्मुखता।
विक्लप	विषयों के विषय में बुद्धि के द्वारा की जाने वाली निश्चित नामरूप कल्पना।
विकल्प (अशुद्ध)	अपने आप के और जगत् के विषय में जीवभाव में होने वाला नामरूप कल्पना से युक्त अयथार्थ ज्ञान।
विकल्प ज्ञान	व्यावहारिक निश्चयात्मक ज्ञान।
विकल्प (शुद्ध)	वास्तविक और पारमार्थिक वस्तुस्थिति के अनुकूल

	निश्चयात्मक ज्ञान। अपने को परमेश्वर के और जगत् को अपनी लीला के रूप में निश्चयपूर्वक जान लेना।
विक्रम	इच्छा–योग के द्वारा सद्यः शिवभाव के साक्षात्कार का प्रकार।
विज्ञान	किसी सिद्धान्त का प्रयोग द्वारा साक्षात् अनुभव करना।
विज्ञान (बौ०)	चित्त का प्रकाश। चित्त के नए–नए क्षणिक उन्मेष। क्षणिक आभासों की परम्परा।
विज्ञानकेवल	विज्ञानाकल।
विज्ञानकेवली	विज्ञानाकल।
विज्ञानाकल	अपने आप को क्रियाशक्ति से रहित जड़तुल्य प्रकाश मात्र ही समझने वाला प्राणी।
विदेह मुक्ति	शरीर छोड़ देने के अनन्तर परिपूर्ण परमशिवभाव में स्थिति।
विद्या (१)	शुद्धविद्या तत्त्व।
विद्या (२)	विद्या भूमिका। सदाशिव, ईश्वर और विद्या तत्त्व।
विद्या (३)	जीव की अशुद्ध विद्या।
विद्या (अशुद्धा)	जीव की थोड़ा बहुत ही जानने की शक्ति ।
विद्या तत्त्व (१)	शुद्ध विद्या तत्त्व। भेदाभेद दृष्टि।
विद्या तत्त्व (२)	जीवभाव में ठहरते हुए ही उदित होने वाली वह दृष्टि जो प्राणी के वास्तविक शिवभाव को चमका देती है।
विद्या तत्त्व (३)	शुद्ध प्रमाता की भी भेद दृष्टि। विद्येश्वरों की महामाया।
विद्या भूमि	भेदाभेद की भूमिका। शुद्धविद्या से सदाशिव तत्त्व तक की भूमिका।
विद्या (वे०)	यथार्थ ज्ञान।
विद्या शक्ति	परमेश्वर की वह शक्ति जो शुद्धविद्या तत्त्व को अभिव्यक्त करती है।
विमर्श	प्रकाश की आत्म संवेदना या आत्मप्रतीति। प्रतीति awareness.
विवर्त्त	वस्तु का अपने से भिन्न रूप में प्रतीत होना। उलटी प्रतीति।
शक्ति (१)	सामर्थ्य। परमेश्वर की परमेश्वरता। उसका सृष्टिसंहार आदि करने का सामर्थ्य।

शक्ति (२)	परमेश्वर का स्पन्दात्मक स्वरूप। उसकी विश्वमयता का स्वरूप।
शक्ति तत्त्व	परमशिव का विमर्शप्रधान स्वरूप। अपने ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करने के प्रति उसकी उन्मुखता की भूमिका। इच्छाशक्ति के विकास की भूमिका।
शक्तिचक्र	द्वादश महाकाली देवियों का मण्डल।
शक्तिपञ्चक	चित्, निर्वृति (आनन्द), इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक परमेश्वर की अन्तरंग शक्तियां।
शक्तिपात	परमेश्वर के द्वारा की जाने वाली वह अनुग्रहात्मक अन्तःप्रेरणा, जिससे जीव को मोक्षमार्ग के प्रति प्रवृत्ति होती है।
शक्ति भूमिका	शिव तत्त्व और शक्ति की अभेद भूमिका।
शाक्त–उपाय	शुद्ध विकल्पात्मक भावनामय योग। अपने आप को कल्पना के द्वारा परिपूर्ण परमेश्वर रूप में जानने का बार–बार अभ्यास। ज्ञान योग।
शाक्त प्रमाता	शक्ति तत्त्व में ठहरा हुआ अकल प्राणी।
शाक्त–समावेश	शाक्तोपाय द्वारा होने वाला शिव भाव का समावेश।
शाम्भव उपाय	चित्त के विकल्पों के शमन का अभ्यास। विकल्पों के शान्त हो जाने पर अपने ही संवित्प्रकाश के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार अभ्यास करना। अपने वास्तविक स्वरूप में ठहरने का अभ्यास। निर्विकल्प योग। इच्छा योग। शाम्भव–योग।
शाम्भव प्रमाता	शिव तत्त्व में ठहरा हुआ अकल प्राणी।
शाम्भव–योग	शाम्भव–उपाय।
शाम्भव समावेश	शाम्भव–उपाय के द्वारा होने वाला समावेश।
शिव (१)	परमेश्वर।
शिव (२)	शुद्ध असीम और परिपूर्ण प्रकाश। परमेश्वर की प्रकाश प्रधान अवस्था।
शिव (३)	परमशिव का कूटस्थ और विश्वोत्तीर्ण स्वरूप।
शिव तत्त्व	परमशिव का प्रकाश प्रधान स्वरूप। समस्त विश्व का बीज। समस्त विश्व को विकास में लाने में समर्थ

	विश्वोत्तीर्ण तत्त्व।
शिव प्रमाता	प्रकाशप्रधान अकल प्रमाता।
शिव (शास्त्र प्रवक्ता)	भेदप्रधान दस शैव आगमो के उपदेशक।
शुद्ध अध्वा	शिव तत्त्व से लेकर शुद्धविद्या तत्त्व तक का सारा प्रपञ्च।
शुद्ध विकल्प	अपने आप और जगत् के विषय में यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान।
शुद्ध विद्या (अपरा)	विद्येश्वरों की शुद्ध विद्या जिसे महामाया भी कहा जाता है।
शुद्ध विद्या (परा)	मन्त्रेश्वरों ओर मन्त्रमहेश्वरों की भेदाभेददृष्टि।
शून्य प्रमाता	अपवेद्य सुषुप्ति के अहंभाव का आलम्बन। उस सुषुप्ति के शून्यभाव को ही अपना आप समझने वाला प्राणी।
शून्य (बौ०)	(१) प्रमाता, प्रमाण और प्रेम से रहित शुद्ध विज्ञानमात्र। (२) आलयविज्ञान धारा के उच्छेद की अवस्था।
शून्य (शै०)	संकोचयुक्त परन्तु प्रमेय के आभास से रहित–संवित् मात्र। पुरुष तत्त्व। देह आदि से उत्तीर्ण जड़ और संकुचित 'अहम्'।
शून्य सुषुप्ति	अपवेद्य सुषुप्ति।
शैव आगम	भगवान् शिव के द्वारा कहे हुए इस भेदप्रधान अठारह भेदाभेदप्रधान और चौंसठ अभेदप्रधान आगम।
शैव–दर्शन	शैव आगमों पर आधारित दर्शन शास्त्र।
शैव योग	आणव–उपाय, शाक्त उपाय और शाम्भव–उपायं
शैवी साधना	आणव आदि उपायों वाली योग साधना।
श्रीकण्ठनाथ	प्रकृति तत्त्व में अवतार रूप में उतरे हुए ईश्वर–भट्टारक। प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करने वाले और करण–कार्य तत्त्वों की सृष्टि करने वाले भागवान् शिव के और महामुनि श्रीदुर्वासा के गुरु। शैव शास्त्रों का प्रवर्तन करने वाले।
षडध्व	आणव उपाय की स्थान कल्पना नामक साधना में धारणा के आलम्बन बनने वाले वर्ण, मन्त्र, पद और कला, तत्त्व, भुवन नामक छः बाह्य पदार्थ।

संवित्	प्रकाश और विमर्श का परिपूर्ण सामरस्य।
संवेदन	इन्द्रियजन्य तथा अन्तःकरण जन्य ज्ञान।
संहार कृत्य	प्रमेय जगत् को उसके मूल कारण में पुनः समा लेने या समेट लेने की पारमेश्वरी लीला।
सत्कार्यवाद (शै०)	शैव दर्शन का वह सिद्धान्त जिसके अनुसार यह सारे का सारा संसार परमेश्वर के भीतर शुद्ध संवित् के रूप में सदैव विद्यमान ही रहता है और उसी के स्वतन्त्र इच्छा से सृष्टि के समय प्रतिबिम्ब के न्याय से संसार के रूप में भी प्रकट हो जाता है।
सत्कार्यवाद (सां०)	सांख्य दर्शन का वह सिद्धान्त जिसके अनुसार मूल प्रकृति के भीतर उसी के रूप में सारा संसार विद्यमान रहता है और मूल प्रकृति के स्वरूप परिवर्तन के द्वारा इस संसार के रूप में प्रकट हो जाता है।
सदाशिव तत्त्व	वस्तुस्थिति की वह भूमिका जिसमें संवित्स्वरूप प्राणियों को अपने प्रकाश के भीतर प्रमेयता का धीमा सा ही आभास होता है और वह भी अपना आप ही प्रतीत होता है। उन्हें "अहम् इदम्" अर्थात् 'मैं यह प्रमेय तत्त्व हूं', ऐसा संवेदन होता रहता है।
सदाशिव भट्टारक	सदाशिव तत्त्व पर शासन करने वाले वहां के उपास्य देवाधिदेव।
सद्योजात	शिव के पांच रूपों में से तीसरा रूप।
सद्विद्या	शुद्ध–विद्या।
समयाचार	अद्वैतवेदान्तियों का विधि, निषेध, शुद्धि, अशुद्धि आदि को प्रधानता देने वाला ब्राह्मणोचित आचार। इस आचार में चर्या का उपयोग केवल भावना ही के द्वारा किया जाता है, द्रव्यों का उपयोग नहीं किया जाता।
समावेश	अपने भीतर परमेश्वरोचित संविद्रूपता को प्रधानतया चमकाते हुए और जीवता को तथा शरीर आदि जड़ वस्तुओं को उसी में निमग्न करते हुए तद्रूपता में ठरने का अभ्यास।

सविकल्प ज्ञान	वह ज्ञान जिसमें बुद्धि वस्तु के विषय में विशेष नामरूप कल्पना के द्वारा उन्हीं के आकार में उसका निश्चय कर लेती है।
सादाख्य तत्त्व	सदाशिव तत्त्व। यहीं से लेकर आगे "सत्" ऐसा कहा जा सकता है, इससे पूर्व शक्ति भूमिका में नहीं।
सामरस्य	भिन्न वस्तुओं का इस तरह से एकाकार हो जाना जिस तरह से मोर के अण्डे के रस के भीतर उसके पंखों के सभी रंग एकाकार बने रहते हैं। सर्वथा अभेद की दशा।
सायुज्य	साधक की वह स्थिति जिसमें उसे परमेश्वर के साथ आंशिक अभेद की अनुभूति हुआ करती है। यह भेदाभेद की देशा होती है।
सारूप्य	साधक की वह स्थिति जिसमें उसका रूप उसके इष्टदेव का जैसा हो जाता है।
सालोक्य	साधक की उसके इष्टदेव के लोक में स्थिति।
साक्षात् उपाय	शाम्भव–उपाय।
साक्षात्कार (१)	इन्द्रियों द्वारा अनुभूति के प्रथम क्षण में होने वाला निर्विकल्प ज्ञान।
साक्षात्कार (२)	इन्द्रियों और अन्तःकरणों की सहायता के बिना ही स्वयमेव अपने से ही अपना साक्षात् (direct) ज्ञान होना।
सुषुप्ति (अपवेद्य)	गाढ़ निद्रा की वह दशा जिसमें प्रमेय–आभास का सर्वथा अभाव ही हो जाता है।
सुषुप्ति (सवेद्य)	सूक्ष्मतर प्रमेय के धीमे से आभास से युक्त सुषुप्ति।
सुषुप्ति (सामान्य)	स्वप्नरहित गाढ़ निद्रा
सृष्टि कृत्य	परमेश्वर के द्वारा अपने अभिन्न और अद्वैत प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्ब की तरह भेदमय प्रमेयतत्त्वों आदि का अवभास किया जाना।
सौषुप्त सुष्टि	वह सृष्टि जिसके भीतर प्रलयाकल प्राणी पड़े रहते हैं।

स्थानकल्पना	बाह्य वस्तुओं को आलम्बन बनाकर की जाने वाली आणव उपाय की धारणा।
स्थिति कृत्य	अपने भीतर प्रतिबिम्बवत् अवभासमान जगत् को ठहराए रखने और उसे कर्मफल नियम के अनुसार चलाते रहने की परमेश्वर की लीला।
स्पन्द	व्यावहारिक अशांति से रहित परमेश्वर के प्रशान्त प्रकाश में रहने वाली चेतना की हलचल जैसी वह कोई विशेषता जिससे जगत् के सृष्टि, संहार आदि का अवभासन होता रहता है। अचल परमेश्वर की चलता जैसी पारमेश्वरी क्रिया।
स्फुरत्ता	परमेश्वर की वह स्वभावभूत स्वातन्त्र्य की फड़कन जैसी विशेषता जिससे सृष्टि, संहार आदि का आभास होता रहता है। स्पन्द।
स्मृति शक्ति	परमेश्वर की वह शक्ति जिसकी महिमा से अभिन्न और एकाकार संविद्रूप परमेश्वर में कोई विशेष पदार्थ स्मरण करने वाला और कोई स्मरण किया जाने वाला आभासित होता रहता है।
स्वच्छन्दनाथ	कैलासवासी भगवान् शिव का पांच मुखों वाला एक विशिष्ट आकार। उसके पांच परमेश्वर की पांच अन्तरङ्ग शक्तियों के और सृष्टि आदि पांच पारमेश्वर कृत्यों के द्योतक होते हैं। स्वच्छन्दनाथ के ये पांच मुख ही ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अधोर नामक पांच मन्त्र शरीरों के रूप में प्रकट हुए हैं। श्री स्वच्छन्दनाथ श्री श्रीकण्ठनाथ के शिष्य हैं।
स्वप्नदशा	प्राणी की वह अवस्था जिसमें केवल सूक्ष्म शरीर ही काम करता है और स्थूल शरीर के विषय में अहन्ता का अभिमान विलीन होकर रहता है।
स्वप्न सृष्टि	वह सृष्टि जिसमें समस्त शरीर, भुवन और भाव सूक्ष्म ही होते हैं। वहां स्वप्नवत् व्यवहार चलता है। सभी देवादि लोक इसी सृष्टि के लोक होते हैं।

स्वलक्षण	नियत देश और नियत काल से अवच्छिन्न और सङ्कुचित तथा अपने ही स्वरूप में सीमित असम्बद्ध वस्तुमात्र। निर्विकल्प ज्ञान के क्षण में आभासमान वस्तुमात्र।
स्वसंवेदन	अन्तःकरणों और बाह्य–करणों की सहायता के बिना ही अपने ही आत्म–प्रकाश से होने वाला अपने आप का आभास। स्वप्रकाश संवित्ति।
क्षेत्रज्ञ	संसारी पशु प्राणी।

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ में काश्मीर शैवदर्शन के सभी मुख्य सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूपों को प्रकट किया गया है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए और प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए मूल संस्कृत ग्रंथों से उद्धरण ले लेकर पृष्ठों के नीचे टिप्पणी के रूप में दिए गये हैं। शैवदर्शन के सिद्धान्तों की तुलना भारत के अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के साथ की गई है। विशेष करके शैव–अद्वैत और अद्वैत–वेदान्त में विद्यमान पारस्परिक समानता और भिन्नता पर स्थान–स्थान पर प्रमाणों के आधार पर विचार किया गया है।

शैवी साधना के त्रिक सम्प्रदाय के उपासनाक्रम पर और काश्मीर शैव–दर्शन के उद्‌गम और विकास के इतिहास पर भी संक्षेप से प्रकाश डाला गया है।

ग्रन्थकार परिचय

ग्रन्थकार श्री बलजिन्नाथ पण्डित कश्मीर मण्डल में कुलगाम नामक स्थान के निवासी ब्राह्मण हैं। इन्होंने संस्कृत विद्या का अध्ययन श्री रघुनाथ महाविद्यालय, जम्मू में किया। शास्त्री और एम. ए. की उपाधियां पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से और पी. एच. डी. पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से लीं।

इस समय हिमाचल विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में अध्यापक का काम रहे हैं।

इन्हें शैवी दीक्षा श्री आत्मविलास आदि शास्त्रों के निर्माता महामहिम–आचार्य–श्रीमद् अमृतवाग्भव जी से प्राप्त हुई है। इनकी अन्य मृद्रित रचनाएं:–

(१) स्वातंत्र्य दर्पण–एक कारिकाबद्ध अभिनव शैवग्रंथ।

(२) महानुभव–शक्ति–स्तोत्र की टीका।

(३) श्री विंशतिका–शास्त्र की विमर्शिनी–टीका